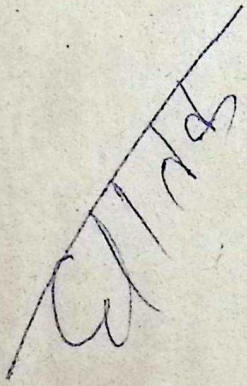

वेदान्त - ८४४

वेदान्त-६४४

मू० २००

श्रीमद्भगवद्गीता।

द्वितीय खण्ड।

मूलश्लोक, संस्कृत अन्वय, हिन्दी भाषानुवाद और योगशास्त्रीय आध्यात्मिक व्याख्या सहित।

मू० [illegible]

ज़िसको

काशी—"प्रणवाश्रम"

से

श्रीयुक्त सतीशचन्द्र भट्टाचार्य्यने

प्रकाशित किया।

प्रथम संस्करण।

Printed by B. Ganga Prasad Gupta,
at his Art Printing Works, Benares City.
1914.

All rights reserved.

मूल्य ३) रु०

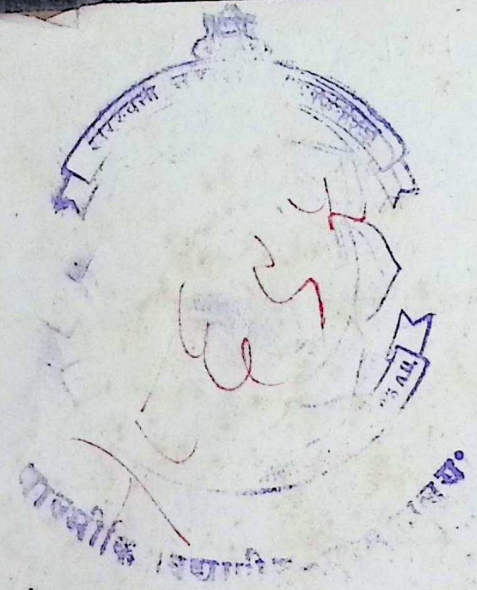

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

मू० २००/-

श्रीगणेशाय नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

योगशास्त्रीय आध्यात्मिक व्याख्या ।

दशमोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

अन्वयः । श्रीभगवान् उवाच । हे महाबाहो ! प्रीयमाणाय (मद्वचनामृतेनैव प्रीतिं प्राप्नुवते) ते (तुभ्यं) अहं हितकाम्यया (हितेच्छया) भूयः एव (पुनरपि) यत् परमं (परमात्मनिष्ठं) वचः वक्ष्यामि, मे (तत् वचः) शृणु ॥ १ ॥

अनुवाद । श्रीभगवान् कहते हैं । हे महाबाहो ! तुम हमारी कथामें प्रीति अनुभव करते हो, अतएव मैं हित कामनाके लिये तुमको फिर जो परमात्मनिष्ठ वाक्य कहूंगा, हमारा उस वाक्यको श्रवण करो ॥ १ ॥

व्याख्या । भगवान् सप्तम अध्यायके प्रथम श्लोक

में अर्जुन को—"जिस प्रकारसे असंशय होकर समग्र भावसे मुझको जान सकोगे, उसे सुनो"—यह बात कह करके अपना विभूति-बल-शक्ति-ऐश्वर्य्यादि गुण कहना प्रारम्भ किया। सप्तममें "रसोऽहमप्सु कौन्तेय" इत्यादि, ८ममें "अधियज्ञोऽहमेवात्र" इत्यादि, और नवममें "अहं क्रतुरहं यज्ञः" इत्यादि वचन समूहसे अति संक्षेप करके आत्मस्वरूप वर्णन किये, और नवमके शेष श्लोकमें उस आत्मस्वरूप लाभ करनेके लिये प्रकरण भी दिखाय दिये। शिष्य अर्जुन उसीमें प्रीति लाभ किया। परन्तु अति संक्षेपसे वर्णन किया हुआ है इस कारण यदि सर्व संशय दूर न हो, इसलिये भगवान् अपने भक्त अर्जुनके हितार्थ पुनराय परमात्मनिष्ठ वाक्य कहते हैं ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः ॥ २ ॥

अन्वयः । सुरगणाः मे प्रभवं (उत्पत्तिं) न विदुः (जानन्ति), महर्षयः अपि न (विदुः); हि (यतः) अहं देवानां महर्षीणां च सर्वशः (सर्वप्रकारैः) आदिः (कारणं) ॥ २ ॥

अनुवाद । सुरगण हमारी उत्पत्ति नहीं जानते, महर्षिगण भी

नहीं जानते; क्योंकि, मैं सर्व प्रकारसेही देवगणके और महर्षिगण के आदि हूं ॥ २ ॥

व्याख्या। वह जो विवस्वानके ऊपर पीठके "मैं" है, उनको देवता लोग नहीं जानते, क्योंकि, वे लोग कर्म्मफलके भोक्ता हैं, कर्म्मी नहीं हैं। जो लोग त्रिकालज्ञ, जगत प्रपञ्चके वेत्ता हैं, उनको महर्षि कहते हैं, वह लोग भी हमारी उस "मैं" अवस्थाको नहीं जानते। क्यों नहीं जानते, अब उसे तुम देखो। कालत्रय और संसार विचार लेकर रहनेसे तुमको चित्तधर्म्मका धर्म्मी होकर रहने होवेगा, ऊपरमें उठ नहीं सकोगे। ऊपरमें उठ जानेसे कर्म्मफल-भोग और विचार-शक्ति आदि चित्त क्षेत्रमें पड़े रहते हैं। जब तुम "मैं" से मायाकी अपसारण, "मैं" और माया के बीच विच्छेद-भूमिमें विवस्वानके प्रकाश, और विवस्वानसे चित्तमें विम्बपात,—यह सब अनुभव किये हो, तब चित्त-धर्म्मीमें वह सब जो नहीं रहता सो तुम समझे हो। क्योंकि, यह सब चित्तकी बहुत ऊंचेवाली बात है। पुनः असल "मैं" इन सबसे भी ऊंचेमें है। तुम कर्म्मी हो, इसलिये तुम्हारे कर्म्म (क्रिया) से यह सब अनुभवमें आये थे; परन्तु महर्षिलोग सर्वदा जगत्के कल्याणमें तत्पर रहनेसे मेरे ऊपरवाले उस "मैं" अवस्थाको

ग्रहण नहीं करते। परन्तु उन लोगोंकी उस अवस्थाकी ग्रहण करनेवाली शक्ति नहीं है, ऐसा नहीं। इसलिये "मैं" महर्षि और देवतोंका भी आदि हूं ॥ २ ॥

यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ॥
असंमूढ़ः स मर्त्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अन्वयः। यः माम् अनादिं अजं लोकमहेश्वरं (लोकानां महान्तं ईश्वरं) च वेत्ति, सः मर्त्त्येषु (मनुष्येषु) असंमूढ़ः (संमोहरहितः सन्) सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अनुवाद। मुझको जन्मसे रहित अनादि और सर्वलोक-महेश्वर रूपसे जो लोग जानते हैं, मर्त्यलोकमें वह लोग मोहवर्जित होकरके सर्व प्रकार पाप से विमुक्त होते हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या। इस आदि-अन्त विशिष्ट जगत्में कोई भी अनादि नहीं है, एकमात्र "मैं" ही अनादि—मूल कारण हूं। कर्म्म करते करते कर्म्मीका जैसे जैसे कर्म्मक्षय होता जाता है, तैसे तैसे कर्म्मी इस "मैं" के निकट आता रहता है। कर्म्मी जब 'मैं' को अपनेसे अभिन्न अनादि कह करके समझ लिया, तत्क्षणात् मूढ़त्व (कामना के वश जो, वही मूढ़ है) परित्याग करके "मैं" में मिल कर मर्त्यधर्म्मको छोड़ अपनेको जगत्का महान् ईश्वर कह करके निश्चय कर लेता है। इसलिये उसमें परिवर्त्तन-

शील चञ्चलता (पाप) नहीं रहता । क्योंकि "मैं" अज—जन्म रहित हूं, जन्म लेनेसेही पाप होता है; "मेरा" जन्म भी नहीं है, पाप भी नहीं है ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयञ्चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपोदानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

अन्वयः । बुद्धिः ज्ञानं असंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः सुखं दुःखं भवः (उत्पत्तिः) अभावः (नाशः) भयं च अभयं एव च अहिंसा समता तुष्टिः तपः दानं यशः अयशः भूतानां (एते) पृथक्विधाः भावाः मत्तः एव भवन्ति ॥ ४ । ५ ॥

अनुवाद । बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, नाश, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तपः, दान, यश, अयश, प्रभृति प्राणियोंके लिये नानाविध भाव हमहीसे उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥ ५ ॥

व्याख्या । "बुद्धि" अन्तःकरणकी उस शक्तिको कहते हैं जिससे सत् असत्का विचार करके सूक्ष्म पदार्थ को समझा जा सकता है, अर्थात् निश्चयात्मिका वृत्ति है ।

"ज्ञान"=(९म अ० १म श्लोक) विचारपूर्वक

बुद्धिसे जो निश्चय किया हुआ है, उसमें प्रवृत्तिका नाम ज्ञान है ।

" असंमोह "—"अ"=नास्त्यर्थ + " सं "=सम्यक् + " मोह "=अविद्या-वृत्ति । अविद्या-वृत्ति जिस अवस्था में सम्यक् मिट जाता है, उसी अवस्थाको असंमोह अवस्था कहते हैं ।

" क्षमा "=दूसरेसे पूजित या तिरस्कृत हो करके प्रतिकार करनेवाली शक्ति रहनेपर भी जो उपेक्षा करण शक्ति है वही क्षमा है ।

निःकपट हो करके पराया हित करनेका नाम 'सत्य' है।

" दम "=बाह्येन्द्रिय निग्रह ।

" शम "=अन्तःकरणके निग्रह ।

" सुख "—सु=सुन्दर, खं=शून्य, अर्थात् उद्वेग-राहित्य ।

" दुःख "—तद्विपरीत ।

" भव "=जन्म, " अभाव "=मरण ।

" भय "=मृत्यु-आशङ्का करके उद्वेग ।

" अभय "—तद्विपरीत । " अहिंसा "=प्राणी-पीड़नाभाव । "समता"=रागद्वेषादि-राहित्य । "तुष्टि"=सन्तोष । " तप "=माया-विकारको ज्ञानाग्निसे भस्म करनेवाली चेष्टा ।

" दान "=न्यायार्जित सम्पत्तिको यथाशक्ति सत् पात्रमें देना। साधक! तुम देखो, ब्रह्म बिना तुम और कुछ भी नहीं हो; तथापि तुम मायाको आश्रय कर के अहंकार सज लेकरके शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धको ले लिये, यही सब तुम्हारा न्यायार्जित धन है। "धन"—ध=धारणा, न=नास्ति; धारणा शून्यताका नाम धन है। इन शब्दादि विषयोंमें मनकी धारणा नहीं होती, चञ्चलता ही रहती है; इसलिये इन सभोंका नाम धन है। यह जो तुम्हारा धन है, सब असत् है, क्योंकि परिणामी है। इन सभोंको सत् पात्रमें अर्थात् नित्य, अपरिणामी, परं-ब्रह्ममें समर्पण करनेका नाम दान (५म अ० १०म श्लोक " ब्रह्मण्याधाय " देखो) है; अर्थात् वासना त्यागपूर्वक ब्रह्मध्यानसे उनके पृथक् अस्तित्व भूल जाकर सबमेंही ब्रह्मदृष्टि स्थापन करनेका नाम दान है।

" यश " = धर्म्म निमित्त कीर्त्ति। " अयश " = अधर्म्म निमित्त कीर्त्ति।

यह सब भूत बाजारमें अर्थात् अन्तःकरणके धर्म्मि-योंमें रहता है; इसलिये इन सभोंको भूतभाव कहते हैं। यह सब भाव " मैं " से उत्पन्न होनेसे भी पृथक्विध हैं अर्थात् भिन्न भिन्न प्रकारके हैं। " मैं " का भाव वा आत्मभाव जो है, उसमें पृथक् विधत्व नहीं है, वह एक

अद्वितीय है । इसलिये भूतभाव समूह आत्मभावसे सम्पूर्ण विपरीत हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

अन्वयः । महर्षयः सप्त (भृग्वादयः) पूर्वे (अतीतकालसम्बन्धिनः) चत्वारः (सनकादयः) तथा मनवः (स्वायम्भुवादयः) मद्भावाः (मत्सामर्थ्येनोपेताः) मानसाः (मनसैवोत्पादिता मया), लोके येषां (मनूनां महर्षीणां च) इमाः (स्थावरजंगमलक्षणाः) प्रजाः (सन्ततयः) जाताः (उत्पन्नाः) ॥ ६ ॥

अनुवाद । भृगुप्रभृति सात जन, और सनक प्रभृति पहलेवाले चार जन महर्षि तथा स्वायम्भुव प्रभृति मनुलोग हमारीही शक्ति सम्पन्न और मानससे उत्पन्न हैं—जिन लोगोंसे जगत्में यह सब प्रजा सृष्टि हुई है ॥ ६ ॥

व्याख्या । मायामें उपहित चैतन्यको अर्थात् ईश्वर को महत् कहते हैं । साधन-बलसे जो पुरुष इस महत् पदको लाभ किये हैं, उन्हींको महर्षि कहते हैं । इस वर्त्तमान वैवस्वत मन्वन्तरमें उस पदको सात जन पा चुके हैं, उन सबके नाम मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त, पुलह, क्रतु, वशिष्ठ हैं । पुनः कहीं कहीं कश्यप, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज

को भी वैवस्वतका महर्षि कहते हैं। और पहलेवाले चार जन हैं—सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, और सनातन। मनु चौदह हैं; यथा—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत (यह वैवस्वत मन्वन्तर अब चल रहा है), सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्म्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि, और इन्द्रसावर्णि। यह सब हमारे मन-आवेगके कल्पना-प्रसूत हैं; अर्थात् मेरी भावावस्थामें मानस * नाम करके जो वृत्ति-विशेष उत्पन्न होती है, उसी मानसमेंसे इन सबकी उत्पत्ति हुई है। ये लोग मद्भाव-विशिष्ट अर्थात् मेरे वैष्णवी-(विश्वव्यापी) सामर्थ्य-युक्त हैं। यह सब प्रजापति हैं। इन्हींसे इस जगत्में दृश्यमान प्रजा समूहका विस्तार हुआ है ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगञ्च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

अन्वयः। यः मम एतां विभूतिं (विस्तारं) योगं च (योगैश्वर्य्य-सामर्थ्यं) तत्त्वतः वेत्ति, सः अविकम्पेन (निःसंशयेन) योगेन (सम्यग्-दर्शनेन) युज्यते (युक्तो भवति); अत्र संशयः न (अस्ति) ॥ ७ ॥

---

* मानस=मान लो वही; कोई कुछ मान लेनाही मानस—इच्छा-शक्ति है ॥ ६ ॥

अनुवाद। मेरे यह सब विभूति और योग (योगैश्वर्य्यसामर्थ्य) को जो लोग तत्त्वतः अवगत होते हैं, वे अविचलित योगमें युक्त होते हैं; इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

व्याख्या। यह जो हमारी सृष्टिकरी वृत्ति, प्रलयकरी वृत्ति, (संयोग और वियोग), तथा सृष्टिके पहले और प्रलयके पश्चात् कैवल्यस्थिति है,—इन तीनोंको ले करके मेरा विभूतियोग है। विभूति = विशेष प्रकारकी उत्पत्ति है; वृहद्ब्रह्माण्डमें कोटि कोटि क्षुद्रब्रह्माण्ड-स्वरूप प्राणीका विस्तारही विशेषत्व है, और उस विभूतिको समेट ले आकर पुनः "मैं" में मिल जाना ही योग है। जो पुरुष तत्त्वमें रह करके इन दोनोंको देखते हैं, अर्थात् साधन-शक्तिसे प्रलय होनेके पहले जब प्रकृतिवशी अवस्था आती है, उसी अवस्थामें रह करके इस सृष्टि और उसकी लीलाको जो देखते हैं, उनको प्रलयप्रारम्भ समयमें अर्थात् 'मैं' में मिल जानेके समयमें पुनः और भोग-लालसावृत्ति लेकर नाचनेकी रुचि नहीं होती। इस कारण करके "मैं" में पड़कर (मिलकर) जो केवलत्व प्राप्त होता है, उसमें और हिलना डोलना नहीं होता। यह बात एक बारगी संशय शून्य है ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

अन्वयः। अहं सर्वस्य प्रभवः (उत्पत्तिहेतुः), मत्तः सर्वं (जगत्) प्रवर्त्तते, इति मत्वा बुधाः (विवेकिनः) भावसमन्विताः (प्रीतियुक्ताः सन्तः) मां भजन्ते ॥ ८ ॥

अनुवाद। मैं ही सबके उत्पत्तिका कारण तथा मुझसे ही सकल प्रवर्त्तित होता है, इसे जान करके बुधगण भावसमन्वित होकरके मुझको भजते रहते हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या। "अहं"=मैं, परमात्मा; "सर्व"=सृष्टिकी रचनामाला, ब्रह्मादि स्थावरान्त पर्य्यन्त जो कुछ है, वह सब। "बुध"=जो ग्रह सबसे अधिक सूर्य्यके निकट (भिड़ा) सर्वदा रहता है, वही बुध है; अर्थात् महा प्रकाशके पास सर्वदा जो रहता है। इसलिये बुधमें सूर्य्य-ज्योति (महा प्रकाश) सर्वदा अधिकसे अधिक पड़ता है। तैसे जिन्होंने विवेक-ज्ञानसे सर्वदा परमात्म-सङ्ग करते हैं वह भी बुध—विवेकी हैं। इस विवेकी-पद प्राप्त होनेसे, साधक प्रत्यक्ष अवगत होते हैं कि, मैंही सबका प्रभव—उत्पत्तिका हेतु हूं, और सर्वभूतमें बुद्धि, ज्ञान, असंमोह इत्यादि जो कुछ भाव प्रवर्त्तित होता है, वह सब इस "मैं" से ही होता है; मैंही सबके एकमात्र आश्रय और चालक हूं। इस प्रकारकी समझ (ज्ञान) होनेसेही (साधक) आत्मभावमें युक्त होते हैं और एकमात्र मैंका ही भजन करते हैं, अर्थात् उस "मैं" बिना और किसीको

आश्रय करनेकी इच्छा नहीं करते, केवल मन-प्राणके साथ उसी मैंमें ही मिल जानेकी चेष्टा करते हैं ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

अन्वयः । मच्चित्ताः मद्गतप्राणाः (ते बुधाः) परस्परं (अन्योन्यं) बोधयन्तः नित्यं मां कथयन्तः च तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

अनुवाद । (वह बुधगण) मच्चित्त और मद्गतप्राण होकरके परस्पर को मेरे विषय समझा देकरके और नित्य मेरे विषयकी वार्त्ता कह करके सन्तोष तथा सुख लाभ करते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या । प्रलयकालमें मायामें चित्-त्व नहीं रहता, हम ('मैं') में आ पड़ता है; इसलिये जगत्-जीवन जो प्राण है, वह भी उस चित्-त्वके साथ हम (मैं) में आ पड़ता है, क्योंकि, तब और मायाकी क्रिया शक्ति नहीं रहती । इस कारण करके परस्पर रूप द्वैतभाव मिट जाता है । यदि तब कोई कहनेको रहे, और वह कहे, तो अकेले है कह करके 'मैंही मैं' कहेगा । यह मैंही नित्य है । सब प्राप्तिको प्राप्त हो चुका कह करके (क्योंकि, सब मैंमें आकर मिल चुके), प्राप्ति की आकांक्षा नहीं है । तोषही तोष भोग हो रहा है । पुरुष-प्रकृतिके एकरस हो जानेका नामही रमण है; यहां होता भी वही है ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

अन्वयः। सततयुक्तानां (मय्यासक्तचित्तानां) प्रीतिपूर्वकं भजतां तेषां तं बुद्धियोगं (ज्ञानं) ददामि, येन ते मां उपयान्ति (प्राप्नुवन्ति) ॥ १० ॥

अनुवाद। जो लोग सतत योगयुक्त होकर प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, उन सबको, मैं वही बुद्धियोग (ज्ञान) देता हूं, जिस से वह लोग मुझको प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

व्याख्या। उस प्रकार ब्रह्मानन्द-सुख जो लोग सर्वदा भोग करते हैं, उनकी बुद्धि प्रेमके वशसे मुझ ("मैं") को छोड़ने नहीं चाहता, भजता रहता है। इसलिये उनकी बुद्धिको मैं "मैं" में मिलाय लेकर "मैं" कर लेता हूं, जिससे वह लोग मैं हो जाते हैं॥१०॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥११॥

अन्वयः। तेषां एव अनुकम्पार्थं अहं आत्मभावस्थः (सन्) भास्वता ज्ञानदीपेन अज्ञानजं तमः नाशयामि ॥ ११ ॥

अनुवाद। जो लोग उक्त प्रकारसे भजन करते हैं; केवल उन्हीं सबके अनुकम्पार्थ मैं उन सबके अन्तःकरणमें रह करके उज्ज्वल ज्ञान-दीपद्वारा अज्ञानज अंधियाराको नष्ट करता रहता हूं ॥ ११ ॥

व्याख्या । इस प्रकार साधनशीलोंके अज्ञानजात मायाविकार "मैं" के कृपासे नाश पाता है । क्योंकि, उनके आत्मभावमें स्थित होनेके सबबसे आत्मावस्था की ज्योति (प्रकाश) से उन सबके अन्तःकरण छाय जाता है ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच ।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयञ्चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

अन्वयः । अर्जुनः उवाच ! भवान् परं ब्रह्म, परं धाम, परमं पवित्रं च । (यतः) सर्वे ऋषयः, देवर्षिः नारदः, तथा असितः, देवलः, व्यासः च त्वां शाश्वतं दिव्यं पुरुषं आदिदेवं अजं विभुं आहुः, (त्वं) स्वयं च एव मे ब्रवीषि ॥ १२ । १३ ॥

अनुवाद । अर्जुन कहते हैं,—तुम परमब्रह्म, परमधाम, और परम पवित्र हो; (जिस हेतु) भृगु प्रभृति ऋषिगण, देवऋषि नारद, असित, देवल, और व्यास सबही तुमको शाश्वत दिव्य पुरुष, आदिदेव, अज, और विभु कह करके कहते हैं; स्वयं तुम भी मुझको इस प्रकार कहते हो ॥ १२ । १३ ॥

व्याख्या । (१२ से १८ पर्य्यन्त ७ श्लोकोंमें अर्जुन भगवान्‌को स्तव करके उनका विभूति-तत्त्व विस्तार रूप

से जाननेके लिये प्रश्न करते हैं)। जो विद्या परपारमें ले जाती है, उसीको परं कहते हैं। "ब्रह्मविदाप्नोति परं" अर्थात् जो ब्रह्मविद् है वही इस परं में आय पड़कर समझ सकेंगे, यह किस प्रकार अवस्था है। अवधि-रहित महान्को ब्रह्म कहते हैं, यह भी एक अवस्था है। क्योंकि, अवस्था न कहने से इन सभोंको समझानेमें तथा समझनेमें सुभीता नहीं होता। जो विद्या परपार ले जाती है, उसी विद्याके विश्राम स्थानको "परं धाम" कहते हैं; अर्थात्—ब्रह्मानन्द भोगावस्था है। "पवित्रं" =ग्लानि शून्यं, यह भी एक अवस्था है। "परमं" कहते हैं ब्रह्माजीके आयुष्कालके शेषमें (कल्पक्षयमें) विश्राम स्थान को; यह भी अवस्था विशेष है। "पुरुषं" मायामय पुरमें जो सोते रहते हैं, वही पुरुष हैं। "शाश्वतं"= अविनाशी। "दिव्यं" आकाश सदृश स्वरूप को कहते हैं। आकाश जैसे धारणामें नहीं आता, तैसे तुम्हारा उस तुम-अवस्थाको भी पकड़ा जा नहीं सकता; इसलिये तुम "दिव्यं" हो।

"आदिदेव"—जहांसे प्रथम प्रारम्भ होता है वही आदि है। इस जगत्का प्रारम्भ भी तुमसे होता है, इसलिये तुम आदिदेव हो।

"अज" कहते हैं जो कभी जन्मता नहीं। वह भी तुम

हो। "विभु" कहते हैं सर्वमूर्त्त-संयोगीको, अर्थात् जो सर्व-व्यापी है, वह भी तुम हो।

यह समस्त अवस्था तुमही में प्रतिष्ठित है, इसलिये तुम "भवान्" हो। अर्थात् यह समस्तही जो तुम हो, उसे मैं उसी अवस्थामें जान सकता हूं जिस अवस्थामें कारण, मूर्त्ति और अर्थके साथ प्रत्येक शब्दका परिज्ञान होता है; वही ऋषि-अवस्था है। सर्वे=सर्व ऋषिगण।

"देवर्षि नारद"। नार शब्दमें विष्णु, द शब्द में दान करना है। जो विष्णुको मिलाय देते हैं, उन्हींको नारद कहते हैं (१०म अः २६ वां श्लोक देखो)।

"असित"—अ=नास्ति, सित=बद्ध; जो बद्ध नहीं है, उन्हींको असित कहते हैं। अर्थात् मुक्त अवस्थाही असित अवस्था है।

"देवल"—देव=देवता, और लं=पृथिवी का बीज है। जिस अवस्था में अन्तःकरण पार्थिव जगत् का देवता लेकर खेलता रहता है (साकार उपासनामें व्याप्त रहता है) उसी को "देवल" अवस्था कहते हैं।

"व्यास"=भेदज्ञान; अर्थात् वेद रूप ज्ञानसिन्धुको जीवजगत्के कल्याणके लिये जो (साम, ऋक्, यजु और अथर्व नामसे) विभाग करके अल्पबुद्धियोंके लिये साकार-उपासनामय पुराणादि सृष्टि करके मुक्तिमार्गको

सुलभ कर दिये हैं,--वही व्यास (अवस्था) है।

और "स्वयं"! वही क्रियाकी परावस्था है! जिस अवस्थामें पड़के भोग-पश्चात् उतर आके मैं "मैं" को "तुम" रूपसे समझ करके जान सकता हूं कि, यह अपनी अनुभवनीय अवस्था समूह जिन्हें मैं भोग किया हूं, पुनः नीचे उतर आकर मैं अपने मनहीं मनमें जानता हूं कि, जब मेरी ऋषि-अवस्था, नारद-अवस्था, असित-अवस्था, देवल-अवस्था, व्यास-अवस्था और स्वयं-अवस्था हुई थी, तब वह ऊपर वाला मैं ही जो परमब्रह्म, परमधाम, पवित्र, परमपुरुष, शाश्वत, दिव्य, आदिदेव, अज और विभु हूं, उसे मैं देखा हूं, अनुभव किया हूं और समझा हूं। यह जैसे तुमही मुझको कहते हो ॥ १२ ॥ १३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥१४॥

अन्वयः। हे केशव! यत् मां वदसि, एतत् सर्वं ऋतं (सत्यं) मन्ये; हि (यस्मात्) हे भगवन्! ते (तव) व्यक्तिं (प्रभवं) देवाः न विदुः, दानवाः (च) न (विदुः) ॥ १४ ॥

अनुवाद। हे केशव। तुम मुझको जो कहते हैं, वह समस्त ही सत्य कह करके मैं मानता हूं; क्योंकि, हे भगवन्! देवता भी तुम्हारा प्रभव (आविर्भाव कारण) नहीं जानते, दानव भी नहीं जानते ॥१४॥

व्याख्या। "केशव"—"क" = ब्रह्मा, सृष्टिकर्त्ता + "ईश" = संहर्त्ता + "व" = शून्य; यह सृष्टिकरण शक्ति और संहरण शक्ति जब शून्य होकर मिल जाकर एक होता है अर्थात् सृष्टि-संहार शून्य निस्तरंग स्थिति-अवस्था आती है, उसी अवस्था को "केशव" कहते हैं। इस अवस्थाको जब मैं भोग करके उतर आया, तब ऊपर में जो जो कहे हैं वह सब मुझको मना दिये। वह जो केशव-अवस्था है, उसे कर्म्मी (क्रियाशील) बिना कर्म्म के फल-भोक्ता जो देव-अवस्था है, अथवा कामातुर मूढ़ दानव-अवस्थामें जाना जा नहीं सकता। और वह समस्त अवस्थारूप ऐश्वर्य्य समूह तुममें ही प्रतिष्ठित रहने से तुम भगवान् हो॥ १४॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥

अन्वयः। हे पुरुषोत्तम! भूतभावन! भूतेश! देवदेव! जगत्पते! त्वं स्वयं एव आत्मना आत्मानं वेत्थ (जानासि)॥ १५॥

अनुवाद। हे पुरुषोत्तम! हे भूतभावन! हे भूतेश! हे देवदेव! हे जगत्पते! तुम आपही अपनेसे अपने को जानते हो॥ १५॥

व्याख्या। "भूतभावन" = भूतोंके भरण करनेवाला, "भूतेश" = भूतोंके नियन्ता, "देवदेव" = देवतोंके देवता,

"जगत्पति" = जगत्के स्वामी, "पुरुषोत्तम" = प्राकृतिक आवरणही पुर है, प्राकृतिक आवरण युक्त अवस्थायोंके भीतर जो सबसे ऊंची अवस्था है, जिसके ऊपर और अवस्था नहीं है, वही पुरुषोत्तम है; ऐसा पुरुष! यह सबही तुम हो। हरि! हरि! ऐसे तुमही "मैं" हूं! इसलिये कहता हूं कि, आपही ज्ञाता, आपही ज्ञेय और आपही ज्ञान हो॥ १५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्याह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥१६॥

अन्वयः। त्वं इमान् लोकान् याभिः विभूतिभिः व्याप्य तिष्ठसि, (ताः) दिव्याः (अद्भुताः) आत्मविभूतयः हि अशेषेण वक्तुं अर्हसि॥ १६॥

अनुवाद। तुम इन (दृश्य जो कुछ) सब लोक को जिन विभूतियांसे भीतर बाहर घेरे रहे हो, उन दिव्य आत्मविभूति समूह अशेष रूपसे मुझको कहो॥ १६॥

व्याख्या। वह जो ऊपरवाले कैवल्य भाव, वह जो सर्वभूतात्मभूतात्मा विश्वव्यापक भाव है, नीचेमें उतर आकर उसे कहा नहीं जा सकता; अथच उस मैं-भावका विभोरताका नशा भी कटता (टूटता) नहीं। ऐसी अवस्थामें असीम में ससीमता मिलानेमें भूल जाकर

(पूर्वजात संस्कारके बलसे) आपही आप कैसे (अनजान भावसे) मैं में 'तुम' बन जाता है। जिसमें साधकको बाध्य हो करके कहने पड़ता है कि,—वह जो तुम्हारा आकाश-व्यापी विभूति है, जिस विभूतिसे तुम इस जगतके सब कुछ को "तुम" सजा लेकर व्यापमान हो रहे हो, उन सबको अशेष प्रकारसे मुझसे कहो, एक को भी बाकी मत छोड़ो। अर्थात् प्रत्येक वस्तुकी प्रत्येक अवस्थाको साधक अपने भीतरके अवस्थाके साथ मिला लेकर संशयच्छेद करनेके लिये प्रस्तुत होता है ॥१६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥१७॥

अन्वयः। हे योगिन्! सदा कथं (कैर्विभूतिभेदैः) परिचिन्तयन् (अहं) त्वां विद्यां (जानीयां); हे भगवन्! त्वं केषु केषु भावेषु च (वस्तुषु) मया चिन्त्यः (चिन्तनीयः) असि? ॥ १७ ॥

अनुवाद। हे योगिन्। सर्वदा मैं किस प्रकार भावसे चिन्ता करके तुमको जान सकूंगा? हे भगवन्! किस किस भावमें (वस्तुमें) तुम हमारे चिन्तनीय होवोगे? ॥ १७ ॥

व्याख्या। किस प्रकारसे सर्वदा चिन्ता करके मैं तुम्हारा उस योगीभाव को जान सकूंगा? साधनामें देखा जाता है कि जबतक चित्त-धर्म्म रहता है, तबतक वह

योगी-भाव नहीं आता। भाव शब्दके अर्थमें भी तो वह योगी-अवस्थाही प्रकाश पाता है। परन्तु हे भगवन्! कैसे करके, किस प्रकारसे, भावके साथ मैं चिन्ताको मिलाऊंगा? भावके पास चिन्ता तो पहुंचही नहीं सकती! तब तुम किस किस भावमें मेरे चिन्ताका विषय होगे? ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिञ्च जनार्द्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥१८॥

अन्वयः। हे जनार्द्दन! भूयः आत्मनः योगं (योगैश्वर्य्यं) विभूतिं च विस्तरेण कथय, हि (यतः) अमृतं (त्वन्मुखनिःसृतवाक्यरूपं) शृण्वतः मे तृप्तिः न अस्ति ॥ १८ ॥

अनुवाद। हे जनार्द्दन! फिर तुम अपना योगैश्वर्य्य और विभूतिको विस्तारित रूप करके मुझसे कहो, क्योंकि तुम्हारा मुख निःसृत अमृतमय वाक्य श्रवण करके मैं तृप्तिलाभ कर सक्ता नहीं ॥ १८ ॥

व्याख्या। वह जो आत्मा, वह जो शुद्ध, वह जो स्वयं-ज्योति, वह जो अविकारी, वह जो निराकृति योगावस्था है, हे जन्ममरणवारि! अपना उस ऐश्वर्य्य और विभूतिको अशेष प्रकारसे मुझसे फिर कहो, फिर समझावो। उस अवस्थाको भोग करके मेरी तृप्ति होतीही नहीं ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्याह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

अन्वयः । श्रीभगवान् उवाच । हन्त कुरुश्रेष्ठ ! ते दिव्याः (दिवि भवाः) आत्मविभूतयः प्राधान्यतः (प्राधान्येन) कथयिष्यामि, हि (यस्मात्) विस्तरस्य (विभूतिविस्तरस्य) मे (विभूतीनां) अन्तः न अस्ति ॥ १९ ॥

अनुवाद । श्रीभगवान् अनुकम्पा प्रदर्शन पूर्वक कहते हैं—हे कुरुश्रेष्ठ ! मैं अपने प्रधान प्रधान दिव्य विभूतियोंको तुमसे कहता हूं । क्योंकि, हमारे विभूति विस्तर (विभूति) का अन्त नहीं है ॥ १९ ॥

व्याख्या । पूनः निजबोध ज्ञानसे पूर्व कथित प्रश्न की मीमांसा होती है; अर्थात् साधक आपही आप अपने प्रश्नका उत्तर करते हैं ।

"कुरुश्रेष्ठ" । कुरु शब्दके अर्थ किसी काम करने के लिये कहना है । उद्देश्य, एक कोई काम करे और दूसरा उसका फलभागी हो; यहां भी वही बात है । काम करती है प्रकृति, बन्धनमें आगया "मैं" (जीव); क्योंकि मैं कुरुक्षेत्र में हूं । मणिपुरसे मूलाधार पर्य्यन्त साधन-मार्गका कुरुक्षेत्रांश है (३य अः १४।१५वां श्लोक की व्याख्या देखो); जिस साधक का मणिपुरसे

मूलाधार पर्य्यन्त काम, क्रोध और लोभ को लेकरके खेल चल रहा है वही "कुरु" शब्द वाच्य है; उनके भीतर आज्ञा चक्रके ऊपर भी जिनको अधिकार मिला, अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरताको भी छोड़ नहीं सकते, इस पर भी आत्मावारे (आत्मलक्ष्यमें) दर्शन-श्रवण-मनन-निदिध्यासन लेकरके भी है, वही श्रेष्ठ है; इस लिये ऐसे अवस्थापन्नको कुरुश्रेष्ठ कहा गया।

वह जो हमारा दिव्य आत्म-ऐश्वर्य्य अर्थात् जलमें अनन्त तरंग-फेन-बुद्बुद् सदृश विश्वसाजमें आत्म विकाश है, उसका अन्त नहीं है; क्योंकि मैं अनन्त हूं, हममें जिसका बोधन होगा वह भी अनन्त विस्तर है। उनके भीतर जो बड़े बड़े हैं उनमेंसे थोड़े अब मैं तुमसे कहता हूं॥१९॥

अहमात्मा गुड़ाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

अन्वयः । हे गुड़ाकेश ! अहं सर्वभूताशयस्थितः (सर्वेषां भूतानां आशयेषु अन्तःकरणेषु स्थितः) आत्मा, अहं भूतानां आदिः च मध्यं च अन्तः एव च ॥ २० ॥

अनुवाद । हे गुड़ाकेश ! मैं सर्वभूतोंके अन्तर स्थित आत्मा हूं ! मैंही भूत समूहके आदि अर्थात् सृष्टा, मध्य अर्थात् पालनकर्त्ता, और अन्त अर्थात् संहर्त्ता हूं ॥ २० ॥

व्याख्या। "गुड़ाकेश"—गुड़ाका = निद्रा, ईश = नियन्ता; निद्राजयी। निद्रा जिस साधकको आक्रमण नहीं कर सकती, जो साधक सदाकाल जागरूक है, वही गुड़ाकेश है। "अहं"=मैं, आत्मा=सर्वभूतोंका अधिपति। अर्थात् अहंकारसे तन्मात्रा, तन्मात्रासे आकाशादि उत्पन्न हुए हैं; इसलिये सर्वभूतोंके आशय वा अधिपतिका नाम "आत्मा" है। आशय कहते हैं स्थान को; जहां जो रहता है उसका आशय वही है, जैसे जलका आशय समुद्र है; तैसे भूतका आशय "मैं" हूं। हमसेही भूतोंकी उत्पत्ति है; पुनः हममेंही भूतोंका अन्त है। पुनः इस उत्पत्ति और अन्तके बीचमें जो स्थित है वह भी हममें है। इस कारण इस जगत्के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय मेरे ऊपर "मैं" से "मैं" मेंही होता है ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्म्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

अन्वयः। अहं आदित्यानां (द्वादशादित्यानां मध्ये) विष्णुः, ज्योतिषां (प्रकाशकानां मध्ये) अंशुमान् (रश्मिमान्) रविः, मरुतां (वायुनां मध्ये) मरीचिः अस्मि; नक्षत्राणां (मध्ये) अहं शशी (चन्द्रमा अस्मि) ॥ २१ ॥

अनुवाद। आदित्योंके भीतर विष्णु, ज्योतिः समूहके भीतर अंशु-

माली सूर्य्य, मरुद्गणके भीतर मरीचि और नक्षत्रोंके भीतर चन्द्रमा मैं हूं ॥ २१ ॥

व्याख्या। "आदित्य"—जिससे अभाव का पूरण होता है, वही आदित्य है; महत् और अव्यक्त के संक्रम-स्थलमें जो प्रतिफलित चैतन्य-ज्योति प्रकाश पाता है, वही प्रथम माया विकाश है, इसलिये उसको आदित्य कहा जाता है। इस आदित्यको शाम्भवीका प्रयोग करनेसे द्वादश अंशमें देखा जाता है; यथा—भग, अंश, अर्य्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, विवस्वान्, त्वष्टा, पुषा, इन्द्र और विष्णु। इन द्वादशके भीतर विष्णुही "सवितृमण्डलमध्यवर्त्तीनारायणः हिरण्मयवपुः" है। उस अन्तरादित्यके हृदयमें अर्थात् ठीक बीचमें तारक नक्षत्र फट जा करके जो अष्टदल कमल खिल उठता है, उसी कमलके ऊपरमें वह हिरण्मय पुरुष दर्शनमें आता है। गले हुए सोनेका घुमते समय जिस प्रकार रंग देखनेमें आता है, उस पुरुषका रंग ठीक उसी प्रकार है; इसलिये हिरण्मय है। यह पुरुष हिरण्यश्मश्रु और हिरण्यकेश है; इसके नखाग्रसे केशाग्र पर्य्यन्त समुदय सोनेका वरण है; * यही

* "अथ यदेवै तदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साथऽनीलं परः कृष्णं तदमस्तत् सामाथ यः एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्य श्मश्रु हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः।"

छान्दोग्योपनिषत् १म प्रपाठकः ॥

पुरुष विष्णु है। वह विष्णुही "मैं" अर्थात् पुराणी महामायाके प्रथम आकारधारी विकार हूं ।

ज्योतिष्क गणके भीतर जो अंशुमाली रवि है("रं"=प्रकाशे, "इ"=शक्ति, "वं"=शून्य । शून्यमय प्रकाश शक्ति); सोभी 'मैं' हूं। मरुत् (मृ=मरना + उत्) अर्थात् जो कुपित होनेसे मृत्युको मिलाय देते हैं। इन मरुतोंके भीतर मरीचि अर्थात् प्राण मैं हूं ।

"नक्षत्र"=जिसका कभी क्षय नहीं है अर्थात् अमृत । यह अमृत शशी मेंही प्रतिष्ठित है इसलिये मैं शशी हूं ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥२२॥

अन्वयः । (अहं) वेदानां सामवेदः अस्मि, देवानां वासवः अस्मि, इन्द्रियाणां मनः च अस्मि, भूतानां चेतना अस्मि ॥ २२ ॥

अनुवाद । वेदोंके भीतर सामवेद मैं हूं, और देवतोंके भीतर वासव, इन्द्रियोंके भीतर मन और भूतों के भीतर चेतना रूपसे अवस्थित मैं हूं ॥ २२ ॥

व्याख्या । वेद=ज्ञान, जाननेका विषय जो कुछ है, वही वेद है । वेदोंके भीतर साम सन्धि — माया-ब्रह्म का संयोग है । इसका स्थान आज्ञाचक्र है (२य अः ४५वां

श्लोककी व्याख्या देखो)। यहां पूर्ण सत्त्वप्रकाशके भीतर स्थिरता व चञ्चलताका समावेश है; यही ज्ञानका पूर्ण विकाश है। इसलिये वेदोंके भीतर सामवेदही "मैं" हूं।

"वासव"—वस्+अव, अर्थात् जो स्वर्ग में वास करता है, वही वासव है। स्वर्ग कहते हैं स्तरको। जगत् में दो प्रकारका स्तर है। एक प्रकार बद्ध और एक प्रकार मुक्त। इन दोनोंके बीचमें चित्त नाम करके एक आलवाल है। चित्तके नीचे स्तरमें त्रिगुणकी प्रबलतासे बद्ध जीवत्व है और ऊपर स्तरमें ज्ञानकी प्रबलता हेतु करके मुक्तत्व। चित्तकी नीची दिशामें जो जितना परिमाण चित्तावरणके निकट अग्रसर होता है; वह उतना परिमाण जीवत्व छोड़कर मुक्तत्व भोग करता है। चित्तके ऊपर भी पुनः दो स्तर हैं। चित्त और विवस्वान्के बीचमें एक स्तर, और विवस्वान्के ऊपर एक। चित्तके ऊपरवाले स्तरमें वशी लोगोंका निवास है। कोई चित्तवशी, कोई प्रकृतिवशी, कोई माया वशी, ऐसे ऐसे हैं। यह सब लोग चित्तके ऊपर नीचे दोनों स्तरमेंही समान रूपसे अपनी इच्छाशक्तिका प्रयोग करने में सक्षम हैं परन्तु जीव के सदृश बद्ध नहीं होते; किन्तु विवस्वान्के ऊपरवाले स्तरका अधिकार नहीं रखते। औरचित्त के नीचे जो लोग हैं, उनके भीतर अहंकार–बुद्धि–मन–इन्द्रिय–विषयादि स्तरके अधिष्ठातृयोंको भी स्वर्गवासी

कहते हैं—जैसे विषयमें विषयी, मनमें मुनि, बुद्धिमें बौद्ध, अहंकारमें अहंकारी (सोऽहं वादी) इत्यादि । इन लोगोंके भीतर जो पुनः चित्तमें हैं, अथच चित्तके ऊपर उठनेवाली शक्ति भी पाकरके थोड़ासा श्रेष्ठ भी हुए हैं, उन्हींको इन्द्र वा "वासव" कहते हैं । आज्ञाके ऊपर में कर्म्मविहीन फलभोग अवस्थाही देव-अवस्था है । "मैंके" जितने प्रकार देव-अवस्था है उनके भीतर वह वासव-अवस्थाही प्रधान है; देव-अवस्थाके भीतर वासव मेंही "मैंकी" (मेरी) पूर्ण विकाश है । इसलिये कहा गया देवतोंके भीतर मैं वासव हूं ।

"इन्द्रियाणां मनश्चास्मि"—इन्द्रिय समूहके भीतर मनही मैं हूं । इन्द्रिय ग्यारह हैं, पांच ज्ञानेन्द्रिय; यह सब बाहरवाले शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादिका ज्ञान "मैं" के पास लाता है। पांच कर्म्मेन्द्रिय; यह सब रूपरसादि-विषय-चञ्चल "मैं" को बाहर दिशामें कर्म्म करनेके लिये दौड़ाता है । इनको छोड़ दूसरा एक जो इन्द्रिय है उसको "मन" कहते हैं । वह मन "मैंको" विषय अनुभव भी कराता है, पुनः कर्म्म भी कराता है; अर्थात् भीतर में इच्छा-अनुभूति-चिन्ता—इन सब क्रियाओंको कराकर बाहरके कार्य्यमें भी दौड़ाता है । इस उभयात्मक इन्द्रियका स्वरूप जो है वही प्रकृत मन है, वही "मैं" हूं ।

मन—म=मैं + न=नहीं अर्थात् मैं-नहीं। इन्द्रिय समूहके भीतर जो मैं है, वही भूल मैं है। परन्तु इन सबके भीतर "मैं नहीं" रूप जो मन है वही प्रकृत "मैं" है। अब देखना चाहिये कि इन्द्रिय समूह के भीतर "मैं-नहीं" वा मन कौन है?

इन्द्रिय=इ+न्द्र+इ+य। इ=शक्ति, न्द्र=अग्नि, इ=शक्ति, य=स्वरूप। इन्द्रियके भीतर शक्ति-अग्नि और शक्ति-स्वरूप मिल गये। शक्ति-अग्निका धर्म्म यह है कि जो कुछ अग्नि में पड़े उसीको अग्नि अपने रूप और गुणमें परिवर्त्तित कर देता है। जिसमेंही अग्नि लगे, अग्नि उसको पहले आलोकित करती है, तत्पश्चात् उसको उत्तप्त करती है, अन्तमें उसका परिणाम कृष्ण चिह्न और भस्म होता है। इन्द्रियकी शक्ति-अग्निमें भी जो विषय आ पड़ता है, पहले वह अन्तरमें प्रकाशित होता है, पश्चात् एक ताप वा चलन अनुभूत होता है, तत्पश्चात् उसी विषयका एक संस्कार मात्र अवशिष्ट (बाकी) रहता है। इन्द्रियके भीतर एक अंश "इन्द्र" वा शक्ति-अग्निका कार्य्य दिखा गया है। इन्द्रिय का दूसरा अंश "इ+य" वा शक्ति-स्वरूपका कार्य्य अब देखना चाहिये।

प्रति इन्द्रियके कार्य्यमें मैं करता हूं, मैं देखता हूं, ऐसे ऐसे जो व्यापार हैं, उसमें जो "मैं" है, वही यह

भूल मैं है। यह अनादि संस्कार-विशिष्ट है। सुख-दुःख, आधि-व्याधि, जरा-मरण भोग यही करता है। यही दर्शन-श्रवण आदि के भीतर पड़ करके निरन्तर परिवर्द्धित तथा परिपुष्ट हो करके सुखी, दुःखी बनता है। परन्तु शक्ति-अग्निके साथ जो शक्ति-स्वरूप है अर्थात् "इ+य" युक्त है, उसका कुछ परिवर्त्तन नहीं है; वह किसीको ग्रहण भी नहीं करता, त्यागभी नहीं करता। यह शक्ति-स्वरूप सदाकाल शान्त और स्थिर भावमें विराजती है। यह शक्ति-स्वरूप "मैं" नहीं है वरंच इसमें मैं-ज्ञापक कुछ भी नहीं रहने से इसको "मैं-नहीं" वा मन कहा जाता है।

इस शक्ति-स्वरूपको "मैं-नहीं" वा मन कहनेका प्रति कारण यही है कि, जो शक्ति-अग्नि वा भूल मैं चञ्चलताके साथ रह करके सर्वदा चञ्चल होकर दौड़ता रहता है, उसकी जड़में यदि शक्ति-स्वरूप वा स्थिर मैं न रहता,—प्रत्येक चलनकी जड़में यदि एक अचञ्चल न रहे, तो तरंग माला टूटता तैरता किसके ऊपर? उसी प्रकार "मैं-नहीं" रूप शक्ति-स्वरूप के ऊपरमेंही भूल मैं रूप अनादि-प्रवाह संस्कार पुञ्जका बनाना व बिगाड़ना रूप खेल चल रहा है। जो कुछ सुख दुःख वह इसीमें है। परन्तु जड़में "मैं-नहीं" रूप प्रकृत

मैं स्थिर शान्ति शक्ति-स्वरूपही है। लोग जिसको "मैं मैं" करके शोक मोहमें आच्छन्न होता है, वही भूल मैं है। इसलिये कहा हुआ है कि इन्द्रियके भीतर मन वा "मैं-नहीं" ही प्रकृत मैं है। इ=ह्रस्व शक्ति। ह्रस्व शक्ति कहनेका विशेष कारण यह है कि, व्यष्टिके भीतर विभूतिकी बात कहते हैं; समष्टिके भीतर विभूति दिखाने होता तो दीर्घशक्तिही कहा जाता।

"भूतानामस्मि चेतना"। भूत समूहके भीतर "मैं" चेतना हूं। भूत=जो जाता है। जगत् प्रपञ्चके भीतर जो देखाजाय, सुनाजाय, कियाजाय, अनुभव कियाजाय, वह सबही जाता है, कुछ भी नहीं रहता। वह सबही भूत, सबही प्रकृति और सबही जड़ है। इनके भीतर मैं चेतना हूं। "चेतना"—चेत् + अ + ना। चेत् अर्थमें यदि अर्थात् अनिश्चित। अनिश्चित क्या? ना—"अ"। "अ" अर्थमें असत्, अर्थात् अस्ति, जायते, बर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति, इन षट्विकार युक्त जो वही। और 'ना' अर्थमें नहीं। अतएव चेतना शब्दमें अनिश्चित षट्विकार युक्त नहीं जो वही, अर्थात् निश्चित। वही निश्चितही "मैं" हूं॥ २२॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥२३॥

अन्वयः। अहं रुद्राणां (मध्ये) शंकरः, यक्षरक्षसां च (मध्ये) वित्तेशः (कुबेरः) अस्मि; वसूनां पावकः (अग्निः), शिखरिणां च (मध्ये) मेरुः अस्मि॥ २३॥

अनुवाद। रुद्रगण के भीतर "मैं" शंकर; यक्षरक्षगणके भीतर कुबेर, वसुगणके भीतर अग्नि, और पर्वतोंके भीतर सुमेरु हूं॥ २३॥

व्याख्या। "रुद्राणां शंकरश्चास्मि"। मैं रुद्रगण के भीतर शंकर हूं। रुद्र ग्यारह हैं; यथा,—अज, एकपाद, अहित्रध्न, पिनाकी, ऋत, पितृरूप, त्र्यम्बक, वृषाकपि, शम्भू, हवन और ईश्वर।

षट्पद्ममें साधकका जब वर्ण परिचय होता है, तब साधक 'द' 'य' 'प' और 'उ' इन चार योनि अर्थात् स्थितिके स्थानको दर्शन करते हैं। 'द' का स्थान मूलाधार और स्वाधिष्ठानके बीच वाले जगह कामपुरमें है। 'य' का स्थान अनाहत चक्रमें है। 'प' का स्थान विशुद्धके ऊपर और आज्ञाके नीचे गर्दन और मस्तकके सन्धिमें है। और 'उ' का स्थान सहस्रारमें है।

रुद्र=र्+उ+द्+र। र=अग्निबीज; उ=सहस्रार-स्थितका स्थान, क्षमा; द=कामपुरमें योनि; र=

अग्निबीज; तबही हुआ, जिसमें (जिस आधारमें) कामाग्नि, और क्षमाग्नि पूर्णभावसे प्रकाशित है, वही 'रुद्र' है। इन रुद्रोंके भीतर मैं शंकर (शं अर्थात् जो मङ्गल करता है) अर्थात् जो केवल मङ्गल स्वरूप; वही मैं हूं।

"वित्तेशो यक्षरक्षसाम्"। वित्त कहते हैं पालिनी-शक्ति को। यह चार अंशोंमें विभक्त हो करके प्रथमांश पृथिवीमें, द्वितीयांश जलमें, तृतीयांश अनलमें और चतुर्थांश साधु पुरुषमें मिलकर प्रकाशिता है। इसीका नाम पद्मा, लक्ष्मी, भूति, श्री, श्रद्धा, मेधा, सन्नति, विजिति, स्थिति, धृति, सिद्धि, स्वाहा, स्वधा, नियति और स्मृति है। इस जगत्में भला व बुरा जिस चीजको तुम देखोगे वही तुमको मोहित करेगी। वह जो मोहिनी शक्ति है, वही विष्णुमाया है। सबके भीतर रह करके, सबको प्रकाश करके, स्वयं प्रकाश होती है इसलिये इसका आना जाना किसीके समझमें या देखने में नहीं आता। इसलिये इसको 'अलकापुर' की अधिष्ठात्री देवी कहते हैं, अर्थात् परमाणुसे लेकर माया पर्य्यन्त जितने पुर हैं, यह सत्त्वगुणा महाशक्ति उन सब पुरकीही भूषण स्वरूपा है, (अल्=भूषित करना)। दिक्पाल (दिक् अर्थात् जिसको या जिन सबको निर्णयमें लाया जा सकता है, उन सबका पालनकर्त्ता) कुबेर इस

देवी का रक्षक है । यह देवी कुवेरकी सम्पत्ति स्वरूप है। इसलिये कुवेरका नाम वित्तेश है । मायाके इस खेलकी अवस्थाभी मेरीही भीतर होती है, इसलिये वित्तेश भी मैं हूं ।

" वसूनां पावकश्चास्मि " । " वसु " कहते हैं प्रकाशक को, अर्थात् जो अपने तेजसे दूसरेको तेजस्वी करते हैं । यह वसु ८ हैं; यथा—भव, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनल, अनिल, प्रत्युष, और प्रभव । पावक अर्थमें अग्नि, जो पवित्र करता है । हममें आकरके सबकोई पवित्र होता है, इसलिये मैं पावक हूं ।

" मेरुः शिखरिणामहम् " । शिखरी कहते हैं पर्वत अर्थात् ऊंचे स्थान को । तिसके भीतर पुनः मेरु सबसे ऊंचा है । अब साधक देखो, भीतरमें मायाके अंशमें, विवस्वान्के ऊपरमें ही "मैं" हूं ॥ २३ ॥

पुरोधसाञ्च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

अन्वयः । हे पार्थ ! मां पुरोधसां मुख्यं बृहस्पतिं विद्धि, अहं सेनानीनां स्कन्दः, सरसां च सागरः अस्मि ॥ २४ ॥

अनुवाद । हे पार्थ ! पुरोहितगणका प्रधान बृहस्पति कह करके मुझको जानो, सेनानीगणके भीतर कार्त्तिक भी मैं और जलाशयोंके भीतर समुद्र भी मैं हूं ॥

व्याख्या। "पुरोधस्" शब्दका अर्थ पुरोहित है अर्थात् पहलेसे जो धारण कर रहे हैं। (केवल क्षत्रिय-बलसे कार्य्य सिद्धि नहीं होती। क्षत्रिय-बलके साथ ब्रह्म-बलका प्रयोजन है। इसलिये राजाओंका रक्षाकर्त्ता अर्थात् धारयिता पुरोहितही है। अतएव पुरोधस् शब्दमें "आगेसे जो धारण कर रहे हैं" वही समझा जाता है। क्योंकि, राजाका अग्निहोत्रादि रक्षा पुरोहित ही करते हैं)। जो धारण कर रहे हैं, वह मायाको ही धारण कर रहे हैं। यह मायाही 'बृहत्' है। इस बृहत्के पति "बृह-स्पति" है। राजर्षि जनकको ब्रह्मज्ञानका उदय होनेसे जनकने इस प्रकार कहा था,—"अहो! मैं क्या आश्चर्य्य हूं! मैं अपने आपको नमस्कार करता हूं; मेरे सदृश कृती और कोई भी नहीं, क्योंकि इस शरीरके साथ छूआ छूत् न रख करके भी मैं शरीर रूप विश्वको चिर-काल धारण कर रहा हूं" *। इसलिये पुरोहितोंके भीतर प्रधान बृहस्पति (बृहताम् पतिः बृहस्पतिः) ही मुझ को जानो। यहां जीव, ईश्वर और "मैं" इन तीनोंके भीतर मैं ही प्रधान हूं †।

---

* अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्ति हि मत्समः।
असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम्॥

† साधक! तुम देखो, जीव भी पुरोधस्, चित्त-प्रतिविम्ब भी पुरोधस्, फिर मैं भी पुरोधस्; इन तीनोंके भीतर "मैं" ही प्रधान हूं॥२४॥

"सेनानीनामहंस्कन्दः"--सेना कहते हैं जन समूह को अर्थात् जो लोग जनम ले चुके; वह लोग सब कोई "मैं" और "मेरे" इन दोनोंको लेकर लड़ाई कर रहे हैं; इस लड़ाई का परिचालक वासना है । वास होता है योनिमें अर्थात् स्थितिके स्थानमें; जिसका स्थितिका स्थान भी नहीं है ऐसी अलीक जो, वही वासना है; यह वासना ही सेनानी है । स्कन्दः = स् + क + न् + द + ः (स्) यह हलन्त स् युक्त हो करके अर्द्धस्फुरण दिखाता है । स = सूक्ष्मश्वास, क=मस्तक, न=नास्ति, द=योनि; तबही हुआ सूक्ष्मश्वासभी अति सूक्ष्मत्व लेकर मस्तकमें शून्ययोनि हो करके मुक्तिभाक् मात्र रहता है जिस समय, अर्थात् वासना नीचे दिशामें नाना भावसे परिचालित न हो करके सकल प्रकार कम्पनको त्याग करके जब एकाग्र भावसे मुक्तिके ऊपर लक्ष्य करके चलता रहता है, तब जो अवस्था होती है, उसीका नाम स्कन्दः है । इस अवस्था में और "मैं" में घनिष्ठ संक्रम है, इसलिये ः विसर्ग युक्त है । अतएव मैं स्कन्दः हूं (८म अः ३य श्लोकमें 'विसर्गः' देखो) ।

"सरसामस्मि सागरः" । सरसां—स + र + स + आं । स=सूक्ष्मस्वास, र=प्रकाश, स=सूक्ष्मश्वास, आं=आसक्तिः सूक्ष्मश्वासका प्रकाश होनेसे सूक्ष्मश्वासमें आसक्ति होती

है। साधक ! तुम देखो, वही आसक्ति सागरमें परिणत होती है; (सागर—सा = सूक्ष्मश्वासमें आसक्ति, गर = 'विष'), अर्थात् वही आसक्ति विषके सदृश विस्तार गति लेती है । निःश्वास और प्रश्वासके ऊपर लक्ष्य करनेसेही धीरे धीरे निःश्वास-प्रश्वास छोटी होते होते निरोध अवस्थाकी प्राप्ति कराती है; तब वह सीमाबद्ध सूक्ष्मत्व धीरे धीरे उड़ (मिट) कर अपरिसीम सूक्ष्म होकर खड़ा होता है । वह अपरिसीम सूक्ष्मही "अस्मि" अर्थात् "मैं" हूं। यह भीतरकी बात हुई। फिर बाहरमें जहां जितना जल रहता है, ताल, तलैया, नाला, तड़ाग, नद, नदी, जो कुछ, समस्त जलही समुद्रका है। और वह छोटे छोटे आकार भी सब समुद्र काही अंश-विकाश; परन्तु सीमाबद्ध है। समुद्र असीम और अनन्त है। इसलिये जलाधार रूपसे समुद्रमें ही "मैं" की विभूतिका पूर्ण विकाश है ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

अन्वयः । अहं महर्षीणां (मध्ये) भृगुः, गिरां (मध्ये) एकं अक्षरं अस्मि, यज्ञानां (मध्ये) जपयज्ञः अस्मि, स्थावराणां (मध्ये) हिमालयः (अस्मि) ॥ २५ ॥

अनुवाद । मैं महर्षिगणोंके भीतर भृगु, वाक्यके भीतर एकाक्षर, यज्ञके भीतर जपयज्ञ, और स्थावरोंके भीतर हिमालय हूं ॥ २५ ॥

व्याख्या । महर्षि (१०म अः ६ष्ठ श्लोक) उनको कहते हैं, जो लोग साधन-बलसे ऐशी शक्ति समुदयको अपने आयत्त कर चुके हैं । उनके भीतर मैं 'भृगु' हूं । 'भृ' = भरण करना और "गु"= अन्धकार । अन्धकारमें किसी वस्तु का परिज्ञान नहीं होता, इस-लिये साधुलोग अज्ञानताको भी अन्धकार कह करके निर्देश किये हैं । भृगु भी अज्ञानी असुरोंको पालन करते हैं । ब्रह्मज्ञानके पास कर्म्मकाण्डही अज्ञानता है, तबही हुआ, साधन-बलसे समुदय ऐशी शक्तिको प्राप्त हो करके भी जो पुरुष कर्म्मकाण्ड लेकर चलते फिरते हैं, उन्हीं की आख्या "भृगु" है । परन्तु कर्म्मकाण्ड लेकर खेल करते रहनेसे भी "भृगु" कभी ब्रह्मज्ञानसे विच्छिन्न नहीं होता । अविच्छिन्न ब्रह्मज्ञानमें जो मतवारा रहता है, वही पुरुष ही "मैं" है । भृगुमें कर्म्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनोंही अविच्छेद वर्त्तमान रहनेसे महर्षियोंके भीतर मैं "भृगु" हूं ।

"गिरा" कहते हैं वाक्यको । समुदय वाक्यके भीतर एकाक्षर प्रणव ही मेरा वाचक है । इसलिये वाक्य के भीतर एकाक्षर प्रणव ही "मैं" हूं ।

"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि"—यज्ञके भीतर अजपा-जपरूप यज्ञ मैं हूं। क्योंकि, इसीसेही ब्राह्मीस्थिति लाभ होती है। अग्निमें साकल्यके आहुतिका नाम यज्ञ है। (तिल, यव, व्रीहि, और गव्य घृत इकट्ठा मिलानेसे साकल्य होता है)। भूरि भोजनमें आदान-प्रदानको भी यज्ञ कहते हैं। निश्वास और प्रश्वासके त्याग-ग्रहणको भी यज्ञ कहते हैं। संसारमें नाना प्रकारके यज्ञ हैं, उन के भीतर अजपारूप जपयज्ञ "मैं" हूं। जप उसको कहते हैं जो अभ्याससे जापकको, अभीष्ट देवके साथ मिलाकर एक कर देवे। यह भीतरकी बात है। साधक में और "मैं" में बाहर बाहर जो विच्छिन्न भाव है, इस विच्छिन्नताको (गुरूपदिष्ट) क्रियासे मिटाकर जो "स्वयमेवात्मनात्मानं" अवस्था करा दे, उसीको जप-यज्ञ कहते हैं। अतएव वही "मैं" हूं।

"स्थावराणां हिमालयः"—स्थावर कहते हैं तीन कालमें जो हिलता डोलता नहीं। "स्था" शब्दमें स्थिति, "वर" शब्दमें श्रेष्ठ, अर्थात् जितने प्रकारका श्रेष्ठ स्थिति (साधकका विश्राम) है, उन सबके भीतर "मैं" हिमालय हूं। हिम कहते हैं शीतल को (जिसमें उष्णतामात्रका अभाव; उष्णतामेंही चञ्चलता); आलय कहते हैं घर-मुकामको अर्थात् जहां रहनेसे उत्कण्ठा

रहती नहीं । आ=शून्य, लय=परिणाम, जो अचल, अटल, स्थिर, शान्त, शीतल, परिणमनता शून्य है, उसी कोही हिमालय कहते हैं । और तादृश (सोई) हिमालय ही 'मैं' हूं ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणाञ्च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

अन्वयः । (अहं) सर्ववृक्षाणां (मध्ये) अश्वत्थः, देवर्षीणां च नारदः, गन्धर्वाणां चित्ररथः, सिद्धानां कपिलः मुनिः (अस्मि) ॥ २६ ॥

अनुवाद । मैं वृक्ष समूहके भीतर अश्वत्थ, देवर्षियोंके भीतर नारद, गन्धर्वोंके भीतर चित्ररथ और सिद्धपुरुषोंके भीतर कपिलमुनि हूं ॥२६॥

व्याख्या । अश्वत्थः—अ+श्व+त्+थ । 'अ'=नास्ति+"श्व"=दूसरे रोजके प्रभात काल; अतएव 'अश्व' अर्थमें समझाया जिसमें दूसरे रोज नहीं है, जो चिरन्तन अनादि है। 'त'=तरण वा पार होना, "थ"=पञ्चप्राण, पञ्चदेव, त्रिशक्ति और त्रिबिन्दु युक्त कुण्डली शक्ति माया । तभी हुआ माया पारमें जो चिरन्तन अनादि, वही अश्वत्थ है। वृक्ष—वृक्ष्=वेष्टन करना, और अ=नास्ति; जिसको कोई वेष्टन कर नहीं सकते, जिससे कोई बड़ा नहीं, जो सबसे बड़ा, वही वृक्ष शब्द वाच्य है । यह जो पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, ये सबभी महानसे महान् हैं । इन

सबकोही "सर्व" कहते हैं। ये सब भी "वृक्ष" हैं। क्योंकि, इन सबको भी वेष्टन करना सहज नहीं है। परन्तु वृह् धातु मन् प्रत्यय में जो अर्थ संग्रह होता है, जिसको ब्रह्म कहते हैं; भूत प्रपञ्च उस ब्रह्मके तुलनामें नगण्य, गिन्ती में आताही नहीं, अस्थायी और सीमाबद्ध है। वह ब्रह्म "मैं" बिना और कोई नहीं है, और वह प्राकृतिक पदार्थ जितना बड़ाही हो, कोई भी मुझ (मैं) को वेष्टन कर नहीं सकता; इस कारणसे सब वृक्षोंके भीतर मैं "अश्वत्थ" हूं। अश्वत्थ=क्षणविध्वंसी अर्थात् जहां क्षणका भी उदय नहीं होता।

"देवर्षि" एक अवस्था विशेष है। जिस अवस्थामें कारण मूर्त्ति और अर्थके साथ प्रत्येक वर्णका परिज्ञान होता है उसीको ऋषि-अवस्था कहते हैं। देवतोंके भीतर जो लोग इस अवस्थापन्न हैं, वह समस्तही "देवर्षि" हैं; उन सबके भीतर मैं नारद हूं। "नार" शब्दमें विष्णु, "द" शब्द में दान; विष्णुको जो मिला दे वही "नारद" हैं। "विष्णु" कहते हैं व्यापक-चैतन्य आत्माको। व्यापक-चैतन्यही ब्रह्म है; इस ब्रह्मका जो उपदेष्टा है, वही ब्रह्मविद् है। वह ब्रह्मविद्ही नारद है। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति", इस कारणसे नारद भी मैं हूं।

"गन्धर्वाणां चित्ररथः"। गन्धर्व--(गन्ध् अर्थमें हिंसा, अर्व अर्थमें गमन करना) अर्थात् युद्धकालमें जो लोग हिंसाके लिये गमन करते हैं, अर्थात् क्रिया लेने के बाद समयसेही मायिक विषयमात्रके ऊपर जिन सबका तीव्र अनास्था रहे। गन्धर्वगण मार्ग (ऊपर-वाले), और देशवाली (जातीय) दो प्रकार संगीत जानते हैं और शिक्षा देनेमें भी क्षमवान हैं; परन्तु संगीत शास्त्रमें भी उन सबका सम्यक् संस्कार नहीं है। यहां भी साधकका सप्तसुरा नाद उठा है, मतवारा कर देता है, साधक उनमेंसे बहुतोंको समझता है, नहीं भी समझता है। कोई सिखे तो इतनी दूर तक उसको शिक्षा भी दे सकता है; ऐसे अवस्थापन्न साधकोंको गन्धर्व कहते हैं। इन सभोंके भीतर "चित्ररथ"--चित्र अर्थमें नानारंगके अंकन, और रथ कहते हैं विश्रामवाले अति उच्च स्थानको (इच्छानुरूप जिसका चालन और स्तम्भन किया जा सकता है)। साधकमात्रको यह स्थान मालूम है। इस स्थानमें उठके बैठनेसे मायाकी घोर नहीं रहती। जहां मायकी घोर नहीं है वहां जो रहते हैं उन्हींको "चित्ररथ" कहते हैं। मैं भी मायाकी घोरमें नहीं रहता इसलिये मैं "चित्ररथ" हूं।

"सिद्ध"--जो सब साधक साधना समाप्त कर चुके, और करनेका कुछ भी बाकी नहीं, केवल साधनाका

फलभोग मात्र अवशिष्ट है, वही सब सिद्ध हैं। इस अवस्थामें अन्तःकरणकी वृत्तिमात्र भी रहता नहीं; इस कारण से मुनि हैं। "मुनिः संलीनमानसः"—मानस-व्यापार जिनको सम्यक् लीन हो चुके, उन्हींको मुनि कहते हैं। इस अवस्थाके आनेसे साधक कपिलवर्ण मण्डलके भीतर आत्मदर्शन करते हैं। कपिलदेव पूर्व जन्ममें साधनाका अंग, सब समाप्त करके शरीर त्याग कर दिया था इससे उनका फल भोग केवल मात्र बाकी रहा। पुनर्जन्म प्राप्तिमात्र ही उन समस्त साधनाके फल उसमें उपस्थित हुए थे; इसलिये उसको जन्मसिद्ध कहते हैं। मेरा जन्म भी नहीं; साधनाका साङ्गोपाङ्ग समस्त सिद्धि भी हममें निरन्तर विद्यमान है, इसलिये मैं सिद्धोंके भीतर "कपिलमुनि" हूं॥ २६॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणाञ्च नराधिपम्॥ २७॥

अन्वयः। मां अश्वानां (मध्ये) अमृतोद्भवं उच्चैःश्रवसं, गजेन्द्राणां ऐरावतं, नराणां च नराधिपं विद्धि॥ २७॥

अनुवाद। अश्वोंके भीतर अमृतोद्भव उच्चैःश्रवा कह करके मुझको जानना, गजेन्द्रोंके भीतर ऐरावत और मनुष्योंके भीतर नरपति कह कर जानना॥ २७॥

व्याख्या। जब साधक सुषुम्नाके भीतर ब्रह्मनाड़ी से होकर (उस ब्रह्मनाड़ीकोही क्षीरसमुद्र कहते हैं) यथोपदिष्ट मतमें आवागमन करते हैं उसीको समुद्र-मथन कहते हैं। क्रिया करते करते प्रवह, संवह, विवह उद्वह, आवह, परिवह, और परावह इन सात प्रधान वायुका उदय होता है। इनके भीतर संवहके परिवार भुक्त अपान; विवहका समान, उद्वहका व्यान, आवह का उदान और परिवहका प्राण है। प्राणका कार्य्य शरीरके भीतर रहकर शरीरकी रक्षा करनी, और अपानका कार्य्य शरीरके भीतरसे प्राणको बाहर ला फेकना है। प्रति निश्वास प्रश्वास मेंही इन दो वायुओं का संघर्ष चल रहा है। परन्तु क्रिया-कालके संघर्ष में थोड़ीसी विशेषता है। प्रत्येक कमलके प्रत्येक दल में शक्तिरूपसे एक एक वायु रहते हैं। वह जो एक एक वायु है, उन सबकी सामञ्जस्य रखनेके लिये मूलाधारसे सहस्रार पर्य्यन्त प्रति कमलमें यथाक्रम अनुसार, कीर्त्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, और क्षमा नामसे सात मातृका शक्ति हैं। क्रियाकालमें जब बहिराकाशकी वायु शरीरमें प्रवेश करती है, तब मूलाधारसे कीर्त्ति उठती है और सहस्रारसे क्षमा उतरती है, इन दोनों शेष शक्तिके आवागमन में

समुदय मध्य शक्तिकी अवस्थान्तर प्राप्ति होती है। क्षमाके स्थानमें कीर्त्ति जब उठ बैठी, तत्क्षणात् कीर्त्ति की कृतीत्व लोप होगया, और क्षमा कीर्त्तिके स्थान को अधिकार करतेही वहां क्षमात्वका विस्तार कर देता है। बीच वाली शक्तियां जिस प्रकार प्रारम्भिक अवस्थामें क्रिया करती थीं (जो सृष्टि-पालिनी थी), अब उनके क्रियायें विपरीत होगईं, अर्थात् ब्रह्ममुखी होगईं। इसलिये षट्पद्मके प्रतिपत्रके वायुकी विपरीत गति हुई, अर्थात् संसार-मुखमें जोजो कार्य्य करती थीं, सो सब समेट कर असंसार-मुखमें अपनी अपनी शक्ति फेकने लगीं। इन समस्त समष्टि शक्तिसे चौदह प्रकारके स्वरका आविर्भाव हुआ। ये समस्त शब्द विच्छेद शून्य निरन्तर और ऊँची दिशामें सुना जाता है; इसलिये "उच्चैःश्रवसं" नाम रक्खा गया और यह अविच्छेद निरन्तरत्व हममेंही प्रतिष्ठित रहनेसे मैं ही उच्चैःश्रवा हूं। उच्चैःश्रवा अश्वके भीतर प्रधान है। अश्व क्या है? अश्व कहते हैं दूसरेको जो अपनी पीठपर लादकर घुमे अर्थात् भारवाही पशु। शरीरके भीतर जो सब वायु निश्वासरूपसे मनको पीठपर धरकर बाहर लाके शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धको संग्रह कराकर फिर प्रश्वास रूपसे भीतर मनोमय कोषमें ले जाकर उन सबको भोग

करावे, वही निश्वास और प्रश्वास रूप दोनों प्रकार की वायुको अश्व कहते हैं। इनमेंसे मनको जो नादके भीतर ले जाकर तद्विष्णुका परमपद साक्षात् करा देता है, वही उच्चैःश्रवस् है, जैसा ऊपर कहा गया है।

विच्छेद ही मृत्यु है और अविच्छेद अमृत। इस अविच्छेदके ध्वनिसे इस अवस्थाका परिज्ञान होता है इसलिये उच्चैःश्रवस्को अमृतसे उत्पन्न ("अमृतोद्भव") कहा गया है। क्योंकि, इस अवस्थामें साधकका सहस्रारसे क्षरित सुधा अविश्रान्त मूलाधार स्थित क्षमाको अभिषेक करता रहता है; और उसी अमृतकी गति पलट जानेके सबब से उसमें और अपक्षय नहीं होता। इस अपक्षय शून्य अवस्थामेंही वह स्वर श्रवणमें आता है। इस अवस्थामें शक्ति-अग्निकी क्रिया होती है (बहिर्मुखी वृत्ति नहीं रहती), इसलिये उच्चैःश्रवाको इन्द्रका वाहन कहते हैं।

"ऐरावतं गजेन्द्राणां"। ऐरावत—(इरा=जल, और वत्=सदृश) जलके सदृश, परन्तु जल नहीं, तृष्णा निवारण-क्षम तृप्ति विशेष। "गज" कहते हैं जो स्पर्श-सुखसे गल जाता है, जो स्पर्श-सुखसे आत्महारा होता है। और इन्द्र कहते हैं श्रेष्ठको। अर्थात् जो केवल स्पर्श-सुखसे आत्महारा होकर जगत्के समस्त विषयोंका तृष्णा निवारण-क्षम तृप्ति भोग करे उसको 'गजेन्द्र' (ऐरावत)

कहते हैं। अब साधक! तुम अपनेमें इसे मिला लो। जब तुम मणिपुरसे अष्टधा वलयाकारा स्थान भेद करके अनाहत (मोहके स्थान) भेद करने चलो, उस समय तुम स्पर्श-सुखसे इतना मोहित इतना आत्महारा होते हो जिसमें, तुम्हारे शरीरके सब रोम खड़े हो जाते हैं; तुम्हारे सारे शरीरमें कम्पन आजाता है,—शीत नहीं, ठण्ढा नहीं परन्तु कम्पन; ऐसा कम्पन जिसका किसी प्रकार निवारण किया जा नहीं सकता,—तुम्हारे पगसे मस्तक पर्य्यन्त भीतर बाहर कम्पायमान करा देता है। उस समय तुम्हारे हृदयमें और मस्तकमें ऐसी सुरसुराहट ठण्डी ठण्डी स्पर्शशक्तिकी अनुभूति होगी, जो तुमको जगत्के समस्त भोगोंकी तृप्ति मिला देती है। कोई विषय नहीं, कोई भोग नहीं, किसीकी प्राप्ति भी नहीं, परन्तु समस्त प्राप्तिकी प्राप्ति पाते पाते ऊपर उठकर तुम विलीन हो जाते हो। तब तुम्हें क्या बाहर, क्या भीतर (अभ्यन्तर) किसी प्रकारका बोध नहीं रहता। इस अवस्थामें कूटस्थमें पूर्व दिशामें श्वेत हस्तीका दर्शन होता है। यह अवस्था हम (मैं) से भिन्न नहीं है, इसलिये गजेन्द्रोंके भीतर मैं ऐरावत हूँ।

"नराणां च नराधिपम्"—नर समूहके भीतर मैं नराधिप हूँ। नर—'नृ' शब्दके अर्थ लेना पाना है; "अ"—नास्ति बाचक शब्द है। जिस अवस्थामें लेना पाना नहीं रहता, वही

"नर" अवस्था है। लेना पाना जो कुछ है वह विषयमें ही है; विशुद्ध कमल पर्य्यन्त विषय हैं। विषयके ऊपर (आज्ञाचक्रमें) उठनेसे ही आत्मोन्नतिका अधिकार आता है। जिसने आत्मोन्नतिका अधिकार प्राप्त किया है; उसीको नर कहते हैं। फिर आज्ञाचक्रके ऊपर उठ कर न उतरनेसे ही अधिप (राजा) होता है। क्योंकि यहांसे आत्मोन्नति भी होती है और अनासक्त-भावमें रहनेके लिये विषयादि को भी पालन किया जा सकता है। इस स्थानमें रह कर उत्तम पुरुष विष्णुका दर्शन करके तदाकारत्व प्राप्ति होती है। पालन जो करे वही राजा है। भगवान् विष्णु इस जगत्को (विषयादि भोगके स्थानको) पालन करते हैं, तथा निर्लिप्त-भावसे रहते हैं, इस कारण वह योगेश्वर हैं। इसलिये कहता हूं कि नर समूहके भीतर नरश्रेष्ठ राजाही विष्णु हैं। और वही विष्णु "मैं" हूँ ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

अन्वयः । अहं आयुधानां वज्रं (अस्मि), धेनूनां कामधुक् अस्मि; (अहं) प्रजनः कन्दर्पः अस्मि, सर्पाणां च (मध्ये) वासुकिः अस्मि ॥२८॥

अनुवाद । मैं आयुध (अस्त्र) समूहके भीतर वज्र, धेनुओंके भीतर कामधेनु, प्रजागणोंके उत्पत्तिका कारण स्वरूप कन्दर्प, और सर्पोंके भीतर मैं वासुकि हूँ ॥ २८ ॥

व्याख्या। "आयुधानां अहं वज्रं"—आयुधोंके भीतर मैं वज्र हूं। आ+युध्+अ, जिससे युद्ध किया जाता है। अस्त्र, शस्त्र प्रभृति प्रहार-साधन द्रव्योंको आयुध वा प्रहरण कहते हैं। प्रहरण—प्र=प्रकृष्ट+हृ=हरण करना+अनट्, जो प्रकृष्ट पूर्वक हरण करते हैं। जिसके ऊपर प्रयोग किया जाय, उसीका अस्तित्व हरण करते हैं इससे इसका नाम प्रहरण है। इस शरीरके भीतर प्रहरण स्वरूप वायुही एक मात्र आयुध है। फिर वायुने शरीरके नाना स्थानोंमें रहकर नाना प्रकारके नाम धारण किये हैं। उन सबके भीतर वज्र (वज्=गमन करना, रं = अग्निबीज; अग्नि स्वयंप्रकाश और पर प्रकाशक है) स्वयं भास्वर, गतिविशिष्ट और जिसके ऊपर पड़ते हैं, उसीका अस्तित्व हरण करने की शक्ति रखते हैं, ऐसा जो हैं उसीको वज्र कहते हैं। जिस महा वायुकी क्रियासे शरीरका अस्तित्व सम्पादन होता है, वही परमाराध्य, परम पूजनीय, प्राणेश्वर प्राणही को वज्र कहते हैं। अवसर मत उस महाशक्ति को जिस पक्षसेही प्रयोग किया जाय उस पक्षकोही (प्रयोग कर्त्ताको) वह जय देते हैं (साधककी यह जानी हुई बात है)। जय चिरकालसे हममेंही प्रतिष्ठित है। इसलिये आयुधोंके भीतर जयशील वज्र मैं ही हूं।

"धेनूनामस्मि कामधुक्"। कष्टशून्य पेट भरने

वाला भोग (पानीय) जिनसे मिलता है उन्हींको धेनु कहते हैं। इस शरीरके भीतर जिस अमृतका क्षरण होता है, उस अमृतको पान करके अमर पदमें जानेके समय ऐसी एक अवस्थामें पहुंचना होता है कि वहाँ जिस चीजकी चाहना होती है वह मिल जाती है। इसलिये उस अवस्थाको "कामधुक्" कहते हैं। मेरी वह अवस्था "मैं" के अति निकट और प्राय आकर "मैं" में मिला हुआ है; इस कारण "धेनुओंके" भीतर मैं "कामधुक्" (कामधेनु हूं)। धेनु—"धे" शब्दमें पानीय, और "नु" शब्द कर्त्ताको समझाता है। अर्थात् जो पानीय-भोग दान करते हैं उन्हींको धेनु (दुग्धवाली गाभी) कहते हैं। जितने प्रकारके भोग हैं, उनके भीतर पानीय कष्टशून्य उदरपूरक है। यह भोग धेनुसे मिलता है; इन धेनुके भीतर फिर कामधुक् से इच्छा मात्रही परम सुखसे वह भोग मिलजाता है। "काम" कहते हैं इच्छाको, "धु" कहते हैं कम्पन को, और "क" कहते हैं आत्मा को। कामधुक् शब्दका अनुभूति समझना हो तो भोगेच्छा में जो अविरोधि आत्मकम्पन है उसीको समझना होगा। यह सबसे कष्ट-शून्य श्रेष्ठ भोग है। अब साधक तुम देखो! ठीक तुम्हारे उस प्रकृतिपुरुष-विवेक ज्ञानके पश्चात् मायासे आत्मत्व लेनेके लिये आत्माकी दिशामें जो

झुकाव है,—जो निषादके (सप्तस्वरके शेष स्वर जो 'नि' उस 'नि' का भी सर्वोच्च अन्तिम स्वरकम्पनके) सदृश; सुर (को) छू छू करके छूने नहीं पाकर घुम आना फिर छूनेकी लालसा में छूते जाना, यह जो अविश्रान्त आना जाना है, यही कामधुक् अवस्था है। इस अवस्थामें तुम्हारा "मैं" बिना दूसरा लक्ष्य नहीं रहता परन्तु "मैं" में गिरते गिरते भी गिरने का अवसर नहीं ले सकते। यह जो आवागमन रूप कम्पन है, वह कम्पन होनेसे भी "मैं" में मिलाहुआ कह करके "मैं" बिना और कुछ नहीं है। इस अवस्थामें स्थित साधकका अन्तःकरण जो कुछ चाहता है उसे वह पाता है। इसलिये धेनुओंके भीतर मैं "कामधुक्" हूं।

"प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः"।—'प्र' शब्दसे ख्याति अर्थात् नाम-घोषणा, 'जन' शब्दसे जन्माना, और 'अ' शब्दसे कर्त्ताका बोध होता है। जनमते मात्र जिसका नाम घोषणा होय अर्थात् नाम पड़े (संसारमें जो कुछ दर्शनीय है) वही "प्रजन" है।

"कन्दर्प"। कं=सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा+दृप्=सन्दीपन करना +अ (अन्) कर्त्तृवाचक शब्द। अर्थात् जन्म लेते मात्र सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माको (जो जिसकी सृष्टि करता है, वह उसी का ब्रह्मा) जो सन्दीपित (मोहित) करता है वही

कन्दर्प है । अब साधक ! एक बार मेरा दर्शन करो; जनम लेनेके पहले मेरा कोई नाम नहीं था जनम लेनेके पश्चात् नामका संयोग हुआ था । फिर जिससे जनम लिया, उसी सृष्टिकर्त्ताको "मैं" मेरेमें मतवाला कर रक्खा । इस कारण से "प्रजन" और "कन्दर्प" इन दोनों शब्दोंकाही प्रयोग स्थल "मैं" हूं ।

"सर्पाणामस्मि वासुकिः"–सर्प कहते हैं जिन सब साँप के फण है (विषधर)। फणाधारी सर्पोंके भीतर मैं वासुकि हूं । वासुकि=वसु+क । वसु कहते हैं स्वप्रकाश मणि रत्नको,—जैसे हीरा, चुन्नी इत्यादि; और क=मस्तक । फणाधारी सर्प (सर्प सब बिषधर हैं) मस्तकमें स्वप्रकाश मणिरत्न रहेगा, ऐसा जो श्रेष्ठ सर्प है वही वासुकि है । स्वप्रकाश मैं बिना और कोई नहीं; इस कारण मायाकी जो कोई अवस्था मेरे साथ मिली रहे वही अवस्था श्रेष्ठ वा राजा शब्द वाच्य है। इसलिये मणिभूषित श्रेष्ठ सर्पोंके भीतर मैं वासुकि हूं ।

मेरी अपनी कोई अवस्था नहीं है। माया नामसे कोई चीज़ भी आजतक पैदा नहीं हुई । केवल मान लेनेके लिये अन्तःकरणके धर्म्ममें जिस्का स्फुरण होता है वही माया का प्रकाश है (मा=नास्ति वाचक शब्द, या=अस्ति वाचक शब्द) । वह अन्तःकरणके धर्म्म जब मुझको

लेकर खेल करे, वही मायाकी श्रेष्ठ अवस्था है। गुरूपदेश अनुसार क्रिया करते करते साधक कूटस्थमें फणाधारी ज्योतिर्म्मय मणिभूषितमस्तक जिस सर्पका दर्शन करते हैं, वही सर्प वासुकिकी प्रतिकृति है ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्य्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

अन्वयः। अहं नागानां (निर्विषाणां राजा) अनन्तः (शेषः)। यादसां च (अब्देवतानां च राजा) वरुणः अस्मि; अहं पितॄणां अर्य्यमा च (तथा) संयमतां यमः अस्मि ॥ २९ ॥

अनुवाद। मैं नागगणोंके भीतर अनन्त, और जलदेवताओंके भीतर वरुण हूं; मैं पितृलोगोंके भीतर अर्य्यमा, और नियन्तृगणोंके भीतर यम हूं ॥ २९ ॥

व्याख्या। "अनन्त" उसको कहते हैं जिसका कूल किनारा नहीं है। 'नाग'=न+अग; न=नास्ति, अग=सर्प, अर्थात् जो सर्प नहीं परन्तु सर्पके सदृश है। सांपमें विष रहता है, इसमें विष नहीं। सर्पमें महीन मोटे आकारसे आदि अन्तका बोध कराता है, इसमें फण न रहनेसे केवल लम्बाही लम्बा (कूटस्थमें देखनेमें आता है); इस नागराजको ही अनन्त कहते हैं। यही

क्षीर-सागरमें विष्णुकी शय्या है; वही विष्णु 'मैं' हूं। हममें सर्वदा तन्मयत्व हेतु अनन्त 'मैं' रूपसे अवस्थित है; इसलिये नागोंके भीतर 'मैं' अनन्त हूं।

"वरुणो यादसामहम्"। 'वरुण'—वृ=वेष्टन करना, और उनन् शब्दमें संज्ञा;—अर्थात् जो वेष्टन करके रहते हैं। समुद्र वा रसतत्त्व पृथिवी को वेष्टन किये हुए हैं। "यादः"=जलदेवता, जैसे कूप, ह्रद, तड़ाग, नदी, नद प्रभृति। प्रत्येक ये सब जगत् की जीवनी शक्ति हैं। इन सबके भीतर रस अर्थात् पुष्टिकरण शक्ति रूपसे मैं विराजता हूं। इन छोटी शक्तिओंका आश्रयस्थल समष्टि-शक्ति अनन्तदेव सागर स्वरूप वरुणही 'मैं' हूं।

"पितृणामर्य्यमा चास्मि"। "अर्य्यमा"—अर्य्य (ऋ=गमन करना)+मन्+कनिन्; कनिन् अर्थमें दीप्ति पाना। तबही हुआ शरीरत्याग के पश्चात् जो पितृलोक में गमन करके उत्तमता और दीप्तिको प्राप्त होते हैं, उन्हें अर्य्यमा कहते हैं।

साधक! तुम देखो, क्रिया विशेषसे जब तुम चित्राणी के भीतर ब्रह्मनाड़ीमें अति सुक्ष्मरूपसे रहते हो, तब तुम्हारा स्थूलशरीरमें रहना नहीं होता। ऐसा कि तुम्हारा स्थूलदेह है कि नहीं तुम्हें इसकी भी होश नहीं रहती (स्थूल देहको छोड़कर जो लोग रहते हैं, वही

पितृलोक हैं)। इस अवस्थामें तेजोराशीके भीतर कूटस्थमें जो पुं मूर्त्ति (आत्मस्वरूप) का दर्शन होता है वही पितृदेव अर्य्यमा है। साधक को उत्साह देनेके लिये यह पूजनीय देवता उपयोगी समयमें उपस्थित होकर आशीर्वाद करते हैं। स्थूलदेहसे अलग ज्योतिर्म्मय स्वस्वरूपका दर्शन कूटस्थ में होता है इससे वह अर्य्यमा भी 'मैं' हूं।

'यमः संयमतामहम्'। 'यम' कहते हैं संयमनी-पुर के अधिपति को। यम्=निवृत्ति करवाना+अन्=संज्ञा; अर्थात् जो निवृत्ति करवाते हैं वही यम हैं। निवृत्ति कहते हैं अन्तःकरण की वृत्तिशून्य अवस्थाको। प्रत्याहार के बाद धारणा, ध्यान, समाधिके एकत्र समावेश अवस्था का नाम संयम है। जिस अवस्थामें हिंसा नहीं रहती, सत्य ('सत्यं परहितं प्रोक्तं') अचौर्य्य, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह प्रतिष्ठित रहता है, उसीको 'यम' अवस्था कहते हैं। जीवित रह करके भी जिस अवस्थामें 'मैं' मुर्दा सदृश रहता हूं, (मृत्यु नहीं, निद्रा नहीं, मूर्च्छा नहीं, अज्ञानता भी नहीं, तथापि एक प्रकार कष्टशून्य होकर रहनेके सदृश रहना), जब यह अवस्था अति दीर्घकाल तक स्थायी होती है (ऐसा कि जब धारणा ध्यान, समाधि भंगकी आशंका तक भी नहीं रहती), तबही यम अवस्था होती है। संयम छोटी और यम बड़ी अवस्था है। ये दोनोंही हमारी अवस्थायें हैं। इसलिये

संयमके भीतर मैं 'यम' हूं । इस शरीर कोही प्रेतपुर कहते हैं ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

अन्वयः । अहं दैत्यानां (मध्ये) प्रह्लादः कलयतां (वशीकुर्वतां) च मध्ये कालः अस्मि, अहं मृगाणां च (मध्ये) मृगेन्द्रः (सिंहः) पक्षिणां च (मध्ये) वैनतेयः (गरुड़ः अस्मि) ॥ ३० ॥

अनुवाद । मैं दैत्यगणोंमें प्रह्लाद, वशीकरियोंके भीतर काल, मृगगणोंके भीतर मृगेन्द्र (सिंह), और पक्षियोंके भीतर गरुड़ हूं॥३०॥

व्याख्या । "प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां" । प्रह्लाद—(प्र = ख्याति + ह्लाद = आह्लादित होना + अन्) जो आह्लाद (खुसियाली) के लिये ख्यातिमान् है, वही 'प्रह्लाद' है।

दैत्य—दितिसे जिस वंशकी उत्पत्ति है । दिति पुत्र-कामनाके लिये अनार्य्य-समयमें कश्यपके पास जाती थी; इसलिये उनसे असत् वंशकी उत्पत्ति हुई । असत् का अस्तित्व नहीं है, इसलिये यह वंश मरधर्म्मी है । किसी समयमें इस वंशके किसी एक पुरुषने सज्जन (नारद) की कृपासे असत्का 'अ' लोप कर दिया था; तब उसमें सत् मात्र विद्यमान था । सत्में क्षयोदय नहीं है । विष्णुही सत् शब्दका वाच्य वा बोधक है । 'ह्लाद' विष्णुमें

ही प्रतिष्ठित है। दितिके वंशमें उस ह्लाद रूप विष्णुका अधिष्ठान जिस पुरुषमें हुआ था, उन्हींको 'प्रह्लाद' कहते हैं। वही प्रह्लाद 'मैं' हूँ।

'कश्यप'—कश्य अर्थमें मद्य है, जो मतवाला करादे; और 'प' पान करनेको कहते हैं। साधक! तुम अपने भीतर प्रवेश करके मिलालो। जब सुधाधारा विलोम गति लेकर तुमको मतवाला करती है, तब तुम्हारे अन्तःकरण में किसी क्रियाका भी स्फुरण नहीं रहता, अथच तुम निष्क्रिय भी नहीं होते। तुम अपनी इस अवस्थाकोही कश्यप-अवस्था जानो। इस निष्कलंक अवस्थामें पूर्वकृत विषय भोग के संस्कार का उदय होनेसे कभी कभी तुम्हारे उस स्थिरत्व में जो कम्पन आता है, वही तुम्हारी दिति-अवस्था है। इस समय तुम्हें थोड़ासा बाह्य दिशामें होश रहता है, और अपरूप सुवर्णमय भीषण ज्योति तुमको ग्रास कर ढांक लेता है; तुम्हारी यह अवस्थाही हिरण्यकशिपु-अवस्था है। हिरण्य शब्दमें सुवर्ण, और कशिपु ग्रास-आच्छादन को कहते हैं। तुमको अधीन करने के लिये प्रकृतिकी यह मनोहारिणी चेष्टा भी जब विफल हो जाती है, उस विफलताको अनुभव करके तुममें जो अपूर्व हर्षोत्पत्ति होती है, वह हर्षही 'प्रह्लाद' है।

'कालः कलयतामहम्'। 'कलयतां'=वशीकरियों में। मणि मन्त्र महौषधिसे भी वशीकरण होता है। जितने प्रकार की वशीकरी शक्ति हैं, उन सबके भीतर मैं सर्व-वशी 'काल' हूं।

काल—'क' शब्दसे ब्रह्मलोकका बोध होता है, 'आ' शब्दसे अन्तरीक्ष, 'ल' शब्दसे पृथ्वी। ये तीनों मिलकर भूवनकोष हैं। इसके भीतर जो कुछ पदार्थ हैं सो सब इस कोषके वशीभूत हैं, अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति, लय इसी कोषके भीतर होती है। जो जहां है सो उसी स्थानमें ही काम करता है, अपना स्थान छोड़कर हटने का अधिकार किसीको नहीं। फिर यह कोषभी हममें ही प्रतिष्ठित है। अतएव वशीकरियोंके भीतर काल रूपसे 'मैं' ही विद्यमान हूं।

'मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं'। मृग कहते हैं पशुको। पशुओंके भीतर मृगराज सिंह मैं हूं,—(जो कूटस्थ में देखा जाता है) अन्तर्लक्ष्य करके मृगशब्दमें याचना; याचना समूह के भीतर श्रेष्ठ है मुमुक्षुता।

'वैनतेयश्च पक्षिणाम्'। वैनतेय—विनताके गर्भ-जात अण्डज गरुड़। विनता का अर्थ विशेष नम्रशील है। साधक! तुम देखो, क्रिया करते करते तुम्हारी दो अवस्था होती हैं। एक अधः, दूसरी ऊर्ध्व। जब पञ्च

कर्म्मेन्द्रिय पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च प्राण लेकर मन बहिर्मुखी वृत्तिमें विषय भोग करनेके लिये पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर का आश्रय लेता है उसे ही कृष्ण गति; अर्थात् अविनता अवस्था कहते हैं। और जब तुम बहिर्वृत्ति समेट कर ऊर्ध्वमुखमें शुक्लगति लेते हो, तब तुम इन पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्म्मेन्द्रिय और पञ्च प्राणको लेकर (तुम्हारे स्थूलशरीरके साथ जाग्रतावस्थाको परित्याग करके) सूक्ष्म शरीरमें क्रिया करते हो; वही तुम्हारी विनता अवस्था है। इस समय तुम एक प्रकार स्वप्नवत् अवस्थामें रहकर कूटस्थका अण्डाकार स्थानमें सुन्दर पर वाले सोनेके रंगका जिस पक्षिको देखते हो, वही गरुड़ है; विषय रूप विषको यही नाश करता है, इसलिये इसका नाम गरुड़ है (गर + उड़); 'गर' शब्दका अर्थ विष, 'उड़' शब्दका अर्थ उड़ा देना है। जो विषको उड़ा देते हैं, उन्हींका नाम गरुड़ है। इस अवस्थामें मन विषय-शून्य होकर चिदाकाशमें रहता है। हममें भी विषय नहीं है। और इस शुक्ल और कृष्णको पक्ष कहते हैं। जिन सबका पक्ष है आकाशमें घूमते हैं, वही सब पक्षी हैं। इसलिये पक्षियोंके भीतर गरुड़ 'मैं' हूँ॥ ३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

अन्वयः । अहं पवतां (पावयितृणां वेगवतां वा मध्ये) पवनः, (तथा) शस्त्रभृतां रामः (दाशरथिः) अस्मि । (अहं) झषाणां (मत्स्यादीनां मध्ये) मकरः च अस्मि, स्रोतसां (मध्ये) जाह्नवी (गङ्गा) अस्मि ॥ ३१ ॥

अनुवाद । पवित्र करनेवाले पदार्थोंके भीतर मैं पवन हूं, शस्त्रधारियों के भीतर मैं राम, मत्स्योंके भीतर मैं मकर, और स्रोतस्विनी नदियोंके भीतर मैं जाह्नवी (गङ्गा) हूं ॥ ३१ ॥

व्याख्या । "पवनः पवतामस्मि" । जितने प्रकारके शुद्धि करनेवाले पदार्थ हैं, उन सबके भीतर सर्वशुद्धिकर वायु मैं हूं । (साधकोंके लिये उज्ज्वल दृष्टान्त प्राणायाम है) । पवन--'पव' शब्द शुद्धि करनेको कहते हैं + 'अन्' कर्त्तृवाचक शब्द; अर्थात् जो शुद्ध करता है । मिथ्या ही अशुद्ध (विकार) है । माया-विकार हममें आकर पावन होता है इसलिये, 'मैं' सर्वशुद्धकरी 'पवन' हूँ ।

'रामः शस्त्रभृतामहम्' । 'राम' (परमात्मा) इस शरीरमें जो आत्माके साथ रमण करते हैं वही शस्त्र-

भृत् हैं। शस्--वध करना वा शासन करना। वायुही शरीर का शास्ता वा शासक है, इसलिये इसे शस्त्र कहते हैं। मेरुदण्ड-रूप धनुमें वायुरूप वाण योजना करके, प्रयोगमें सर्वजयी जो 'मैं' वही आत्माराम है। इस शरीररूपी रथमें दश इन्द्रियां दश दिशामें धावमान हैं; उन सबकी गतिको जो धारण कर लिया; वही दशरथ है। दशरथ-अवस्थासे आत्मा और परमात्माकी रमणोत्पत्ति होती है, इसलिये उस रमण-अवस्थाका नाम दाशरथी राम है। और दश इन्द्रियोंके यह निस्तब्ध अवस्थामें शरीरके मेरुदण्ड मध्य में सुषुम्ना-पथमें वायु चालित होनेसे आत्मा और परमात्मा का मिलनरूप रमणकार्य्य होता है इसलिये रामको शस्त्रभृत् और दाशरथी कहते हैं।

"रामः"—रा = विश्व + म = ईश्वर; इस विश्वका जो ईश्वर है, उसको 'राम' कहते हैं। शस्त्र कहते हैं जिसको हाथमें पकड़ रखके किसीको मारा जाय--जैसे खड्ग, परशु इत्यादि। और अस्त्र कहते हैं जिसको छोड़ कर मारना होता है—जैसे तीर, गुलेल, बन्दूक की गोली इत्यादि। शस्त्रके प्रयोग करने वालेको 'शस्त्रभृत्' कहते हैं।

विष्णुका तीन अवतार है। परशुराम, दाशरथी राम, और बलराम। दाशरथी रामने परशुरामको जय किया था इसलिये दाशरथीका प्राधान्य खुला था। फिर कृष्ण-

गत प्राणके लिये बलराममें प्राधान्य नहीं खुलके कृष्णमें खुला था। विभूतिके भीतर भी सर्वप्रधान विभूति असंगत्व है। यह असंगत्व दाशरथी राममें निरन्तर विद्यमान रहनेसे, दाशरथी रामकोही शस्त्रभृत् सिद्ध किया गया है। अब बात यह है कि अस्त्र कहो चाहे शस्त्र कहो, ये दोनों चीजही प्राकृतिक हैं। प्रकृति जिन सबका मूल है, वही सब प्राकृतिक हैं। "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्"। इस विश्वरूपा प्रकृति अस्त्र को धारण किया है, तथापि जिसमें असंगत्वका विच्छेद नहीं है, ऐसा जो राम, वही शस्त्रभृत् राम है। वह राम 'मैं' बिना और कोई नहीं हैं। (साधक! तुम अपने 'मैं'-अवस्थाको लक्ष्य करो, करने से ही अर्थके साथ तुमको तारक ब्रह्म राम-अवस्थाका परिज्ञान होगा)।

"झषाणां मकरश्चास्मि"। मत्स्योंके भीतर मैं मकर हूं। झष—'झ' शब्द नेपथ्य, और 'ष' शब्द श्रेष्ठ को कहते हैं। अन्तरालमें जितने प्रकारके श्रेष्ठत्व विराजित हैं (जैसे 'सोऽहं, मत्स'—वही मैं हूँ; 'सोऽहं ब्रह्मास्मि' मैं वही ब्रह्म हूं। 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैंही ब्रह्म हूं; इत्याकार जितना प्रकार साधन-संग्रामी शब्द हैं, अर्थात् जिनका साधन करनेसे ब्रह्ममय कराय देते हैं, वह सब अति ऊंचे ऊंचे विभूतिसे सुभूषित हैं। इन सभोंके भीतर 'मकर'।

("म" श्चन्द्रे च शिवे विष्णौ ब्रह्मणि च यमेऽपि च।
विषे च बन्धने मन्त्रे समयेऽपि प्रकीर्त्तितः॥
"क" स्याद् ब्रह्मणि विष्णौ च महेश्वरे समीरणे।
अर्काग्नियमदक्षेषु पार्थिवे च पतत्रिणि॥
कामे काले मयूरे च कलेवरेऽपि चात्मनि।
शब्दे दीप्तौ धने रोगे सुखशीर्षजलेषु च॥
"रः" पावके तथा तीक्ष्णे भूमौ कामानले धने।
इन्द्रिये धनरोधे च रामेऽनिले तथैव च॥)

जिसमें यमका नियामकत्व, कामका कामानल, चन्द्र की पुष्टि, शिवकी स्थिति, विष्णुकी व्याप्ति, ब्रह्माका कृतित्व, विषका संहारकत्व, पवनकी जीवनी, बन्धनकी कठोरता, मन्त्रकी सिद्धि, समयका अखण्डत्व, सूर्य्याग्निकी दीप्ति, दक्षका प्रजापतित्व है; जो ग्रहण करना जानते हैं, त्याग करना नहीं जानते, (जिसको ग्रहण करते हैं उसको छोड़ते नहीं, जैसे अस्तोन्मुख सूर्य्य-किरण-फलित छाया और सूर्य्य) उन्हींको 'मकर' कहते हैं। मकर पतित-पावनी गङ्गाका वाहन है। जो महाशक्ति पतितको पावन करती है, वह महाशक्ति भी मेरेही आश्रित है; इसलिये मैं झषोंके (मत्स्योंके) भीतर मकर हूँ।

"स्रोतसामस्मि जाह्नवी"। स्रोतस्वती वा प्रवाहिणी नदियोंके भीतर मैं जाह्नवी (गङ्गा) हूं। आदि अन्त रहने

से प्रवाहिणी नहीं होती । जिस प्रवाहका आदि, अन्त निर्देश नहीं किया जा सकता उसीको प्रवाहिणी कहते हैं,--जैसे निर्म्मल ज्ञानका प्रवाह है । इस निर्म्मल ज्ञान प्रवाहका आदि अन्त न रहनेसे गङ्गा कहते है । "गच्छतीति गङ्गा'; जिनकी अविच्छेद-गतिही गति है उसीको गङ्गा कहते हैं, वही जाह्नवी है । जह्नुमुनिने गङ्गाको पान करनेके पश्चात् अपने जानुदेशको चीर कर (गङ्गाको) बाहर निकाला था इस करके गङ्गाका नाम जाह्नवी है । जानु कहते हैं उरुसन्धिको, अर्थात् जो स्थान गतिकी उत्पत्ति करवाता है । जह्नु—हा के स्थानमें जह्+नु कर्त्तृत्वे । हा शब्दका अर्थ त्याग करना है; 'जह्नु'--जो सर्वत्यागी है । जह्नु राजर्षि है । ऋषियोंके भीतर जिसमें रजोगुण प्रधान हो, वही राजर्षि है । यह रजोगुणही संकल्प और विकल्पकी लीलाभूमि है, इसलिये इस क्षेत्रमें विमल ज्ञानका प्रवाह अभिभूत रहता है; यही जह्नुका गङ्गाको पान करना है । संकल्प-विकल्प, मनोमय कोषका खेल है । इस अवस्थामें रहनेसे वाक्यादिका स्फुरण नहीं होता इस करके इन्हें बाहर के लोग मुनि कहते हैं । फिर जब मौनी-अवस्थाको नष्ट करके ऋषि-वाक्यका (उपदेश प्रवाहका) प्रकाश पाता है, तत्क्षणात् अभिभूत ज्ञान-प्रवाहके अभिभव-आवरण खुलकर प्रवाह ही प्रवाह दिखाई पड़ता है; वही

"जाह्नवी" है। वह निर्म्मल ज्ञान-प्रवाहही हमारा स्वरूप है। 'ज्ञानप्रवाहा विमलेति गङ्गा'; इसलिये 'मैं' स्रोतस्वतीयोंके भीतर गङ्गा—'जाह्नवी' हूँ ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यञ्चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

अन्वयः। हे अर्जुन! सर्गाणां (सृष्टीनां) आदिः अन्तः मध्यं च अहं एव; (अहं) विद्यानां (मध्ये) अध्यात्मविद्या (आत्मविद्या); प्रवदतां (वादिनां) अहं वादः ॥ ३२ ॥

अनुवाद। हे अर्जुन! सृष्टिका आदि, अन्त और मध्यमें मैं हूं, विद्या के भीतर मैं अध्यात्मविद्या, और वादिगणोंमें (वाद, जल्प, वितण्डा प्रभृतिके भीतर) मैं वाद हूं ॥ ३२ ॥

व्याख्या। 'सर्ग' कहते हैं स्तरको, अर्थात् जिसका आदि अन्त मध्य है। यह विश्वभी आदि-अन्त-मध्य विशिष्ट है। हे अर्जुन! हे साधक! मैं ही यह विश्वरूप स्तर हो करके तुम्हारे सामने विद्यमान हूँ। आकाशमें बांध देकर खण्ड करने जाओ तो, स्थूल दृष्टिकी भ्रान्ति से आकाशका खण्ड होना प्रतीत होने पर भी, सचमुच आकाश जैसा खण्ड नहीं होता, और उसी खण्डके आदि अन्त मध्यमें आकाशके विद्यमानताका अभाव भी जैसे नहीं होता; वैसेही अखण्ड ब्रह्ममें मायाकी दीवाल देकर

कल्पना की जोरसे एक 'मैं' को बहुधा विभक्त करने से भी (उनके विद्यमानता मायानेत्रसे प्रत्यक्ष करा देने पर भी), ब्रह्म अखण्डही रहते हैं। इसलिये कहता हूँ, हे साधक ! तुम प्रत्यक्ष देखो, पृथिवीसे लेकर माया पर्य्यन्त जितने प्रकारकी स्तर (सृष्टि) तुममें रही हैं, उन सबके आदि-अन्त-मध्यमें अखण्ड रूपसे एक मैं ही मैं रहा हूँ। तुम्हारा किया हुआ स्तर, सूत्रमें मणिगणके सदृश तुम्हारी आंखकी दृष्टिसे मेरे ऊपर भासमान रहनेसे भी वास्तवमें वह नहीं है ।

'अध्यात्मविद्या विद्यानां' । 'विद्या'—(विद् = जानना + य + आ) जिससे वस्तुका स्वरूप जाना जाता है। इस जगत्का जो कुछ है वह सबही मिथ्या है। और उसी मिथ्याको जो विद्या सत्य साबित करादे, वही अविद्या है । अध्यात्मविद्या उसको कहते हैं, जो बुद्धिको लाकर आत्माके साथ मिला देती है (८म अः २य श्लोककी 'अध्यात्म' व्याख्या देखो)। इसलिये कहता हूँ कि, जितने प्रकारके ज्ञान हैं, उन सबके भीतर आत्म ज्ञानही 'मैं' हूं । साधक ! तुम देखो, पृथिवीसे सबको छोड़कर जब तुम मैंमें पड़कर 'मैं' हो जाते हो, तब तुम्हारा सब छूटता है, परन्तु वही 'मैं' नहीं छूटता। जिसका कालत्रयमें विच्छेद नहीं होता, वही नित्य

है। वह अध्यात्मविद्या भी नित्य है, इसलिये 'मैं' हूं।

'वादः प्रवदतामहम्'। प्रवदन् कहते हैं यह, वह, सो प्रभृति बहुभाषण (बकवाद) रूप वाणीको। और जिगीषाशून्य हो करके सत्य-निर्द्धारण करनेके लिये जो विचार है, उसीको 'वाद' कहते हैं। सत्य 'मैं' बिना और कोई नहीं। अतएव मैं प्रवदनके भीतर 'वाद' हूँ ॥३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥३३॥

अन्वयः। अहं अक्षराणां (वर्णानां मध्ये) अकारः अस्मि, सामासिकस्य (समाससमूहस्य) च द्वन्द्वः (अस्मि), अक्षयः कालः अहं एव, अहं विश्वतोमुखः धाता (सर्वकर्मफलविधाता)॥ ३३॥

अनुवाद। वर्णोंके भीतर मैं अकार, समासोंके भीतर द्वन्द्व हूँ, मैंही अक्षय काल हूं और सर्वकर्म्मफलविधाता भी मैं हूं॥ ३३॥

व्याख्या। स्वर और व्यञ्जनके प्रत्येक वर्णही एक एक अक्षर हैं। जो अक्षर दूसरे किसी अक्षरके सहायता बिना आपही आप उच्चारित होते हैं, उन्हें स्वर कहते हैं; जैसे--अ, इ, उ, इत्यादि। और जो अक्षर स्वरके सहायता बिना उच्चारित हो नहीं सकते, उन्हें व्यञ्जन कहते हैं; जैसे--क,ख,ग, इत्यादि। इन अक्षर समूहके भीतर "मैं" अकार हूं। क्योंकि, प्रत्येक अक्षरों

के आदि-अन्त-मध्यमें ही 'अ' है। सूईसे शतपत्र भेद होनेके सदृश तत्क्षणात् अनुभवनीय न होने से भी 'अ' को छोड़ कर अक्षर नहीं है। परन्तु 'अ' आपही आप अपनेसे उच्चारित होता है। जो स्वतः उच्चारित हो, वही 'मैं' हूं।

'द्वन्द्वः सामासिकस्य च'। जगत्का जो कुछ देखते हो, इसमें कोई भी बड़ा नहीं;—इसलिये परस्परको दबाकर अपनेको बड़ा दिखानेके लिये सब ही व्यस्त हैं। परन्तु जो बड़ा है, उसकी बड़ाई स्वतःसिद्ध होनेसे दिखलानेका प्रयोजन नहीं होता। बड़ोंके साथ जो मिलता है, वह भी बड़ा होता है। साधक! जब तुम मायाके घेरमें थे, उस अवस्थाको और इस ब्रह्ममें स्थिति-अवस्था को मिला देखो। तुम्हारी उस मायासे घेरी हुई अवस्था में इस अवस्थाका परिज्ञान नहीं था, केवल मायाका प्राधान्य खिल रहा था, ऐसा जो ब्रह्मत्व, यह भी तब बुझाया हुआ था। इसलिये 'द्वन्द्व' सजा नहीं। तब भी ब्रह्मको छोड़कर माया नहीं थी; परन्तु उस समय अपने को प्रधान बनाकर ब्रह्मको दाब रक्खी थी। और अब? अब ब्रह्म और माया दोनों तुम्हारे पास समान रूपसे विद्यमान हैं। किसीकी प्राधान्यताका ह्रास वा वृद्धि नहीं है। यह जो दो मिलकर एक होना, इसीको समास कहते

हैं। और उसी प्रकार सबका प्राधान्य तैयार रख कर परस्परका जो एकता भाव है उसीको "द्वन्द्व" समास कहते हैं। "मैं" क्रिया विहीन होनेसे भी क्रियाशाली मायावियों (मायाविशिष्टों) हममें रह करके जो अपना अपना प्राधान्य दिखाते हैं, तथापि हमसे उन सबको पृथक् नहीं होने पड़ता। मैं बड़ा हो करके भी उन सबके प्राधान्यमें कोई विघ्न नहीं करता हूं, सबके साथ मिला रहनेके सदृश रहता हूं,—जैसे उन सबको खिलनेसे (प्रस्फुटित होनेसे) मैं खिल रहा हूं, यही द्वन्द्व समास है; इस अवस्थामें ही ज्ञान पूर्णविकशित होता है। इसीलिये मैं समासके भीतर द्वन्द्व समास हूं।

"अहमेवाक्षयः कालः"। यह जो काल अखण्ड दण्डायमान है, ज्योतिर्विद् लोग इसको कला, काष्ठा, क्षण, लव आदिसे खण्ड विखण्ड करके संख्यामें लानेसे भी जैसे खण्डत्वका कुछ भी कलंक इसके अखण्डत्वमें नहीं पड़ता; वैसे ही "मैं" कहनेसे भूत, भविष्यत् दे करके "मैं" के वर्त्तमानताके अभाव भी कोई कर नहीं सकता। इस लिये क्षय परिशून्य इसपर भी क्षयोदयका विश्रामस्थल काल भी मैं हूं। (साधक! संसारी तुम और अपनी ब्राह्मीस्थिति, मिलाकर देख लो)।

"धाताहं विश्वतोमुखः"। धाता कहते हैं धारण

करनेवालेको । और अहं शब्दमें "मैं" । मैं इस जगत् को धारण कर रहा हूं, इसलिये मैं 'धाता' हूं। 'मैं' कह करके अहंकार जब न रहेगा, तब ही यह जगत् उड़ जावेगा । इसलिये मैं जगत्का नियामक, नियन्ता वा चालक हूं। जो सीमाबद्ध और शीर्ण होय, उसीको शरीर कहते हैं। इस शरीरके ऊपर इस 'मैं' का अभिमान आरोप करनेसेही विश्व होता है। विश्व—वि= विशेष, श्व= दूसरे दिनका प्रभातकाल। यह दूसरे दिन का प्रभातकालके पहले बीचमें रात्रि रूप एक अव्यक्त वा मृत्यु-अवस्था है । जैसे दिनमानके बाद रात्रिमें निद्रारूप अज्ञानता होती है, वैसेही जीवनके पश्चात् और पुनःजन्मके पहले मृत्युरूप अव्यक्त अवस्था है। रात्रि प्रभात होनेके पश्चात् जैसे पुनरुत्थान होती है, वैसेही मृत्युके पश्चात् भी पुनः जन्म ग्रहण करना होता है । इन दोनों कोही पर दिनका प्रभात काल कहते हैं। यह व्यक्त और अव्यक्त परिणाम (जन्ममृत्यु) जिसमें बारम्बार होता है, उसीको विश्व कहते हैं । 'मुख' कहते हैं प्रवेश और निष्काशनके दरवाजेको। यह विश्व प्रलयमें हमहीमें प्रवेश करता है, और कल्पादिमें हमसेही निकल आता है, इस कारण मैं विश्वतो (सर्वतो) मुख हूँ,— जैसे वृक्षमें फुल फल होते हैं। साधक ! और तुमको

समझानेमें परिश्रम नहीं है। तुम अपने सच्चे "मैं" में बैठकर जगत्को देखनेसेही समस्त तुम्हारे प्रत्यक्ष होजावेगा, देखो ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्व्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्त्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४

अन्वयः। सर्वहरः (प्राणहरः) मृत्युः च अहं, भविष्यताम् (भाविकल्पानां प्राणिनां) उद्भवः च (अहं), नारीणां कीर्त्तिः श्रीः वाक् स्मृतिः मेधा धृतिः क्षमा च (अहं एव) ॥ ३४ ॥

अनुवाद। सर्वहर मृत्युभी मैं हूं, भाविकल्प प्राणीगणोंकी उत्पत्ति का हेतु भी मैं हूं। नारीगणोंके भीतर कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा भी मैं हूं ॥ ३४ ॥

व्याख्या। "मृत्युः सर्वहरश्चाहं"। ब्रह्माजीको आदि लेकर स्थावरान्त पर्य्यन्त जो कुछ है उन सबकोही "सर्व" कहते हैं। जिस महाशक्तिके प्रभावसे इस सर्वका हरण होता है, अर्थात् रूपान्तर, अवस्थान्तर, वा स्थानान्तर होता है, उसीको मृत्यु कहते हैं। इस मृत्यु के हाथसे किसीकी अव्याहति नहीं; भूवन-कोषके समस्त पदार्थही इसके आयत्ताधीन हैं। इसीके वशमें परा और अपरा प्रकृतिद्वयके संयोग निरन्तर हरण(विच्छिन्न) होता है। प्रलय-कालमें यह संहरण-क्रिया प्रबल होकर

समुदयको एक कालमें (समयमें) संहार करती है। इस लियेही मृत्यु सर्वहर वा सर्वसंहारक है। यही भगवान्की नाशिनी शक्ति—तमोगुण की क्रिया है; अतएव यह भगवत् विभूति है। इसलिये कहागया 'सर्वहर मृत्यु मैं हूं'।

"उद्भवश्च भविष्यताम्" । उस सर्वहर मृत्युरूपा नाशिनी शक्तिसे प्रलयकालमें सर्वसंहार होनेके पश्चात् फिर जिस महाशक्ति द्वारा सृष्टि-क्रिया प्रारम्भ होता है, उसी महाशक्तिका नाम उद्भवकारिणी वा सृष्टिकारिणी शक्ति—रजोगुणकी क्रिया है। इसलिये वह भगवत् विभूति है; इसलिये प्रलयके बाद जीवके भावी उद्भव भी "मैं" हूं।

"कीर्त्तिः श्रीर्वाक् चेति"। भगवानकी यह जो सृष्टि और संहार रूप क्रिया है, इसके भीतर उनकी एक स्थिति सम्पादनकारिणी शक्ति वर्त्तमान है; वही उनका पालिनी शक्ति—सत्त्वगुणकी क्रिया है। उनकी यह पालिनी शक्ति सात सत्त्वगुणाधिष्ठात्री महाशक्ति रूपसे विश्वजगत्को पालन करती है। वह सात शक्ति यथा,—कीर्त्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हैं।

"कीर्त्ति" कहते हैं मरे हुए लोगोंकी ख्यातिको। स्वाधिष्ठानके नीचे कामपुरसे मूलाधार पर्य्यन्त इस महा-शक्तिका अधिकार है। संसारमें जितनी कुछ कामना हैं, यह शक्ति उन्हीं समुदयके पालन करनेवाली है। मनुष्य

कामनाके वशसे जो कुछ भला वा बुरा काम करता है, शरीरान्तमें वह सब रह जाता है (जैसे वंश परम्परामें वंशरक्षा); उसीको कीर्त्ति कहते हैं।

'श्री' कहते हैं जिनकी सब कोई सेवा करे। देवता, गुरु, गुरुस्थान, क्षेत्र, क्षेत्राधिदेवता, सिद्ध, सिद्धाधिकारके पहलेही जिसके स्थान है, वैसी परमाराध्य देवीको "श्री" कहते हैं। यह देवी सत्त्वगुणकी सर्वश्रेष्ठ अधिष्ठात्री देवी है; इसलिये सौन्दर्य्य वा दीप्तिको 'श्री' कहते हैं। सुषुम्ना-संलग्न स्वाधिष्ठान इसकी लीला भूमि है, जहां रहती है उन सबकी वृद्धि करना इसकी क्रिया है।

"वाक्" कहते हैं भावव्यंजक शब्दको। शब्द-विन्यास तेज सहायतासे उच्चारित होता है। इसलिये यह शब्दाधिष्ठात्री वाग्देवी तेजःस्थान मणिपुर चक्रमें रहने वाली है।

"स्मृति" कहते हैं पूर्वकृत कर्म्मके स्मरणको। यह महाशक्ति चारों अन्तःकरणमही (मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तमें) विहार करनेवाली है; इसकी लीला-स्थान अनाहत चक्रके मनोमय कोषमें है।

"मेधा"—जिसमें बहुश्रुत सङ्ग समूह विषयके सदृश (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध,) छापा रहे, उसीको मेधा वा स्मरणशक्ति कहते हैं। इसके कार्य्यके लिये प्रशस्त

स्थानके प्रयोजन हेतु यह विशुद्ध चक्र (आकाश-स्थान) में रहती है।

'धृति'–धारणावती शक्ति। इसका स्थान आज्ञाचक्र है।

'क्षमा'–सहिष्णुता शक्ति। 'वाह्ये वाध्यात्मिके चैव दुःखे चौत्पातिके क्वचित्। न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्त्तिता॥' यह देवी सहस्रारवासिनी है।

ये सात महाशक्ति मातृकारूपसे जीवके शरीरमें सामञ्जस्य रक्षा करती हैं इसलिये ये सब स्त्री (नारी) संज्ञाके भीतर महिमामयी हैं। महिमा हममें ही प्रतिष्ठित है, अतएव ये सब मेरी विभूति हैं इसलिये ये समस्त भी 'मैं' हूं॥ ३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥३५॥

अन्वयः। अहं साम्नां (मध्ये) बृहत् साम, तथा छन्दसां (छन्दो-विशिष्टाणां मन्त्राणां मध्ये) गायत्री (गायत्रीमन्त्रः अस्मि)। अहं मासानां (मध्ये) मार्गशीर्षः, ऋतूनां (मध्ये) कुसुमाकरः (वसन्तः अस्मि)॥ ३५॥

अनुवाद। मैं सामवेदके भीतर बृहत् साम, छन्दोंके भीतर गायत्री, मासोंके भीतर मार्गशीर्ष (अगहन), और ऋतुओंके भीतर वसन्त हूं॥ ३५॥

व्याख्या। "साम" कहते हैं चार वेदोंके भीतर

एक वेदको *। प्रत्येक वेदमेंही तीन तीन अंश हैं,—कर्म्म, भक्ति, और ज्ञान। सामवेदके भीतर मोक्ष प्रतिपादक जो अंश है, उसी अंशका नाम बृहत्साम है। मैं ही मोक्ष स्वरूप हूं। मेरेही प्रतिपादन हेतु बृहत् साम मैं हूं।

"गायत्री"—(गायन्तं त्रायते इति गायत्री) जिसको गान करनेसे इस भवसागरका आना जाना छूट जाता है। यह गायत्री चौबीस अक्षरोंमें लघुगुरु वर्ण करके सजाई हुई है, इसलिये इसको छन्द कहते हैं। जितने प्रकारके छन्द हैं, गायत्री उन सबके भीतर प्रधान है। क्योंकि इस छन्दका ऐसा ही प्रभाव है कि, गायत्रीमन्त्र का गान करनेसे सर्ववेदवित् होकरके ब्रह्मस्वरूप लाभ होता है; और किसी छन्दसे ऐसा नहीं होता। इसलिये मैं गायत्री हूं।

मासोंके भीतर 'मार्गशीर्ष' मैं हूं। मृगशिरा नक्षत्र में सूर्य्यके भोगकालको मार्गशीर्ष मास कहते हैं।

* वेदके अन्तर्गत गान (गीत) का नाम साम है। भगवान वेदव्यास ने वेदको विभाग करनेके समय गान (गीत) समूह को एकत्र करके अलग २ क्रम अनुसार सजा कर एक अंश किया था, उसीका नाम सामवेद है, जिससे सामवेद गान (गीत) प्रधान है। साम गानमें मन क्रम अनुसार लय होते होते अनन्तविस्तृत होता है तत्पश्चात् शब्दब्रह्म को अतिक्रम करता है। इसलिये प्रवाद है—"गानात् परतरः न हि"। वेदके अनुकरण सेही ग्रीक और लाटीन भाषामें भी ईश्वर सम्बन्धीय गानको साम कहते हैं॥ ३५॥

जब लोक-जगत्में प्रथम कालका बोधक ज्योतिषका प्रकाश हुआ अर्थात् जब अतीत अनागतादि रूपसे काल मनुष्योंके बोधगम्य हुआ, तबही दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष प्रभृति श्रेणी विभाग हुए। उस समय प्रथम वर्ष जिस माससे गिनना शुरू (प्रारम्भ) हुआ था, उसीको 'अग्रहायण' कहते है। 'अग्र' शब्दमें प्रथम हायन शब्द में वर्ष है। मैं ज्ञानस्वरूप हूं; वही ज्ञान इस अगहन वा मार्गशीर्ष महीनेसे प्रथम प्रकाश हुआ था इसलिये जितने मास हैं उनमें मार्गशीर्ष मैं हूं।

'ऋतूनां कुसुमाकरः'। कुसुम है वृक्षका सूक्ष्मतम अंश; वृक्षके तुलनामें मनुष्योंका कुसुम ज्ञान है। नाति-शीत नाति-उष्ण होनेके लिये वसन्त ऋतुमें वृक्ष राजि सरस होनेसे उन सबमें इस सूक्ष्मांशका विकाश होता है; उससे उनकी सौन्दर्य्य वृद्धि होती है, प्रकृतिकी भी शोभा बढ़ जाती है; फिर मनुष्योंमें भी शारीरिक स्फूर्त्ति वृद्धिके साथ ज्ञान-कुसुमका विकाश होता है; अर्थात् इस समय मस्तिष्क स्वभावतः पुष्ट और स्निग्ध होनेसे दूसरे ऋतुओंसे साधनामें अन्तर्लक्ष्य सुगम हो जाता है। इसलिये वसन्त ऋतुको कुसुमाकर कहते हैं, और इसीलिये वसन्त को ऋतुराज कहते हैं। पदार्थोंका सूक्ष्मतम अंश ही आत्मचैतन्यका अंश-विकाश वा विभूति है। वही

अंश-विकाश इस वसन्त ऋतुमें प्रस्फुटित होता है इसलिये वसन्त ऋतु ही भगवानकी विभूति है। यह तो बाहर की बातें हुईं। अब भीतरमें साधनामें साधक जब प्राणायामके फलसे कूटस्थमें स्थिरता लाभ करते हैं, तब अन्तर-प्रदेश मनोरम आकार धारण करता है, उस समय मन प्रफुल्लित होकर अव्यक्त आनन्दमें मतवाला हो जाता है, वही साधकके साधनका वसन्त ऋतु है; उसी समय उनको आत्मज्ञानरूप कुसुमका विकाश होता है; उसी कुसुमसे ही आत्मसाक्षात्कार रूप फलोत्पन्न होता है *। इन सब कारणसे ही अन्तर, बाहरमें वसन्त ऋतु की प्राधान्यता है। इसलिये कहा हुआ है कि, ऋतुओंके भीतर मैं कुसुमाकर वसन्त हूं॥ ३५ ॥

---

* यही वसुदेवकी पुत्रोत्पत्ति है। जबतक ज्ञान पूर्णविकशित नहीं होता, तबतक आत्मसाक्षात्कार अचिरस्थायी होता है अर्थात् मायाके आकर्षणमें क्षणकालके बाद विनष्ट होता है। यही वसुदेवके छः पुत्र विनष्ट होनेका तात्पर्य्य है। ये सब षट्चक्रके भीतर साधनाकी उन्नतिके क्रममें भङ्ग-समाधिकी क्रिया हैं। पश्चात् षट्चक्र पार होकर सप्तम भूमि सहस्रारमें उठनेके बाद ज्ञान पूर्णविकशित होनेसे माया पुनः साधक को लक्ष्य-भ्रष्ट करवाने नहीं सकती; इसलिये आत्म-साक्षात्कार स्थिर और चिरस्थायी होता है। यही वसुदेवके सप्तम और अष्टम पुत्रके विनष्ट न होनेका तात्पर्य्य है॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥३६॥

अन्वयः । अहं छलयतां (अन्योऽन्यवञ्चनपराणां सम्बन्धि) द्यूतं, (तथा) तेजस्विनां तेजः (प्रभावः) अस्मि; अहं (जेतृणां) जयः अस्मि, (व्यवसायिनां) व्यवसायः (उद्यमः) अस्मि, सत्त्ववतां (सात्त्विकानां) सत्त्वं अहं ॥ ३६ ॥

अनुवाद । छल करनेवालोंके भीतर मैं द्यूत-क्रीड़ा, तेजस्वियों का तेज मैं हूं, मैं जयस्वरूप, मैं व्यवसाय स्वरूप, और सत्त्ववानोंका सत्त्व स्वरूप मैं हूं ॥ ३६ ॥

व्याख्या । प्रवञ्चनाके भीतर मैं 'द्यूत' हूं। पण रख करके प्रतिद्वन्द्वियोंके साथ जिस काममें प्रवृत्त हुआ जाय उसका नाम 'द्यूत' है । यह द्यूत-क्रिया क्षत्रिय * राजाओं का खेल है, जिसके पणसे एक जन सर्वस्वान्त होता है, और एककी जय होती है । जितनी प्रकारकी प्रवञ्चना हैं, उनके भीतर सर्वस्वान्तकर होनेसे, यह द्यूत क्रीड़ाही 'मैं' हूं । साधक ! तुम देखो, अप्राणीके खेलका नाम द्यूत है। जब तक प्राणकी चञ्चलता रहती है, अर्थात् चला फिरा रहती है तबतक 'सर्व' रहता है। जबही तुम्हारा प्राण

* क्षतात् त्रायते इति क्षत्रिय। क्षत असम्पूर्णता है; असम्पूर्णतासे जो त्राण करते हैं वही क्षत्रिय हैं ॥ ३६ ॥

स्थिर हो जाता है उसके साथही साथ तुम सर्वस्वान्त होते हो। जब तुम सर्वस्वान्त होगये (वही तुम्हारा सर्व से वञ्चित होना है), और साथही साथ तुमभी 'मैं' हो जाते हो।

"तेजस्तेजस्विनामहम्"—तेजस्वियोंका तेज मैं हूं। साधक! और एक बार तुम विवस्वान्में उठो। देखो, यह जो चन्द्रसूर्य्याग्नि और नक्षत्रादि ज्योतिष्क मण्डल हैं इनके प्रकाश, और मायाका प्रकाश भी हमहीसे होता है, इसलिये मैं तेजका भी तेज हूं।

"जयोऽस्मि"—जय कहते हैं जहां सब हारे हैं। जितने प्रकारकी क्रिया हैं, सबकी विश्राम भूमि 'मैं' हूं। मैं निष्क्रिय हूं, इस कारण कोई क्रिया मुझको नहीं हरा सकती; इसलिये मैं "जय" हूं।

"व्यवसायोऽस्मि"—व्यवसाय कहते हैं आदान-प्रदान को। माया प्रकृति सज करके हमसे कुछ लेती है (यह लेनाही संसार है), फिर मुझको कुछ देती है (यही प्रलय है); ये जो माया की सृष्टि और प्रलय हैं, यह मुझको लेकरके ही होता है; इसलिये व्यवसाय भी 'मैं' हूं।

"सत्त्वं सत्त्ववतामहं"। जो सब साधक सत्त्वगुण लेकर खेल (साधन) करते हैं, उन सभोंकी आत्म

प्रकारकी अवस्था होती है,—स्वेद, स्तम्भ, रोमाञ्च, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण, अश्रु, और प्रलय। साधक! जिस दिन तुम प्रथम आसन पर जाकर बैठे, उसी दिनसे अपनी साधनाकी अलग २ अवस्था समूहको स्मरण करते जाओ। देखो, पहले ही तुम्हारा स्वेद (घर्म्म वा पसीना) बाहर हुआ था; जिससे शरीर स्निग्ध होकर भीतरवाले उद्वेग नष्ट हो जानेसे तुम्हारा शरीर स्तम्भवत् दृढ़ और अटल हुआ था,—तुमने स्थिर भावसे बैठे रहने की शक्ति पाई थी; तत्पश्चात् तुम्हें रोमाञ्च हुआ था, अर्थात् शरीर की रोमावली कण्टक सदृश खड़ी हो गई थी; तत्पश्चात् तुम्हारा स्वरभंग हुआ था, अर्थात् साधनके पहले जिस प्रकार निश्वास प्रश्वासकी गति-विधि थी, वह भंग होकर और एक प्रकारके निश्वास प्रश्वासका प्रवाह तुममें वर्त्तमान था अर्थात् दोनोंही समान थे, जितना निश्वास, उतनाही प्रश्वास होकर विषमता मिट गई थी; उसके बाद वेपथु (कम्पन) आया, अर्थात् प्राणायामसे प्राणप्रवाह अतीव सूक्ष्म होकर सुषुम्ना के भीतर प्रवेश करके क्रूर श्लेष्मा द्वारा बाधा प्राप्त होनेसे जबतक वह श्लेष्मा ऊर्ध्वाधः प्राण प्रवाहसे विशुष्क न हुये थे, तबतक वायूकी प्रतिहत गतिके धक्के से शरीरकी स्नायुमण्डली कम्पित हुई थी। उसके

बादही शरीरमें वैवर्ण उपस्थित हुआ था, अर्थात् क्रूर श्लेष्मा विशुष्क होकर सुषुम्ना-पथ परिष्कार होनेसे प्राणवायु सूक्ष्म सरल और अप्रतिहत गतिसे प्रवाहित होकर सुप्तशक्ति समूहको प्रबुद्ध किया था; जिससे शरीर की लावण्य वृद्धि हो करके कोमलता आई थी, भीतरवाले अनजान प्यार रस करके तुम्हारी दोनों आंखें भर आई थीं और उनमें ऐसा एक निर्म्मल ज्योतिप्रकाश पाया था, जिसको देखने से ही जीव मात्रको तुमसे प्रेम करने की इच्छा होती है; तुम्हारे शरीर में पहिले जो वर्ण रहा, सो बदल गया था। साधनमें इस अवस्थाके बादही अश्रु अवस्था है; जगत्में भला व बुरा जो कुछ है वह सबही जैसे हमारे प्रेम-वाले और प्राणकी चीज कह करके हृदयमें कैसा एक आनन्दमय कम्पनका अनुभव होता है जिससे प्राण हर्षके मारे मतवाला होकर तुम्हारे आंखसे पानी फेकवा देता है (परन्तु रोना नहीं)। तत्पश्चात् ही प्रलय अर्थात् समाधिस्थिति है। इन सब अवस्थाओंका जो आश्रय ले चुके हैं, उन्हींको सत्त्ववान् कहते हैं। सत्त्व-वानोंके भीतर वह सत्त्व 'मैं' हूं। क्योंकि ईदृश प्रकाश होने सेही भ्रमनाश होकर साधक हमसे मिल करके 'मैं' हो जाते हैं॥ ३६॥

वृष्णीणां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

अन्वयः । अहं वृष्णीणां वासुदेवः, पाण्डवानां धनञ्जयः, मुनीनां अपि व्यासः, (तथा) कवीनां उशना कविः (शुक्रः अस्मि) ॥३७॥

अनुवाद । वृष्णि वंशके भीतर मैं वासुदेव, पाण्डवोंके भीतर मैं धनञ्जय, मुनिगणोंके भीतर मैं व्यास और कवियोंके भीतर मैं उशना कवि (शुक्राचार्य्य) हूं ॥ ३७ ॥

व्याख्या । "वृष्णि"—वृष्=वर्षणकरना+निः=कर्त्तृ-वाचक शब्द, अर्थात् जो लोग वर्षण * करते हैं,—जैसे मेघादि; उन सबके भीतर मैं वासुदेव हूं †; जिसमें सर्वभूत वास करते हैं, और उस सर्वको जो वर्षण करते हैं, ऐसे योग्यपुरुष "वासुदेव" हैं। वृष्णि वंशमें उत्पति हेतु वृष्णियों के भीतर कहा गया। और सर्वको धारण वर्षण संकोचन करनेवाली (सृष्टि-स्थिति-प्रलयक्षम) शक्तिकी आवासभूमि 'मैं' हूं; इसलिये मैं वासुदेव हूं।

"पाण्डवानां धनञ्जयः"—पाण्डु राजाका क्षेत्रज पुत्रोंके

---

* जरासन्ध कुरुवंश को भीष्म के लिये जय नहीं कर सका। वृष्णिवंशको नीतिके लिये जय नहीं कर सका । वृष्णि लोग नीतिका वर्षणकर्त्ता हैं ॥ ३७ ॥

† "सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि । भूतेष्वपि च सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः" ॥

भीतर "धनञ्जय"। जिसने धनपति कुवेरको जय करके सोनेकी चम्पा लाकर कुन्तीसे शिवपूजा कराई थी, शिवजीने उन्हींको धनञ्जय नाम दिया था। (पाण्डव—१म अः १म श्लोक देखो)। पाण्डव शब्दसे तीक्ष्ण बुद्धि-शाली ज्ञानी को समझाता है। उस ज्ञानी के भीतर 'मैं' धनञ्जय हूं। जीव के धन छः हैं,—जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख, क्षुधा, तृष्णा। जो पुरुष इन धनोंको जय करता है, वही धनञ्जय है। अर्जुन नर ऋषि है, तपस्यासे उन छओंको जय किये हैं; जो जिसको जय करे वह उसका नियामक है। अतएव अर्जुन इन छओंके नियन्ता है। नियन्ताभी फिर मेरे बिना और कोई नहीं है; इसलिये धनञ्जय भी 'मैं' हूं।

"मुनीनामप्यहं व्यासः"। मुनियों के भीतर मैं 'व्यास' हूं। व्यास—विभागकर्त्ता। चित्तके निम्नस्तरमें अहंकार है, इस अहंकारसे ही विभागकी उत्पत्ति होती है, अर्थात् अहं ममत्वका प्रचार होता है; इसलिये मैं 'व्यास' हूं (१०म अः १३वां श्लोकमें व्यास शब्दकी व्याख्या देखो)। अहं शब्दसे मैं बिना और किसीको नहीं समझाता। कार्य्यतः व्यास भी 'मैं' हूं। "मुनिः संलीनमानसः" मनोवृत्ति जब सम्यक् लीन हो रहती हैं (जैसे चीनी घुली हुई इक्षुरस), तब मुनि शब्दका अर्थ प्रकाश होता है। यही परिपूर्ण

अवस्था है । इस अवस्थामें जब वृत्तिका प्रारम्भ होता है, तबही परिपूर्णत्वमें ग्लानि अर्थात् नानात्व जनित विभाग आता है । यह जो विभागका ज्ञान है, उसी ज्ञानको व्यास कहते हैं। और उस ज्ञानकी उत्पत्तिके पहले वह जो परिपूर्ण अवस्था है, वही 'मैं' अवस्था; और उस 'मैं' में ही वह भेदज्ञान रहता है, 'मैं' को छोड़कर अलग रह नहीं सकता, इस कारण वह भी 'मैं' हूं। इसलिये मैं मुनि-अवस्थाके भीतर व्यास-अवस्था हूं ।

"कवीनामुशना कविः"। हर बातमें जो नया बोलता है, वही कवि है । उशनस्—वश्=इच्छा करना + अनस कर्त्तृ (संज्ञार्थे), अर्थात् जो इच्छा करता है । इच्छासे ही कवित्व का प्रारम्भ होता है ("कविं पुराणम्" ८ म अः ९वां श्लोकमें कवि शब्दकी व्याख्या देखो)। मैं इच्छाकी आश्रय भूमि हूं; उशना भी इच्छाकर्त्ता है, इसलिये 'मैं' कवियों के भीतर "उशना"हूं। सृष्टि और प्रलय, ये दोनोंही इच्छा के अधीन हैं। सृष्टिसे प्रलय जैसे आपही आप होता है, इसमें कवित्व अनुभव किया नहीं जा सकता । परन्तु प्रलयसे जो सृष्टि, उसीमें कवित्व है । यह कवित्व उशना (शुक्राचार्य्य) में मृतसञ्जीवनीशक्ति रूपसे रहनेसे उशना मृतकको भी प्राणदान देते हैं। यह शक्ति भी हममें प्रतिष्ठित है, फिर मृतसञ्जीवनीमें ही नूतनत्व है।

अब साधक! तुम देखो, शुक्रशब्द से श्वेत, तेज, निर्म्मल को समझा जाता है। फिर यह शुक्र एकचक्षु-विशिष्ट है। साधक जब निर्म्मल अवस्था पा करके तेजोराशिके भीतरसे उठकर मृत्युको जय कर लेता है, तब वह मरजगत्की आदि अन्त लीला और अमरत्वका जो कुछ ज्ञान है, उसे समझ कर प्रतिक्षणमें ही अपनेमें नूतनत्वका अनुभव करता है। इस अवस्थामें साधककी चर्म्मचक्षुकी दृष्टि नहीं रहती। एकमात्र ज्ञानचक्षु ही खुला रहता है। प्रकृतिके वशमें न रह करके प्रकृतिवशी होनेसे यह अवस्था प्राप्त होती है। 'मैं' प्रकृतिवशी हूं; उशना में भी प्रकृतिवशीत्व है, इसलिये कवियोंके भीतर उशना श्रेष्ठ है। जो श्रेष्ठ है वही मैं हूं। अतएव उशना भी मैं हूं॥ ३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥३८॥

अन्वयः। अहं दमयतां (दमनकर्त्तृणां) दण्डः अस्मि, जिगीषतां (जेतुमिच्छतां) नीतिः (सामाद्युपायः) अस्मि, गुह्यानां मौनं (अस्मि) ज्ञानवतां ज्ञानं च अहं एव॥ ३८॥

अनुवाद। दमन करने वालोंके भीतर मैं दण्ड, जयेच्छुकोंके भीतर मैं नीति, गुह्योंके भीतर मैं मौन और ज्ञानवानोंके भीतर मैं ज्ञान हूं॥ ३८॥

व्याख्या । 'दण्डो दमयतामस्मि' । दुर्दान्तोंको शासन करनेके लिये जितने प्रकार के उपाय हैं, उनके भीतर 'दण्ड' ही मैं हूं । साधक ! तुम देखो, तुम्हारे शरीरमें इन्द्रिय, इन्द्रियग्राह्य विषय, काम क्रोधादि जो कुछ अन्तःकरण वृत्ति हैं, ये समस्त ही दुर्दान्त हैं । इन सबको शासनमें लानेका उपाय एकमात्र प्राणायाम है । अतएव जितने प्रकारके शासन-उपाय हैं, उनके भीतर प्राणायाम रूप दण्डही 'मैं' हूं,—जिसके बलसे समस्त स्थिर होती है, कैवल्यस्थितिकी प्राप्ति भी होती है ।

"नीतिरस्मि जिगीषतां" । जयेच्छुकोंके भीतर 'नीति' मैं हूं । परको (दुसरेको) जिससे आयत्त किया जाय, उसीको नीति कहते हैं । कर्म्म के कौशल का नाम नीति है । यह कर्म्म ही (गुरूपदिष्ट) चित्त-पथमें प्राणका परिचालन है । इसीमें अहंत्व प्रतिष्ठित है । "जिगीषु" उसको कहते हैं, जो मायाको जय करनेकी इच्छा करें ।

'मौनं चैवास्मि गुह्यानां' । जगत् में जितने प्रकारके गोपनीय पद हैं, उनके भीतर ब्रह्म-विलास रूप जो तुष्टि है, उसीको "मौन" कहते हैं । अतएव वह मौन 'मैं' हूं ।

"ज्ञानं ज्ञानवतामहं" । ज्ञानियों के आत्मज्ञान ही 'मैं' हूं ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम्॥३९॥

अन्वयः। हे अर्जुन! यत् च सर्वभूतानां अपि बीजं (प्ररोहकारणं) तत् अहं; (यतः) मया विना यत् स्यात् (भवेत्), तत् चराचरं भूतं न अस्ति॥ ३९॥

अनुवाद। हे अर्जुन! सर्वभूतोंके जो बीज (प्ररोहकारण) है, सो मैं हूं, (जिस हेतु) चर किम्बा अचर ऐसा कोई भूत नहीं, जो मेरे बिना हो सके॥ ३९॥

व्याख्या। हे साधक! इस स्थावर जंगमात्मक विश्व में जो कुछ तुम देखते हो, सो सब 'मैं' सेही होता है, सबही 'मैं' है। 'मैं' बिना 'तुम' कह करके कुछ भी देखने न पाओगे। 'मैं' छोड़कर किसीका पृथक् सत्ता नहीं है॥ ३९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ४०॥

अन्वयः। हे परन्तप! मम दिव्यानां विभूतीनां अन्तः न अस्ति; एष तु विभूतेः विस्तरः मया उद्देशतः (संक्षेपतः) प्रोक्तः॥ ४०॥

अनुवाद। हे परन्तप! मेरे दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है; इसलिये इस विभूति-विस्तार को संक्षेपसे कहा है॥ ४०॥

व्याख्या। 'परन्तप' अर्थमें जो पराए बल वा शक्ति

को पीड़न करनेकी शक्ति रखते हैं । ये मायामय जितनी विभूति हैं, मायाको दाब करके 'मैं'-प्रतिपादन न कर सकनेसे इन सबका अन्त नहीं किया जा सकता । ('मामेव ये प्रपद्यन्ते' देखो) । इस विभूतिका कूल किनारा नहीं है। तब भी प्रधान प्रधान थोड़ासा कहा है । 'उद्देशतः'—उद्देश करके, अर्थात् प्रधानका नाम करनेसे तज्जातीय समुदयको ही उद्देश्य किया जाता है; इसलिये विभूति अनन्त होनेसे भी संक्षेपसे सबही कहा गया है ॥४०॥

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्ज्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंशसम्भवम् ॥४१॥

अन्वयः । विभूतिमत् (ऐश्वर्य्ययुक्तं) श्रीमत् (सम्पत्तियुक्तं) ऊर्ज्जितं (केनापि प्रभाववलादिना गुणेन अतिशयितं) यत् यत् सत्त्वं (वस्तुजातं) तत् तत् एव मम तेजोऽंशसम्भवं (मम प्रभावस्य अंशेन सम्भूतं) अवगच्छ ॥ ४१ ॥

अनुवाद । जो कुछ विभूतिमत् श्रीमत् और तेजयुक्त वस्तु देखोगे उसे हमारेही तेजका अंश सम्भूत जानना ॥ ४१ ॥

व्याख्या । गुण, बल, प्रभाव, ऐश्वर्य्य, सम्पत्ति से सजाया हुआ भुवनकोषमें जो कुछ है, उसे हमारे ही तेजके अंशसे प्रकाशित जानना ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

अन्वयः। अथवा हे अर्जुन! तव एतेन बहुना ज्ञातेन किं (प्रयोजनं)? (यस्मात्) अहं इदं कृत्स्नं जगत् एकांशेन विष्टभ्य (धृत्वा) स्थितः॥ ४२॥

अनुवाद। अथवा हे अर्जुन! इस प्रकार बहुज्ञान से तुम्हें प्रयोजन क्या है? (जिस हेतु) मैं इस समग्र जगत्को एकांशसे धारण कर रहा हूं॥ ४२॥

व्याख्या। हे साधक! इस अनादि अनन्तको सादि सान्तसे और समझनेका कोई प्रयोजन नहीं। दृढ़ करके मान लो, यह विश्वकोष महत्तत्त्वसे उत्पन्न है। असीम ब्रह्म महत्तत्त्वमें ठीक जैसे गोष्पद का जलमें प्रतिविम्बित आकाश-छाया है; तैसेही तुम, हम प्रभृति नाना भूतोंमें भी वही ब्रह्म प्रभासित है। जैसे आकाशके गर्भमें सागरान्त पृथिवी अपार जलका (जलमय) बेड़से यह द्वीप, वह द्वीप नाम लेकर रहनेसे भी नीचे नीचेमें जलके भीतर जलसे जल सबके साथ सब मिलकर एक हो रहा है, तथापि (अज्ञानतासे) एक समझने न देकर नानात्वका धोखा लगाकर सबको बुद्धिहीन बनाता है, असलमें जैसे एकही एक है, वैसे भाई! असीम ब्रह्मके एकांशमें मायाकी बेड़का फटा जगत् टूटा सरीखे धरा रहा है।

जबतक ज्ञान-दृष्टिका विकाश नहीं होता, तबतकही पृथक् भावसे भगवत्सत्ता समझना होता है, तबतकही बहुज्ञान रहता है; ज्ञानदृष्टिके विकाश होनेसे और पृथक् दृष्टि नहीं रहती, बहुज्ञान भी नहीं रहता, उस समय एकदृष्टि वा समदृष्टि आती है; तब इस अखिल जगत्को एक भगवत् अंश कह करके ही प्रत्यक्ष होता है। जैसे मानवों को एक अवयवमें भिन्न भिन्न अंग प्रत्यंग और लक्ष लक्ष रोमकूप विद्यमान हैं, वैसेही एक भगवत् अवयव में कोटि कोटि ब्रह्माण्ड वर्त्तमान हैं; भगवान् विश्वरूपी है; बिना भगवान्के दृश्यादृश्यके भीतर बाहरमें कुछ नहीं है। इसलिये श्रुति कहती है—'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'।

अर्जुन (साधक) अब उपासनाकाण्डमें उन्नति लाभ करके दिव्य चक्षु प्राप्त होनेके उपयुक्त हुए हैं; इसलिये भगवान् (गुरुदेव) ने इस श्लोकमें उनको बहु-ज्ञान त्याग करके एकज्ञान अवलम्बन करनेका आभास दिया है। यहांसे ही विश्वरूप दर्शनकी सूचना होती है॥ ४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुन संवादे विभूतियोगो नाम
दशमोऽध्यायः।

एकादशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

अन्वयः । अर्जुनः उवाच । मदनुग्रहाय (ममानुग्रहाय शोकनिवृत्तये) परमं (निरतिशयं) गुह्यं (गोप्यं) अध्यात्मसंज्ञितं (आत्मानात्मविवेकविषयं) यत् वचः त्वया उक्तं, तेन मम अयं मोहः (अहं हन्ता एते हन्यन्ते इत्यादिलक्षणभ्रमः) विगतः (विनष्टः) ॥ १ ॥

अनुवाद । अर्जुन कहते हैं,—मुझको अनुग्रह करनेके लिये तुम जो परम गुह्य अध्यात्मसंज्ञित (आत्म-अनात्मविवेकविषयक) वाक्य कहे हो, उससे हमारा यह मोह विनष्ट हो चुका ॥ १ ॥

व्याख्या । [भगवानने पूर्व अध्यायके अन्तमें 'मैं इन समस्त जगत्को एकांशसे धारण कर रहा हूं' यह बात कहा, उससे वह जो विश्वरूपी है, वही भाव व्यक्त हुआ । अर्जुन भगवानका उस विश्वरूप प्रत्यक्ष करनेके लिये आनन्द भरा हुआ मानसमें एकके बाद एक करके चार श्लोकोक्त वाक्य समूह कहते हैं]।

"मैं" के वह जो अणुके ग्रहण करनेके निमित्तस्वरूप परम गुह्य वाक्य है, जिसे कोई कभी बाहर लाकर प्रकाश

नहीं कर सकते, जो अध्यात्मसंज्ञित अर्थात् आत्मविषय और अनात्मविषयोंके ज्ञापक है, जिसे त्वं न सज करके अहंमें रहनेसे कहा नहीं जा सकता, (यह जो पूर्व पूर्व अध्यायमें प्रत्यक्ष किया—सुना हूं), उससे माया का मोह तो मेरा कट गया ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

अन्वयः । हे कमलपत्राक्ष ! त्वत्तः (त्वत् सकाशात्) भूतानां भवाप्ययौ हि (सृष्टिप्रलयौ) मया विस्तरशः श्रुतौ, अव्ययं माहात्म्यं अपि च (श्रुतम्) ॥ २ ॥

अनुवाद । हे कमलपत्राक्ष ! तुमसे भूतोंकी सृष्टि और प्रलय की कथा मैंने सविस्तर सुनी, अव्यय माहात्म्य भी सुना है ॥ २ ॥

व्याख्या । हे कमलपत्राक्ष ! कमल पत्तीके जलमें रहनेवाला पीठके ऊपर ताकनेसे उसके सर्व स्थानमें ही जैसे शिरा खचित चक्षुका आकार देखा जाता है, वैसे जगत्के प्रत्येक अणु परमाणुओंमें द्रष्टा स्वरूपसे तुम हो; कहीं ऐसा कुछ नहीं, जो तुम्हारी दृक्शक्तिकी अन्तरालमें रह सके । भूत समूहके भव अर्थात् उत्पत्ति का विषय, अव्यय अर्थात् प्रलयका विषय, और "मैं" का (मेरे) माहात्म्यका विषय तुम्हारे निकट (अर्थात् जब मैं "मैं" के

भावमें था, उसी भावमें रह करके) विस्तार रूपसे मैंने सुना है—प्रत्यक्ष किया है—और समझा है ॥ २ ॥

एवमेतद् यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

अन्वयः। हे परमेश्वर ! त्वं आत्मानं यथा आत्थ ("विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इत्येवं कथयसि) एतत् एवं (न अन्यथा इत्यर्थः); हे पुरुषोत्तम ! ते ऐश्वरं (ज्ञानैश्वर्य्यशक्तिबलवीर्य्यतेजोभिः सम्पन्नं) रूपं द्रष्टुं इच्छामि ॥ ३ ॥

अनुवाद। हे परमेश्वर ! आत्मविषयमें तुमने जिस प्रकार कहा है वह ऐसाही है। हे पुरुषोत्तम ! तुम्हारा (वही) ऐश्वरिक रूप देखनेकी मैं इच्छा करता हूं ॥ ३ ॥

व्याख्या। ऐसा "मैं", जिसे त्वं-ज्ञानमें पहुंचकर समझना होता है, जिसके विषयमें तुमने कहा है, वह वैसा ही है; इससे अन्यथा नहीं। तुम परमेश्वर अर्थात् ज्ञान ऐश्वर्य्य शक्ति बल वीर्य्य तेज सम्पन्न हो। हे पुरुषोत्तम ! हे त्वं ज्ञानके प्राणसखा ! तुम्हारे उसी ऐश्वरिक रूप देखनेकी हमें बड़ी अभिलाषा है। आपके उपदेशानुसार हमारे अन्तष्करणमें जो जो अनुभवादि हुए हैं, उनमें अब किसी प्रकारका संशय नहीं; परन्तु मैं बाहर आकर जो यह वह सो पृथक् विचार कर गोलमाल (गड़बड़) कर देता हूँ, अब तुम उन्हीं सबकी मीमांसा कर दो;—किस

प्रकारसे एक अवयवमें—एक अंशमें इस विश्व जगत्को धारण किये हो, उसीको देखनेकी मेरी वासना है ॥३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

अन्वयः । हे प्रभो ! यदि तत् (ऐश्वरं रूपं) मया द्रष्टुं शक्यं इति मन्यसे, ततः (तर्हि) हे योगेश्वर ! त्वं मे (मह्यं) अव्ययं आत्मानं दर्शय ॥ ४ ॥

अनुवाद । हे प्रभो ! यदि मैं वह रूप देखनेमें समर्थ होऊं ऐसा आप समझें तो हे योगेश्वर ! आप मुझको अपना वही अव्यय आत्म-स्वरूप दिखाइये ॥ ४ ॥

व्याख्या । हे प्रभो ! हे दीनबन्धो ! योगेश्वर ! (योगेश्वर उसे कहते हैं जो अहं अथवा त्वं भावमें चाहे जिसमें रहे, परन्तु उसमें योगावस्थाका अभाव कभी न हो) यदि मैं इस त्वं ज्ञानमें रह करके तुम्हारे उस अहं भावको देखनेके लायक होऊं तो तुम मुझको भीतर बाहर मिला कर अपना अव्यय आत्म-भाव दिखलाओ ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

अन्वयः। श्रीभगवान् उवाच। हे पार्थ! मे नानाविधानि दिव्यानि (अलौकिकानि) नानावर्णाकृतीनि च (नानाविधैः वर्णैः आकृतिभिश्च युक्तानि च) शतशः अथ सहस्रशः रूपाणि पश्य ॥ ५ ॥

अनुवाद। श्रीभगवान कहते हैं,—हे पार्थ! मेरे नानाविध, दिव्य (अलौकिक) नाना वर्ण और आकृतियुक्त शत शत और सहस्र सहस्र रूप देखो ॥ ५ ॥

व्याख्या। [पूर्वोक्त चार श्लोकमें साधक जीव-भावमें जो आकांक्षा करता है, इन चार श्लोकोंमें आत्म-भावसे वह पूर्ण होता है,—दिव्यदृष्टिके विकाशसे विश्वरूप प्रत्यक्ष होता है।]

हे पार्थ! (पृथ् क्षेपणे; अविच्छिन्न रूपसे आत्मज्ञान में जो नहीं रह सकते उन्हींकी संज्ञा पार्थ है) देखो, "मैं" का रूप देखो; शत शत, सहस्र सहस्र, अन्तशून्य अनन्त कैसा है, सो देखो। मैं एक हो करके भी कैसे बहु-आत्मक हूँ, फिर बहु होकरके कैसे एक हूँ, उसे देखो। सबही आकाशके कार्य्य हैं; स्याही, कूंचा, फूस खर), मट्टी कुछ भी नहीं है। नाना प्रकारके रंग, सब आकाशके हैं, आकाश से गढ़ा हुआ नाना आकृति आकाश में लट-काई हुई हैं, ओट पोट कुछ नहीं। निराश्रय में आप ही आप अपना अपना मूर्त्तियोंका प्रकाश, जैसे आपही आप करते हैं। परस्पर किसी के कोई सहारे नहीं, सबके सब स्वतन्त्र हैं।

पश्यादित्यान् वसून रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्य्याणि भारत ॥६॥

अन्वयः। हे भारत! आदित्यान् वसून् रुद्रान् अश्विनौ मरुतः (एकोनपञ्चाशद्देवताविशेषान्) पश्य; तथा बहूनि अदृष्टपूर्वाणि आश्चर्य्याणि पश्य ॥ ६ ॥

अनुवाद। हे भारत! आदित्य गणोंको, वसुगणोंको, रुद्रगणोंको अश्विनीकुमारद्वयको तथा मरुद्गणको देखो; और भी बहु अदृष्टपूर्व सब आश्चर्य्य देखो ॥ ६ ॥

व्याख्या। देखो! आकाश मय ज्योतिसमष्टि द्वादश सूर्य्य के तेज एकत्र देखो। इस ज्योति की सीमा नहीं, परन्तु आंख चमकती या दर्द नहीं करती। क्या आश्चर्य है! फिर वह देखो! उस तेज़के परिवर्त्तन से ही "वसु" (१०म अः २३वां श्लोक देखो)--महज्योति की खण्डांश के व्यष्टि भाव है।

"रुद्रान्" (१०म अः २३वां श्लोक देखो)--अभावनीय परिवर्त्तन (संहरण)। एकदृष्टिसे ताकते रहने से भी परिवर्त्तनका आदि अन्त मालूम नहीं होता।

"अश्विनौ"—फिर रूपकी प्रभा देखो। एक खिल करके फिर दूसरेको खिलाती है, वह भी खिल करके

फिर खिलानेवाले को भी खिलाती है। मनोमोहकरी अपरूप रूप देखो ॥ ६ ॥

"मरुतः"—फिर वह देखो, वे सब भंग होकर, झिलमिल झिलमिल सागर तरंग—ज्योतिकी लहर; जैसे एकोनपञ्चाशत् पवन अनन्त सागरके अनन्त वक्षमें चन्द्र, सूर्य्य, अग्नि, विद्युत् के घोलमेल से मतवाला होकर होली खेलता है; केवल इतना ही नहीं परन्तु और भी कितना अदृष्टपूर्व, जिसे असाधक अवस्थामें कभी कोई देखने नहीं पाते, उसे भी देखो! अहो क्या आश्चर्य्य है! हे भारत—चिज्ज्योतिनिविष्टचित्त साधक! देखो, देखो, कितना आश्चर्य्य व्यापार है देखो!! ॥ ६ ॥

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

अन्वयः। हे गुडाकेश! अद्य सचराचरं कृत्स्नं जगत् अन्यत् च यत् द्रष्टुं इच्छसि (तत्) इह (अस्मिन्) मम देहे एकस्थं (अवयवरूपेण एकत्र स्थितं) पश्य ॥ ७ ॥

अनुवाद। हे गुडाकेश! मेरे इस देहमें आज सचराचर समग्र जगत् और भी दूसरा जो कुछ तुम्हें देखनेकी इच्छा हो, (उन समस्त को अवयव रूपसे) एकत्र अवस्थित है, देखो! ॥ ७ ॥

व्याख्या। हे गुडाकेश! (गुडाका=निद्रा, ईश=नियन्ता;

(९ म अः २३ वां श्लोक देखो) यह जो सचराचर जगत् है, (चर=जो चरते फिरते रहते हैं, जीव समूह; और अचर=स्थावर, जो चल नहीं सकते, जैसे वृक्ष, पत्थर प्रभृति) ये समस्त ही मेरे शरीरके भीतर इकट्ठे कैसे रहते हैं देखो। और भी देखो भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान कालकी घटनावलि, (तुम्हारे साधन समरकी जय-पराजय, संशय-छेदनादि) जो तुम्हारी इच्छा हो, वही देखो! ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

अन्वयः। तु (किन्तु) अनेन एव स्वचक्षुषा मां द्रष्टुं न शक्यसे; अतः ते (तुभ्यं) दिव्यं चक्षुः ददामि; मे ऐश्वरं (असाधारणं) योगं (अघटनघटनसामर्थ्यं) पश्य ॥ ८ ॥

अनुवाद। परन्तु तुम इन दोनों चक्षुसे मुझको देखनेमें असमर्थ हो, अतएव तुमको मैं दिव्य चक्षु देता हूं; उससे मेरे असाधारण योग-बलको देखो ॥ ८ ॥

व्याख्या। ये जो तुम्हारे दो चक्षु हैं, इनसे तुम केवल बाहरवाली चीज़ें (प्राकृतिक स्थूल पदार्थ) देख सकते हो; उनसे 'मैं' (मुझको) देख नहीं सकते। 'मैं' का योग (हममें माया कैसे मिल जाती है, तथा उत्पन्न होती

है, खेल करती है) देखना हो तो, इन दोनों चर्म्म चक्षु की दृष्टिसे काम नहीं चलेगा। तुमको मैं ऐसा एक आकाश सदृश चक्षु देता हूं (८म अः ३य श्लोकके तद्ब्रह्म देखो), जिससे तुम मेरे योग और ऐश्वर्य्यको देखने पाओगे, देखो !* ॥ ८ ॥

सञ्जय उवाच।

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

अन्वयः। संजयः उवाच। हे राजन्! महायोगेश्वरः हरिः एवं उक्त्वा ततः (अनन्तरं) पार्थाय परमं ऐश्वरं रूपं दर्शयामास ॥ ९ ॥

अनुवाद। संजय कहते हैं,—हे राजन्! महायोगेश्वर हरिने इस प्रकार कह कर पार्थको परम ऐश्वरिक रूप दिखलाया ॥ ९ ॥

व्याख्या। सं+जय=सञ्जय। अर्थात् भूतप्रपञ्चको कारण, कार्य्य, गुण और अर्थके साथ परिज्ञात हो करके जो स्थिति है, वही सञ्जय अवस्था है। साधक जब

---

* ८म अः में दीक्षाका समस्त उपदेश करनेसे भी प्रकृत दीक्षा—ज्ञानचक्षुकी उन्मीलन क्रिया यहाँ ही हुई, क्योंकि दीक्षाका अर्थफल प्रत्यक्षीकरण यहांसे ही प्रारम्भ हुआ है। दीक्षाका इस अर्थ फलको लक्ष्य करके ही गुरुदेवको—'चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः' यह कह कर प्रणाम किया जाता है ॥ ८ ॥

आज्ञा चक्र में रह कर निम्नदृष्टिसे भूतजगत् की लीला देखते हैं, तबही उनका विषय मात्रमें सम्पूर्ण अनासक्ति भाव रहता है; वह अनासक्त दृष्टि ही दिव्य दृष्टि है; और वही साधक की सञ्जय अवस्था है। इस अवस्था में रह करके उस दिव्य दृष्टिसे जो कुछ अनुभव प्रत्यक्ष होता है, उसे ही "सञ्जय उवाच" कह करके व्यक्त कीया है। ये सब मनही मन की बात है। इस अवस्थामें मनही वक्ता, तथा मनही श्रोता है; वक्ता अवस्थामें सञ्जय और श्रोता अवस्थामें धृतराष्ट्र—देहराज्य के सुख दुःख का भोक्ता होनेसे राजा है।

प्रधान से भी महान् योगेश्वर हरिने (जो सर्वको हरण करते हैं) अर्जुन को दिव्य चक्षु देकरके "परम" जो ईश्वरतत्त्व है, उसे ही दिखलाया ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्य्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

अन्वयः। (तत् रूपं एवंभूतं)—अनेकवक्त्रनयनं, अनेकाद्भुतदर्शनं, अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्, दिव्यमाल्याम्बरधरं, दिव्यगन्धानुलेपनं, सर्वाश्चर्य्यमयं, देवं (द्योतनात्मकं), अनन्तं (अपरिच्छिन्नं), विश्वतोमुखं (सर्वतः मुखविशिष्टं) ॥ १० ॥ ११ ॥

अनुवाद। (वह रूप) अनेक मुख और नयन विशिष्ट, अनेक अद्भुतदर्शन विशिष्ट, अनेक दिव्य आभरण विशिष्ट, अनेक उद्यत दिव्य अस्त्र विशिष्ट, दिव्य माल्य और वस्त्रधारी, दिव्य गन्धानुलेपित, सर्वाश्चर्य्यमय, दीप्तिमय, अनन्त, और सर्वत्र मुख विशिष्ट है ॥ १० ॥ ११ ॥

व्याख्या। अनेक मुख, अनेक नयन, अनेक अद्भुत दर्शन (जिसका साधनावस्थाके पूर्वमें और कभी दर्शन न हुआ हो), अनेक आभरण, अनेक अस्त्र शस्त्र (१० म अः ३१ वां श्लोक) धारण कर रहे हैं, वह समस्तही आकाशसे गढ़ा (बनाया) हुआ है। आकाशीय-फूलकी माला, आकाशीय वस्त्र, रूपकी ज्योतिसे खिल पड़ा है। आकाशमें कुंकुम-कस्तुरी-चन्दनका अनुलेपन, समस्तही आश्चर्य्यजनक है! छायाहीन ज्योतिर्म्मय मूर्त्ति है! एक आध नहीं, अनेक, असंख्य; विश्वकोषमें जो कुछ ज्ञात वा अज्ञात है, वह सब प्रगट हो गया। (१०म अः ३५वां श्लोकमें "विश्वतोमुख" देखो) ॥ १० । ११ ॥

दिवि सूर्य्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥१२॥

अन्वयः। यदि दिवि (आकाशे) सूर्य्यसहस्रस्य भाः (प्रभाः) युगपत् उत्थिता भवेत्, (तर्हि) सा (प्रभा) तस्य महात्मनः (विश्वरूपस्य) भासः प्रभायाः) सदृशी स्यात् ॥ १२ ॥

अनुवाद। यदि आकाशमें सहस्र सूर्य्यकी प्रभा एकही कालमें

उदित हो, (ऐसा होनेसे) वह प्रभा उस महात्माकी प्रभाके सदृश हो सकती है ॥ १२ ॥

व्याख्या । विश्वरूपकी इतनी ज्योति, इतना तेज है कि, उसकी सीमा नहीं हो सकती । कदाचित् एकही कालमें एकही साथ अनन्त सूर्य्यका उदय हो, उस सूर्य्य समूहकी ज्योति आकाशमें जिस प्रकार प्रभा विस्तार करेगी, वह भी इस प्रभाके आगे कदापि नहीं ठहर सकती । उसकी उपमा नहीं ! तुलना भी नहीं !॥१२॥

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

अन्वयः । तदा पाण्डवः (अर्जुनः) तत्र देवदेवस्य शरीरे अनेकधा प्रविभक्तं (नानाविभागेनावस्थितं) कृत्स्नं जगत् एकस्थं अपश्यत् ॥१३॥

अनुवाद । तब अर्जुनने उस देवाधिदेव के शरीरमें नाना प्रकार से विभक्त समग्र जगत्को एकत्र स्थित अवलोकन किये ॥ १३ ॥

व्याख्या । उस वासुदेवके शरीरमें स्थावर जंगमात्मक (एक पार्थिव अणुसे शिवादि कृमि पर्य्यन्त) विश्वकोषमें जितने प्रकारके दृश्य हो सकें, सब एकट्ठे स्थित हैं । साधनसिद्ध अनुभवसे साधक (अर्जुन) उसे प्रत्यक्ष करना प्रारम्भ करते हैं ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

अन्वयः । ततः (दर्शनान्तरं) सः धनञ्जयः विस्मयाविष्टः हृष्टरोमा (रोमाञ्चितः सन्) देवं शिरसा प्रणम्य कृताञ्जलिः (भूत्वा) अभाषत (उक्तवान्) ॥ १४ ॥

अनुवाद । तत्पश्चात् अर्जुन विस्मयापन्न और रोमाञ्चित हो कर उस देवको मस्तक से प्रणाम करके कृताञ्जलि होकर कहने लगे ॥ १४ ॥

व्याख्या । साधक ! तुम देखो । जब तुम्हारी इस प्रकार अवस्था आती है, तब तुम्हारे शरीरके रोएँ कण्टकाकारसे खड़े हो जाते हैं। चर्म्म-चक्षुके अतीत पदार्थ जिन्हें कभी नहीं देखे थे, उन समस्त को देख कर आश्चर्य्यान्वित होते हो इसीसे "विस्मयाविष्ट" कहा गया है। और इस अवस्थामें तुम जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख, क्षुधा, तृष्णा प्रभृतिका उत्पादक कोई किसीके साथ संस्रव न रख कर, उसी परम कार्य्यके कारणमें विभोर हो जानेसे तब "धनञ्जय" होते हो; उस समय तुम्हारे प्राण और अपानकी क्रिया इतनी सूक्ष्मरूपसे सम्पन्न होती है कि उसे तुम धारणामें भी नहीं ला सकते, और उस समय तुम सहस्रार-मूल-त्रिकोणमें उठ कर उसी अपूर्व चिदा-

काशमें मिल कर आकाश सदृश रह जाते हो। वह जो प्राण और अपान की क्रिया है, उसीको प्रणाम कहा है। एक वार नीचे झुकना और एक बार ऊपर उठनेको प्रणाम कहते हैं। और वह जो तुम्हारी अवस्थिति है, वही अनिर्वचनीय है। यदि तुम उसके विषयमें कहा चाहो तो तुम्हें उस अवस्थासे उतर कर कहना पड़ता है। उस समय तुम्हारी समस्त क्रिया स्थिर रहती हैं, फिर निष्क्रियत्व भी नहीं होता, अथच इन दोनोंकी सन्धि—वाम और दक्ष उभयका संजोजन है; वाम विपथ और दहिना सपथ है; इन दोनोंके संयोगकोही सन्धि कहते हैं, और इसी सन्धिकोही कृताञ्जलि कहा गया है। वह अचिन्त्य, अव्यक्त, निर्गुण पुनः गुणात्मक अवस्थाही इस जगत्का आधार स्वरूप है; परन्तु वह भी तुमसे भिन्न नहीं है, पुनः भिन्नबोधके भ्रमके कारण "देव" शब्द दिया गया है। और "अभाषत"?—तुम जो इस प्रकार आत्मसमर्पण करके स्तुति कीये विना रह नहीं सकते, वह स्तुतिही तुम्हारा "प्रभाषण" है॥ १४॥

अर्जुन उवाच।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।

ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

अन्वय। अर्जुनः उवाच। हे देव! तव देहे सर्वान् देवान् (आदित्यादीन्) तथा भूतविशेषसंघान् (जरायुजाण्डजादीनां संघान्) दिव्यान् ऋषीन् च (वशिष्ठादीन्), सर्वान् उरगान् च (वासुकिप्रभृतीन्), कमलासनस्थं (पृथिवीपद्ममध्ये मेरुकर्णिकासनस्थं) ईशं (प्रजानां ईशितारं ब्रह्माणं पश्यामि ॥ १५ ॥

अनुवाद। अर्जुन कहते हैं,—हे देव! तुम्हारे देहमें समुदय देवोंको, जरायुजादि नानाविध भूतसमूहको, दिव्य ऋषियोंको समुदय उरगोंको और कमलासनस्थित प्रजापति ब्रह्माको देखता हूं ॥ १५ ॥

व्याख्या। अब साधक ब्रह्ममुखी वृत्तिसे अपने देहके भीतर चित्तपथमें चित्तपटमें विश्वरूप देखते हैं। द्रष्टा न होनेसे दृश्यका दर्शन नहीं होता, इसलिये साधक अहंरूप से अपनेको द्रष्टा मानकर विश्वको त्वं-रूपसे दृश्य बनाकर अपने आपको भूलकर विश्वरूपमें मतवाले होजाते हैं, और कहते हैं—हे देव! तुम्हारे दिव्य देहमें सबही आकाशकी लीला है, पृथिवीका गन्ध, जलका रस, तेजका रूप, वायुका स्पर्श और आकाशका शब्द लेकर शून्य ही में पञ्चीकरण होता है; सत्व, रज और तमोगुणके त्रिकरणके मिश्रण हेतु यह अद्भुत व्यापार प्रकाश होता है; प्रकृतिके जितने कृतित्व हैं, सब एक स्थानमें इन्द्रजालके

सदृश खिलते हुये बाहर निकल आते हैं। सृष्टिकी सीमा नहीं है। यथास्थानमें कमलासनपर सृष्टिके ईश्वर ब्रह्मा, देवतासमूह, ऋषिकुल, सर्पकुल अवस्थित हैं, ये सबही आकाशके आकारधारी विकार हैं। (साधक! होशियार हो करके अपने कूटस्थके दृश्य समुदयसे इसे मिला लो) ॥१५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

अन्वयः । हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप! अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं अनन्तरूपं त्वां सर्वतः (सर्वत्र) पश्यामि; तव पुनः न अन्तं न मध्यं न आदिं पश्यामि ॥ १६ ॥

अनुवाद । हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! अनेक बाहु उदर मुख नयन युक्त और अनन्त रूप सम्पन्न तुमको सर्वत्र देखता हूं; पुनः तुम्हारा न अन्त न मध्य न आदि देखता हूं ॥ १६ ॥

व्याख्या । कितनेही उदर, कितनेही हाथ, कितनेही मुख कितनेही चक्षु देखता हूं, उनका और अन्त नहीं है। दशो दिशामें देखता हूं; किसी दिशामें भी आदि, अन्त, मध्य ठीक नहीं कर सकता हूं। हे विश्वेश्वर! यह क्या तुम्हारा विश्वरूप है! ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणञ्च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

अन्वयः। किरीटिनं (मुकुटवन्तं), गदिनं (गदावन्तं), चक्रिणं च (चक्रवन्तं च), सर्वतः दीप्तिमन्तं तेजोराशिं (तेजःपुञ्जरूपं), दुर्निरीक्ष्यं (द्रष्टुमशक्यं), दीप्तानलार्कद्युतिं (प्रदीप्ताग्निसूर्य्यसमप्रभा-विशिष्टं) अप्रमेयं त्वां समन्तात् (सर्वत्र) पश्यामि ॥१४॥

अनुवाद। मुकुटवान्, गदाचक्रधारी, सर्वत्र दीप्तिमान् तेजःपुञ्ज स्वरूप, दुर्निरीक्ष्य, प्रदीप्त अग्निसूर्य्यवत् प्रभाविशिष्ट और अप्रमेय तुमको सर्वत्र देखता हूं ॥ १७ ॥

व्याख्या। कोई किरीटधारी (चूड़ा लगाई हुई मणि-मोती-पन्ना-हीरा लटकाई हुई, सुवर्णसे गढ़ी हुई टोपीको किरीट कहते हैं), कोई गदाधारी और कोई चक्रधर है। सब अपने अपने तेजोराशि स्वरूपसे युक्त हैं इसलिये महान् ज्योतिसे दृक्शक्ति हार जाती है, ठहर नहीं सकती (परन्तु देखनेमें कष्ट भी नहीं है)। मैं यह कौन दृश्य देखता हूं! तुम्हारे ज्वलन्त रूपके ऊपर मैं अपनी दृक्शक्तिको स्थिर रख नहीं सकता हूं। तुलनाके अतीत है, मानो जैसे सूर्य्य, विद्युत् और अग्नि इत्यादिको मिला करके तेज बनाया हुआ है ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्म्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

अन्वयः । त्वं परमं अक्षरं (परं ब्रह्म) वेदितव्यं (मुमुक्षुभिः ज्ञातव्यं); त्वं अस्य विश्वस्य (समस्तस्य जगतः) परं निधानं (परमाश्रयः); त्वं अव्ययः शाश्वतधर्म्मगोप्ता (नित्यस्य धर्म्मस्य पालकः); त्वं सनातनः (चिरन्तनः) पुरुषः मे मतः ॥ १८ ॥

अनुवाद । तुम परम अक्षर, (तुमही) ज्ञातव्य; तुम इस विश्वके परम आश्रय; तुम अव्यय और शाश्वत धर्म्मको पालने वाले; तुमही सनातन पुरुष हो; (यही) हमारा मत (स्थिर विश्वास) है ॥ १८ ॥

व्याख्या । "त्वमक्षरं" = तुम अक्षर हो—जो कभी नष्ट नहीं होते (८म अः ३य श्लोक देखो); परमं = ब्रह्म; वेदितव्यं = जाननेकी वस्तु तुम हो; निधानं = तुम इस विश्व के शेष आश्रय हो; तुम अव्यय = अपरिणामी हो; शाश्वत= चिरस्थायी तुम हो; धर्म्मगोप्ता = यह विश्वही तुम हो, परन्तु तुम इस विश्वको जैसे धारण कर रहे हो,—तुम्हारा यह जो आवरण है, यही तुम को आत्मगोपन करनेवाला बनाया है; सनातन = अनादिसिद्ध चिरन्तन पुरुष तुम हो; पुरुष= सर्व शब्दके अर्थके अन्तरात्मा तुम हो;— यही मैं समझता हूँ ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्य्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

अन्वयः । त्वां अनादिमध्यान्तं (उत्पत्तिस्थितिलयरहितं) अनन्तवीर्य्यं अनन्तबाहुं शशिसूर्य्यनेत्रं दीप्तहुताशवक्त्रं (प्रज्वलितानिमुखं) स्वतेजसा इदं विश्वं तपन्तं (सन्तापयन्तं) पश्यामि ॥ १९ ॥

अनुवाद । तुमको आदिमध्यान्तरहित, अनन्तवीर्य्यशाली, अनन्त बाहुयुक्त, शशिसूर्य्यनेत्र, प्रदीप्तानिमुख और स्वतेजसे इस विश्व के सन्तापक स्वरूप मैं देखता हूं ॥ १९॥

व्याख्या । तुम्हारा आदि, अन्त और मध्य नहीं, तुम अनन्त हो । तुम्हारे शौर्य्य, प्रताप, गौरव तथा सामर्थ्यका अन्त नहीं, तुम अनन्त हो । तुम्हारी क्रिया-शक्ति सर्वत्र समान रूपसे वर्त्तमान है, तुम अनन्त हो । तुम उग्रसे भी उग्र और सौम्यसे भी सौम्य स्वरूपसे द्रष्टा हो । तुम्हारा मुख प्रज्वलित अग्निशिखामय है । तुम्हारे महान् तेजसे इस जगत् को तपायमान देखता हूं (इस तेजसे तपित यह ब्रह्माण्ड कहीं गल न जाय, मुझे इसीमें सन्देह है) ॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।

दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

अन्वयः । हे महात्मन् ! द्यावापृथिव्योः इदं अन्तरं (अन्तरीक्षं) त्वया एकेन हि (विश्वरूपेण) व्याप्तं, सर्वाः दिशश्च (व्याप्ताः); तव इदं अद्भुतं (अदृष्टपूर्वं) उग्रं (घोरं) रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितं (अतिभीतं पश्यामि) ॥ २० ॥

अनुवाद । हे महात्मन्! स्वर्ग और पृथिवीके अन्तर (अन्तरीक्ष) तथा समुदय दिक् समूह एक मात्र तुमसे ही व्याप्त हो रहा है; तुम्हारी इस अद्भुत उग्र मूर्त्तिका दर्शन करके लोकत्रय अतीव व्यथित (भीत) होते हैं, देखता हूं ॥ २० ॥

व्याख्या । देवगण जहां निवास करते हैं अर्थात् साधन-समय में साधक जिस स्थानमें छायाहीन तैजस मूर्त्तिका दर्शन करते हैं, उसीको स्वर्ग कहते हैं । स्वृ—शब्द करने को कहते हैं (स्वर), और गै=गान करना है । प्राणवायुको (गुरूपदिष्ट रीतिसे) चलानेमें जिस स्थानसे सप्त स्वरका उत्थान होता है (प्रकाश पाता है), वही स्थान स्वर्ग है (साधनसे मालूम होता है) । और कर्म्म-स्थान अर्थात् स्थूलशरीरधारियोंके आवास भूमि को पृथिवी कहते हैं । इन दोनोंके बीचमें जो अवकाश अर्थात् शून्य भूमिका है, उसीको अन्तरीक्ष कहते हैं । अन्तर कहते हैं भीतरको अर्थात् मध्य स्थानको, और

ईक्ष कहते हैं दर्शन करनेको; अर्थात् भीतर भीतर दोनों स्थानके बीचमें जो देखता हूं, वही अन्तरीक्ष है । हरि ! हरि !! इन तीनों स्थानके दश दिशामें तुमही एक हो करके व्याप्त हो रहे हो ! ऐसा स्थान कोई नहीं जहां तुम नहीं,—ऐसी वस्तु भी कोई नहीं जो तुम नहीं हो । हे महात्मन् ! तुम्हारे इस अद्भुत (जिसे पूर्वमें मैंने कभी नहीं देखा था) उग्र (भयावह) रूपसे तीनों लोक को अत्यन्त भीत देखता हूं ॥ २० ॥

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥२१॥

अन्वयः । अमी सुरसङ्घाः त्वां हि विशन्ति (शरणं प्रविशन्ति), केचित् भीताः (दूरत एव स्थित्वा) प्राञ्जलयः (कृतसम्पुटकरयुगलाः सन्तः) गृणन्ति (जय जय रक्ष रक्षेति प्रार्थयन्ते); महर्षिसिद्धसंघाः स्वस्ति इति उक्त्वा त्वां पुष्कलाभिः (सम्पूर्णाभिः) स्तुतिभिः स्तुवन्ति ॥ २१ ॥

अनुवाद । वह सब सुरसमूह तुममें ही (शरणार्थ) प्रवेश करते हैं, कोई कोई भय भीत, कृताञ्जलि हो करके (दूरसे ही रक्षा करो रक्षा करो

कहते हुए) प्रार्थना करते हैं; महर्षि और सिद्धगण "स्वस्ति" यह वचन कह करके तुमको पुष्कल (सुसम्पन्न) स्तुति समूहसे स्तव करते हैं ॥२१॥

व्याख्या । 'अमू' = रोगग्रस्त, और 'इन्' = रहना; रुग्न हो करके रहनेका नाम 'अमी' है । 'हि' = निश्चय । 'सुरसंघा' = देवतासमूह; त्वां = तुममें, 'विशन्ति' = प्रवेश करते हैं । वे तेजवान् देवता भी तुम्हारे तेजकी प्रभासे रोगग्रस्त ज्योतिहीनोंके सदृश तुममें ही प्रवेश करते हैं, कोई कोई पुनः भयसे विभोर होकर हाथ जोड़ करके रक्षा करो रक्षा करो कहते हैं। और सिद्ध महर्षि समूह 'स्वस्ति' इस आशीर्वचनोंसे जगत्को आशीर्वाद कर रहे हैं, क्योंकि जगत् यदि न रहता तो यह अरूप का रूप हम सब किस तरहसे देखते, इत्यादि कहते हुये तुम्हारी उत्कृष्ट स्तुतिसे स्तव करते हैं । अर्थात् विश्वरूपमें मतवाला हो करके कहते हैं,—भो ! भो ! यही तो तुम्हारा अरूपका रूप है! ऋत, सत्य, नित्य, परं ! अहो ! जय जगदीश हरे! "हरे मुरारे मधुकैटभारे गोपाल गोविन्द मुकुन्द शौरे। यज्ञेश नारायण कृष्ण विष्णो निराश्रयं मां जगदीश रक्ष" ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घाः
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

अन्वयः। रुद्रादित्याः वसवः ये च साध्याः (साध्यनाम देवताः) विश्वे (देवाः) अश्विनौ (देवौ) मरुतश्च (मरुद्गणाश्च) उष्मपाश्च (पितरः) गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः सर्वे एव च विस्मिताः (सन्तः) त्वां वीक्षन्ते ॥ २२ ॥

अनुवाद। रुद्रगण, आदित्यगण, वसुगण, साध्य नामक देवगण, विश्वदेवगण, अश्विनीकुमारद्वय, मरुद्गण, पितृगण, गन्धर्व-यक्ष-असुर-सिद्धसमूह सब विस्मित हो करके तुम्हारा दर्शन करते हैं ॥ २२ ॥

व्याख्या। एकादश रुद्र (१०म अः २३वां श्लोक), अष्ट वसु (१०म अः २३वां श्लोक देखो), साध्यगण, (मनः, मन्ता, प्राण, सर, पान, वीर्य्यवान, विनिर्भय, लय, दंश, नारायण, वृष और प्रभु ये बारह प्रकारके देवता लोग), विश्वदेवगण (वसु, सत्य, क्रतु, वक्ष, काल, काम, धृति, कुरु, पुरुरवा और मद्रव ये दश प्रकारके गणदेवता), अश्विनीकुमार दोनों, मरुद्गण, (मृ=मरण, उत्=मिला देना, अर्थात् जिसके वा जिनके क्रुद्ध होनेसे मृत्यु होती है, उसको वा उन सबको मरुत् कहते हैं) अर्थात् उन्चास प्रकारके वायुगण, उष्मपा अर्थात् पितृगण (ये लोग सात सम्प्रदाय हैं,—अग्निष्वात्त्वा, सौम्याः,

हविष्मन्तः, उष्मपाः, सुकालिनः, वर्हिषदः, आज्यपाः), हाहा हुहु आदि गन्धर्वगण, कुवेरादि यक्षगण, विरोचनादि असुरगण, कपिलादि सिद्धगण, सबके सब विस्मयापन्न होकर के (म्लान मुख से) तुमको देखते हैं। (साधक ! तुम भी उसी प्रकार आश्चर्य्यान्वित होकर ताकते रहते हो; इसे मिलाकर देखो) ॥ २२ ॥

रूपं महत् ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

अन्वयः । हे महाबाहो ! ते बहुवक्त्रनेत्रं बहुबाहूरुपादं बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं (बहुदंष्ट्राभिः विकृतं) महत् रूपं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथिताः (भयेन प्रचलिताः) तथा अहं (अपि) ॥ २३ ॥

अनुवाद। हे महाबाहो ! तुम्हारे बहुमुख और नयन विशिष्ट, बहुबाहु उरु और पाद विशिष्ट, बहु उदर विशिष्ट, बहुदंष्ट्रासे भयंकर महत् रूप देख करके समस्त लोक भय विचलित होते हैं, मैं भी भयातुर होता हूं॥२३॥

व्याख्या। हे महाबाहो ! (आदि, अन्त तथा मध्य विशिष्ट जो कुछ हैं, वह सब जिसके हाथके मध्यगत सदृश आयत्ताधीन हो सके, उन्हींको महाबाहु कहते हैं) "रूपं महत्ते"—महत्को भी अतिक्रम करके यह जो तुम्हारा

अप्रमेय रूप! तुम्हारा कोई रूप नहीं; क्योंकि तुम अनादि अनन्त हो। रूप है सादि सान्तमें। परन्तु तुम महत्को भी अपने गर्भके भीतर लेकरके कैसे एक प्रकार का क्या हुए हो, उसका वर्णन भाषामें नहीं आ सकता इस करके कहा भी नहीं जाता। तथापि उस महत्में तुम्हारा जो रूप स्फुटित हो उठा, उसमें असंख्य मुख, चक्षु, हाथ, असंख्य उरु, पाद, उदर, असंख्य भीषण आकार वाले दांत देख करके समस्त लोक जगत् भयसे व्याकुल हुआ है, मैं भी व्याकुल हूं! (साधक! अपना उस समयका ठीक ठीक भाव मिला लो, और मिलाते चलो) ॥ २३ ॥

नभस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमञ्च विष्णो॥२४॥

अन्वयः। हे विष्णो! नभस्पृशं (द्युस्पर्शं) दीप्तं (प्रज्वलितं) अनेकवर्णं व्यात्ताननं (विवृतमुखं) दीप्तविशालनेत्रं त्वां दृष्ट्वा प्रव्यथितान्तरात्मा (भीतचित्तः सन्) धृतिं (धैर्य्यं) शमं च (उपशमम्) न हि विन्दामि (न लभे) ॥ २४ ॥

अनुवाद। हे विष्णो! अन्तरीक्षव्यापी, प्रज्वलित, अनेकवर्ण, विवृतमुख, दीप्तविशालनेत्र तुमको देख करके भीत चित्त मैं धैर्य्य और उपशम लाभ कर ही नहीं सकता ॥ २४ ॥

व्याख्या। हे विष्णो! (दूधमें घृत रहनेके सदृश जो पुरुष विश्वमें व्याप्त होकर स्थित है, उसीको विष्णु कहते हैं) जैसे आकाशको अपने गर्भके भीतर ले करके, नाना वर्णके तथापि प्रमाणके अतीत ज्वलन्त अग्निशिखामय वह जो तुम्हारा विस्तार किया हुआ मुख गह्वर है, और ज्वालामाली तेजोराशि वह जो तुम्हारी विस्तृत चक्षु है;—उन्हें देख करके हमारी अन्तरात्मा भयसे व्याकुल और संकुचित हो रही है। धैर्य्य धरकर अपनी समताको मैं और ठीक नहीं रख सकता॥ २४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानल सन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ २५॥

अन्वयः। हे देवेश! दंष्ट्राकरालानि च कालानलसन्निभानि (प्रलयाग्निसदृशानि) ते मुखानि दृष्ट्वा एव दिशो न जाने (दिङ्मूढोऽस्मि) शर्म्म च (सुखं) न लभे। भो जगन्निवास! प्रसीद (प्रसन्नो भव)॥२५॥

अनुवाद। हे देवेश! दंष्ट्रा द्वारा विकृत और प्रलयाग्नि सदृश तुम्हारे मुख समूहको दर्शन करके मैं दिग्भ्रान्त हुआ हूं, सुखलाभ नहीं कर सकता। हे जगन्निवास! प्रसन्न होईये।

व्याख्या। हे देवेश! तुम्हारे भयावह मुखके विकृत दन्त समूहकी ज्योति जैसे प्रलयकाल वाली जगत्ध्वंसकरी विद्युत्-अग्नि-शिखा सदृश दश दिशामें व्याप्त देखता हूं, जिसने मुझको दिग्भ्रान्त कर दिया; और अब मैं सुख मात्रका भी अनुभव कर नहीं सकता। हे जगत् के आश्रय! प्रसन्न होईये॥ २५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥ २७॥

अन्वयः। अमी च धृतराष्ट्रस्य पुत्राः [दुर्य्योधनादयः] सर्वे अवनिपालसङ्घैः सह (भूपतिभिः सह) त्वां (विशन्ति इति व्यवहितेन सम्बन्धः); तथा भीष्मः द्रोणः असौ सूतपुत्रः (कर्णः) अस्मदीयैः अपि योधमुख्यैः सह त्वरमाणाः (त्वरायुक्ताः सन्तः) ते दंष्ट्राकरालानि भयानकानि वक्त्राणि विशन्ति; (तेषां मध्ये) केचित् चूर्णितैः उत्तमांगैः

(शिरोभिः उपलक्षिताः) दशनान्तरेषु (दन्तसन्धिषु) संलग्नाः (भक्षितं मांसमिव संश्लिष्टाः) संदृश्यन्ते ॥ २६ । २७ ॥

अनुवाद। धृतराष्ट्रके वह पुत्रगणभी समस्त भूपतियों के साथ तुममें (अति बेग से प्रवेश करते हैं); और भीष्म, द्रोण तथा सूतपुत्र (कर्ण) अस्मदादिके भी प्रधान प्रधान योद्धागणके साथ तुम्हारे दंष्ट्राद्वारा विकृत भयंकर मुखसमूह में त्वरायुक्त होकरके प्रवेश करते हैं ; (उन सबके भीतर) कोई कोई चूर्णितमस्तक होकर के दन्तसन्धिसमूहमें संलग्न हो रहा है ऐसा देखनेमें आता है ॥ २६ । २७ ॥

व्याख्या। विषयभोगके शूल हृदयमें बिना गड़ने से, कोई कभी मुक्तिकी ओर लक्ष्य करने के लिये अवसर नहीं पाता। मुक्तीच्छुक साधकके अन्तःकरण काम-भोग-विषयादिको पराया मान करके विवेक-वैराग्य आदिको अपना मान लेता है, सेवा भी करता है। परन्तु साधक ज्यों ज्यों ऊंचे उठता जाता है; त्यों त्यों वे अपना समूह भी एक के बाद एक आपही छूटते जाते हैं, ऐसा उनको प्रत्यक्ष होता है;—क्योंकि आदि-अन्त युक्त कुछ रहनेसे मुक्ति नहीं होती (अर्थात् सबसे अलग हुआ नहीं जाता), इसलिये प्रथम पराएको उत्सन्न देना होता है, प्रत्यक्ष करता है। अन्तःकरण-प्रसूत जो कुछ है, वही विकार है; इनमें भला व बुरा

नहीं होता। विषय-भोगभी कामना है, फिर 'वह मुक्ति, अभी मैं पाता हूं'—यहभी एक कामना है। कोई थोड़ासा पहले, कोई थोड़ासा पश्चात्, परन्तु अद्भुत ब्रह्माग्निमें पड़कर जलजानेमें कोई भी बाकी नहीं रहता, देखता हूं। चिदाभास, संस्कार, कर्त्तव्य, कामना, विवेक, वैराग्य ये सब छूट जाते हैं॥ २६। २७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीराः
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ २८॥

अन्वयः। यथा नदीनां बहवः अम्बुवेगाः (वारिप्रवाहाः) अभिमुखाः (समुद्राभिमुखा सन्तः) समुद्रं एव द्रवन्ति (प्रविशन्ति), तथा अमी नरलोकवीराः (मनुष्यलोकपालाः) तव अभिविज्वलन्ति (सर्वतः प्रदीप्यमानानि) वक्त्राणि विशन्ति॥ २८॥

अनुवाद। जैसे नदी समूह का बहु वारि प्रवाह समुद्राभिमुख होकरके समुद्रमें ही प्रवेश करता है, उसी प्रकार यह सब नरलोकवीरगण सर्वत्र प्रदीप्यमान तुम्हारे मुखसमूहमें प्रवेश करते हैं॥ २८॥

व्याख्या। "नरलोकवीरा"—न = नास्ति, रं = प्रकाश, अर्थात् स्वप्रकाश और परप्रकाशकत्व

जिसमें नहीं है, उसीको "नर" कहते हैं। मनुष्य जबतक त्याग और ग्रहण के लोभमें पड़ा रहता है, तबतक वह "नर" है।

"नर" कहते हैं ज्योतिहीन वस्तु को, "लोक" कहते हैं दर्शनीय जो कुछ है उसीको और "वीर" कहते हैं जिसमें बन्धन करनेवाली व्यवस्था है। इसीसे हुआ, ज्योतिहीन दृश्य मायिक पदार्थ हैं, फिर बांधने वाली शक्ति भी रखते हैं, ऐसे जो लोग हैं, वे सबही "नरलोकवीर" हैं। अब साधक! तुम देखो, तुममें तुम्हारे अन्तःकरण का भला बुरा जोकुछ स्फूरण है, वह संस्कार-प्रवाहाकारसे कहांसे आकर तुमको दर्शन देकर तुम्हारे अन्तःकरणमें छापका बन्धन बांधकर क्षणभरके भीतर उसी प्रलयकरी ज्योतिमें प्रवेश करता है। ये समस्त ही आकाशफूलके सदृश अलीक होनेसेभी ब्रह्ममार्गके विरोधी हैं। इसलिये कहा हुआ है कि जैसे नदी जलके वेगसे बहती हुई समुद्रमें गिरकर मिल जाती है, और जैसे उसका अस्तित्व नहीं रहता, उसी प्रकार इस मायाके धोखें "नरलोकवीर" समूह तुम्हारी ज्योतिमें पड़कर अस्तित्वशून्य हो जाते हैं, अर्थात् साधकका भ्रम अज्ञानता मिट जाती है॥ २८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ २९॥

अन्वयः। यथा समृद्धवेगाः पतंगाः (शलभाः) नाशाय (मरणाय) प्रदीप्तं ज्वलनं (अग्निं) विशन्ति; तथा एव समृद्धवेगाः लोकाः (प्राणिनः) अपि नाशाय तव वक्त्राणि विशन्ति॥ २९॥

अनुवाद। जैसे पतंग समूह मरनेके लिये अति वेगसे अग्निमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार लोक समूह भी मृत्युके लिये अति वेगसे तुम्हारे मुखसमूहमें प्रवेश करते हैं॥ २९॥

व्याख्या। जैसे जलती हुई अग्निशिखामें पतंग समूह वेगसे जाकर जलकर भस्म हो जाता है; वैसे ही उत्पत्तिलयशील, असत् अज्ञानताके आश्रय समूह (दृश्य जो कुछ) तुम्हारे मुखमें गिरकर अदृश्य हो जाते हैं। जैसे सूर्य्यालोकमें आंधियारा॥ २९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य्य जगत् समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥ ३०

अन्वयः । ज्वलद्भिः (वक्त्रैः) समग्रान् लोकान् ग्रसमानः (अन्तः प्रवेशयन्) समन्तात् (सर्वतः) लेलिह्यसे (आस्वादयसि), हे विष्णो (व्यापनशील)! तव उग्राः (तीव्राः) भासः (दीप्तयः) समग्रं जगत् तेजोभिः आपूर्य्य (संव्याप्य) प्रतपन्ति (सन्तापयन्ति ॥ ३० ॥

अनुवाद । ज्वलन्त वदन समूहसे समग्र लोगोंको ग्रास करके सर्वतोभावसे स्वाद ग्रहण करते हो । हे विष्णो! तुम्हारी उग्र दीप्ति समूह समग्र जगत्को तेजसमूहसे परिव्याप्त करके सन्तापित करती है ॥ ३० ॥

व्याख्या । साधक! तुम अपने साधनजात अवस्था को इस अवस्थाके साथ मिला लो, और शंकाशून्य हो जाओ । अखण्ड कालको भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान इन तीनो खंडोसे बांधा गया है केवल परिणामको समझने के लिये । अति सूक्ष्म वर्त्तमानसे खिसक जानेहीसे परिणामियोंका परिणाम शेष होता है, अर्थात् अपरिणामी के गर्भमें प्रवेश करता है । वह अपरिणामी अवस्थाही विष्णु वा व्यापनशील अवस्था है । कालके क्रम अनुसार (क्रियाकालमें) साधक जब प्रवाहाकारसे अपरिणामी में उन परिणामियोंके परिणाम देखते हैं (अर्थात् वर्त्तमान दृश्य पदार्थ जब भूतके गर्भमें प्रवेश करता है, देखते हैं), तब साधकको भी इसका अनुभव होता है,--अहो! यह जो परिणामी विश्वसंसार है, यह जैसे एक अतुल प्रतापवान

तेजोमय मुखमें प्रवेश करता है, और वह विश्वभोक्ता मुख जैसे चबाचबा कर विश्वका स्वाद लेते हुए समस्त विश्वको उदरस्थ करते हैं ॥ ३० ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

अन्वयः । उग्ररूपः (अतिक्रूराकारः) भवान् कः इति मे (मह्यं) आख्याहि (कथय); ते (तुभ्यं) नमः अस्तु; हे देववर ! प्रसीद (प्रसन्नो भव); आद्यं (पुरुषं) भवन्तं विज्ञातुं इच्छामि, हि (यस्मात्) तव प्रवृत्तिं (चेष्टां) न प्रजानामि ॥ ३१ ॥

अनुवाद। हे उग्ररूप तुम कौन हो ?—मुझसे कहो। तुमको नमस्कार है। हे देववर! प्रसन्न होईये। हे आदिपुरुष तुमको मैं विशेष रूपसे जानना चाहता हूं, क्योंकि तुम्हारी प्रवृत्ति (काम काज) मैं नहीं जानता ॥३१॥

व्याख्या। उस अद्भुत अवस्थामें पड़कर साधकके मनमें युगपत् उत्साहके साथ तमोपारमें क्या है उसे जाननेके लिये बड़ी व्याकुलता उत्पन्न होती है। उस से मालूम होता है कि,—यह क्या है! सब भूतोंमें सूक्ष्म तो आकाश है; चर्म्मचक्षुके दृष्टिसे उस आकाशका रूप अतिदूर होनेके कारण भ्रमवश नीलिमाकार का प्रकाश

होता है । परन्तु अब तो मैं आंख बन्द किये हुये हूं । सुतरां अब आकाशसे भी अतिसूक्ष्म अपरूप रूप की लीला देखता हूं । फिर उस सूक्ष्मको भी ग्रास करके पेटके भीतर जो भर रहे हैं, वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म कौन हैं ? "आख्याहि मे"—मुझसे कहो, "को भवानुग्र-रूपः" इतनी प्रखर मूर्त्ति तुम कौन हो ? मानवोंसे आकाश-वासी देवतागण श्रेष्ठ हैं; परन्तु तुम उन सबसे भी श्रेष्ठ हो । अतएव हे देववर ! नमोस्तुते ! हे श्रेष्ठोंके श्रेष्ठ, तुमको नमस्कार है, "प्रसीद"—प्रसन्न होईये, दया कीजिये । "विज्ञातुमिच्छामि"—विशेष कर मैं तुम्हें जानना चाहता हूं, तुम्हारा आदि, अन्त, मध्य, प्रवृत्ति और चेष्टा मैं समझ नहीं सकता ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

अन्वयः । श्रीभगवान् उवाच । लोकक्षयकृत् (लोकानां क्षयकर्त्ता) प्रवृद्धः (अत्युत्कटः) कालः अस्मि; लोकान् समाहर्त्तुं (संहर्त्तुं) इह

(अस्मिन् काले) प्रवृत्तः (अस्मि), (अतः) त्वां ऋते अपि (त्वां हन्तारं विना अपि) सर्वे योधाः (योद्धारः) ये प्रत्यनीकेषु (प्रतिपक्षभूतेषु अनीकेषु) अवस्थिताः न भविष्यन्ति ॥ ३२ ॥

अनुवाद । श्रीभगवान् कहते हैं,—मैं लोकक्षय करनेवाला अत्युत्कट काल हूं, अब लोक समूहको संहार करनेके लिये मैं प्रवृत्त हुआ हूं;(अतएव) तुम्हारे बिना (तुम हनन न करनेसे भी) समुदय योद्धागण जो उभय सैन्यदलमें अवस्थित हैं, उनमेंसे कोई भी जीवित न रहेगा ॥ ३२ ॥

व्याख्या । प्रकृतिस्थ आत्महारा साधक पूर्वमें जो जो देख आये हैं, निजबोध ज्ञान अनुसार उसीका विचार मीमांसा करते हैं। यही "भगवानुवाच" वाक्यसे व्यक्त होता है ।

साधक विचार करते हैं कि, मैं जो देखता हूं उन्हें तो आंख बन्द करके ही देखता हूं। क्या आंख बन्द करने से भी देखा जा सकता है ? ताकते हुए आंखसे ही तो लोग अपने शरीरसे अलग (पृथक्) अन्य पदार्थोंको जो कुछ बाहर देखता है, उसीको तो देखना कहते हैं। यह फिर कैसा देखना है। इनमेंसे एक भी तो बाहर नहीं है। सब कुछ तो हमारे ही भीतर है। ओ हरि ! हरि !! तब तो सृष्टिस्थिति लयकी समस्त क्रिया मेरेही भीतर होती हैं, तौभी न तो मैं उन सबको छूता हूं, न कुछ करता ही हूं; ऐसा कि मुझमें कुछ भी अदल बदल

होना दिखाई नहीं देता। इसीलिये तो कर्म्म मात्रके परिसमाप्तिका स्थान मैं ही मैं हूं? अहो! यह मैं कौन हूं? जिसका कर्म्म ही खाद्य है, वही कर्म्मभुक् मैं हूं? यह मैं क्या समझता हूं? यह मैं कौन हूं? "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो"—अतिमहान् असीम लोकक्षय करनेवाला काल ही मैं हूं! इस समय उन लोक मात्रके संहरण में (संहारमें) प्रवृत्त हुआ हूं! ओ अर्जुन! वह जो दोनों पक्षमें युद्ध करनेके लिये जो सब आये हुए दिखाई पड़ते हैं, भविष्यत्में तुम्हारे बिना उनमेंसे एक भी जीता नहीं बचेगा (क्योंकि, साधक देखते हैं कि, उन्हींमें सबका परिणाम होता है, परन्तु वह आप अपरिणामी हैं)॥ ३२॥

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ ३३॥

अन्वयः। तस्मात् त्वम् (युद्धाय) उत्तिष्ठ; यशो लभस्व, शत्रून् जित्वा समृद्धं राज्यं भुंक्ष्व; एते (तव शत्रवः) युद्धात् पूर्वं एव मया (कालात्मना) निहताः (प्राणैर्वियोजिताः); हे सव्यसाचिन्! (त्वम्) निमित्तमात्रं भव॥ ३३॥

अनुवाद। अतएव तुम (युद्धार्थ) उठो, यश लाभ करो; शत्रुओं को जय करके समृद्ध राज्य भोग करो; ये सब (तुम्हारे शत्रुगण) युद्धके पूर्वमें ही हमसे निहत हो चुके हैं। हे सव्यसाचिन्! तुम इस संहारमें केवल निमित्त मात्र होओ॥ ३३॥

व्याख्या। अतएव अब तुम्हारी शंकाका तो कोई विषय है ही नहीं। चिदाभासादि प्राकृतिक जो कुछ है, वह सब ही मायायुक्त अहंकारका धोखा है। जिस रोज जीव असल मैं को भूल कर नकली मैं का आश्रय कर लिया है, उसी दिन से ही जीव मर-धर्म्मी हुआ है। तब तुम्हारे फिर विषण्ण होनेका कारण क्या है? नियतिके वशसे सबहीको हमारे इस कालरूपी ग्रासमें गिरनाही पड़ेगा। अतएव तुम युद्धके लिये उठो।

"उत्तिष्ठ"—युद्धार्थ उठ बैठो। युद्धके समय रथीको रथके ऊपर वीरासनसे दृढ़ और संयत होकर बैठना होता है। अर्जुन आत्मीय स्वजनादिकोंके वधकी चिन्तासे कृपा-परवश होकरके शरके साथ धनुषको भी परित्याग कर मेरु ढिला करके, हाथ जोड़ कर वीरासन शिथिल करके पालती मारकर बैठ गये थे। इस लिये भगवान कहते हैं "उत्तिष्ठ" अर्थात् युद्ध करनेके लिये उपयुक्त रूपसे उठकर बैठो। साधक को भी साधन समयमें ठीक वैसीही अवस्था होती है, अवसाद

के बाद साधकको भी उठके बैठना होता है, अर्थात् दोनों पगोंको उपदेश अनुसार आसन-बद्ध करके मेरु-दण्ड सीधा कर छाती फुला, शरीरको संयत करना होता है; और मनको पञ्चतत्त्वोंके ऊपर "प" स्थानमें अर्थात् मस्तकग्रन्थिके ऊपर स्थापन करना होता है। इसी प्रकार उठ बैठ कर प्राणायामादि क्रियाएं (साधन युद्ध) करनी होती हैं। इस श्लोकमें "उत्तिष्ठ" शब्द द्वारा यही उपदेश किया गया है।

तत्पश्चात् भगवान् कहते हैं "यशो लभस्व"—यश लाभ करो। यश किसे कहते हैं?—सत्-कर्म्मों के फलसे सबके ऊपर स्वभावतः आत्मप्रभाव विस्तार होना ही यश है। साधनामें सिद्धिलाभके पहले प्राकृतिक प्रभावही बलवान रहता है, आत्म-प्रभाव दबा रहता है। सिद्धिलाभ होनेके बाद प्राकृतिक प्रभाव निस्तेज हो जाता है, और आत्म-प्रभाव सतेज होता है; यही यश है, यही कैवल्यकी सूचना है, अर्थात् 'मैं' व्यतीत और समस्तको छोड़ कर अकेला बनना,—संकोचता नाश करके विस्तार होना अवस्था है।

"जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धं"—(द्वितीय अः ८म श्लोककी व्याख्या देखिये।) शत्रु पक्षको अर्थात् दुर्य्योधन प्रभृति कामादि रिपुगणको जय करके निष्कण्टक

राज्य भोग करो, अर्थात् जीवन्मुक्त हो कर शरीरान्त न होने पर्य्यन्त, जैसे आकाश निर्लिप्तताके कारण प्रबल वायुकी ताड़नाका बोध नहीं करता, उसी तरह तुम भी निर्लिप्त होकर माया और मायाविर्योंका भोग करते चलो।

परिशेषमें कहते हैं—'हे सव्यसाची! मैंने इन सब लोगोंको पूर्वसे ही निहत कर चुका है, इसमें तुम केवल निमित्त मात्र हो जाओ'। भगवानके इस वचनसे एक महान् जटिल समस्या की मीमांसा हो गई। संसारमें मनुष्य 'मैं करता हूं मैं करता हूं' इत्यादि कह करके वैषयिक अहंकारसे मतवाला होकर आत्महारा हो रहा है। असलमें कर्त्ता क्या मनुष्य है? नहीं, मनुष्य कर्त्ता कभी नहीं हो सकता; मनुष्य कर्म्मोंका निमित्तमात्र है, कर्म्मके फल संयोजनके लिये अलग कोई एक अद्वितीय विधाता है। इसलिये मनुष्योंको कर्म्म मात्रमें अधिकार है, फलमें उनका अधिकार नहीं। मनुष्य निमित्त हो करके किसी एक कर्म्मका प्रारम्भ कर सकता है,—दो को अथवा उससे अधिक वस्तुओं को, (जैसे चूना हल्दी) इकट्ठा मिला दे सकता है। यह मिला देनेकी क्रिया मनुष्योंके आधीन है; परन्तु चूना और हल्दी परस्पर मिल करके रासायनिक क्रिया द्वारा उन दोनोंमें जो लालरंग उत्पन्न

होता है, उसमें मनुष्योंकी कोई शक्ति नहीं चलती। वही विधाताका (उनका लालरंगमें परिवर्त्तित होना) विधान है; उस विधानका कभी उल्लङ्घन नहीं होता। हल्दी और चुने को इकट्ठे मिलानेसे सर्वदा लाल रंग ही होगा, कभी कोई काला या किसी दुसरे प्रकारके रंग नहीं कर सकता। उसी प्रकार जलजन् वाष्प (हाईड्रोजेन) दो अंश, और अम्लजन् वाष्प (अक्सिजेन्) एक अंश एकसाथ मिलनेसे जल उत्पन्न होवेहीगा; इसका व्यतिक्रम कोई कभीभी कर नहीं सकता। ये सब विधान सृष्टिके पहले ही से बँधा हुआ है। अतएव जबही उस प्रकार कर्म्मका अनुष्ठान होगा, तब फल भी उसी प्रकारका फलेगा। जगत्के प्रत्येक व्यापारमें ही कर्म्म और कर्म्मफल-विधानके सम्बन्धमें सर्वदा यही एक नियम अटल है,—मनुष्य निमित्तमात्र है, फलविधाता वही 'मैं' रूपी अद्वितीय अचिन्त्य पुरुष है। अब यह जो समर उपस्थित हुआ है (इसे ऐतिहासिक कथा मानलो अथवा योगसाधनकी कथा मानलो), इसमें भी वह एकही विधान वर्त्तमान है। इन दोनों सैन्योंके मध्यभागमें खड़ा होनेके पूर्वसे ही इस युद्धघटित जितने कर्म्मों के अनुष्ठान हो चुके हैं—यम नियमादि जिनसब योगाङ्ग साधन द्वारा सव्यसाची अवस्था लाभ किया हुआ, उसका

अवश्यम्भावी फल--अनिवार्य्य विधान यह है कि, अब प्राणायाम-रूपी शर चालन करनेसे ही भीष्म, द्रोणादिकके साथ दुर्य्योधनादि वृत्ति समूह निश्चय लयप्राप्त होवेहीगा, आपही आप होगा क्योंकि वे सब पूर्वहीसे 'मयैव निहताः' हो चुके हैं, अर्थात् 'मैं' रूपी विधाताके कर्म्मफल विधानके विधानसे सब कुछ ठीक ठीक तैयार है, इसके विपरीत उनके लिये और कुछ हो ही नहीं सकता। प्राणायाम करना केवल निमित्त मात्र है। साधक सव्यसाची हो कर अब जिस अवस्थामें उपस्थित हुये हैं, उसमें इच्छासे चाहे अनिच्छासे हो, अवश्य साधक को इस निमित्तका नामी बनना पड़ेगा; किसी तरह भी साधक इस निमित्तसे बच नहीं सकते। क्योंकि 'स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात्' इस वाक्य अनुसार साधकको पुनः पार्थिव अंशमें विशेष लपटना नहीं पड़ेगा, तत्पश्चात् "पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः" इस वाक्य अनुसार साधकको अवश हो कर ब्रह्ममुखी होना ही पड़ेगा, बाद इसके 'कर्त्तुं नेच्छासि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्' इसी वाक्यके अनुसार साधकको कर्म्मफलके वशमें पड़कर इच्छा न रहनेसे भी बाध्य होकर कर्म्म करना ही पड़ेगा। इस कारण साधक कर्म्मसे छुटकारा

नहीं पाते। जो कर्म्म कर चुके हैं उसके फलसे उनको अवश्य 'निमित्त' होना ही होगा। अतएव अपनी इच्छासे यदि साधक निमित्त न होंगे, तो प्रकृतिके ऊपर निज आत्मप्रभाव विस्तार रूप यशोलाभ नहीं कर सकते—"असपत्नं ऋद्धं राज्यं" का भोग नहीं होगा—चिराकांक्षित जीवन्मुक्तिको भी प्राप्त नहीं कर सकते; उनको निरर्थक लीन हो जाना पड़ेगा, और उस अपूर्ण आकांक्षा के लिये उनमें संसारबीज रह जायगा, इसलिये कालवशसे साधकको फिर संसार-मार्गमें आना ही पड़ेगा; (क्योंकि आकांक्षा करनेका यही गुण है कि कभी न कभी कालान्तरमें उसका फल फलेहीगा, बिना भोग किये उसका क्षय नहीं होता *। यदि आकांक्षा न किया जाय, तो और कोई बखेड़ा नहीं रहता, परन्तु यह असम्भव है, क्योंकि, कार्यप्रवृत्ति

---

* जिस अभिलाषको पूरण करनेके लिये किसी कर्म्मका अनुष्ठान किया जाता है, वही सचेष्ठ अभिलाष ही ठीक आकांक्षा है, और वही बन्धन है, भोग बिना उसका क्षय नहीं होता। और जो अभिलाष अनुष्ठानविहीन कल्पना मात्र है, वह ठीक ठीक आकांक्षा नहीं है, इसलिये वह बन्धन नहीं है और उसका फल भी नहीं फलता; परन्तु वह चित्तविक्षेपको उत्पन्न करके कर्म्मानुष्ठानमें बाधा डालता है॥ ३३॥

का मूल आकांक्षा ही है; इसलिये आकांक्षाका फल भोग किये बिना कदापि निरकांक्ष नहीं हुआ जाता,—ध्रुवका राज्य भोगही इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है। यदि साधक अब भी अपनी इच्छासे 'निमित्त' हो जायँ, तो सर्वत्र उनका आत्म-प्रभाव विस्तार होकर प्रकृति-वशी रूप यशोलाभ होगा, जीवन्मुक्त अवस्थाकी प्राप्तिसे सब आकांक्षाओंकी परितृप्ति होकर वासना बीज नष्ट हो जायगा, और इसीसे फिर संसारमें जन्म नहीं होगा। इस कारण भगवान कहते हैं कि—कर्म्मफल विधानके द्वारा, मैंने पूर्वसे ही इन सबको निधन कर रखा है—(अर्थात् क्या होगा अथवा क्या नहीं होगा इन सबको पहिले ही से मैंने ठीक कर रखा है), तुम केवल 'निमित्त' होकर, भोग द्वारा प्रारब्धको क्षय करके निर्बीज समाधि लाभ करो।

आसनसिद्ध साधक केवल स्थिरासनमें बैठकर "सहज कर्म्म" का अनुष्ठान करनेसे ही उनकी आपही आप सब क्रिया हो जाती हैं—योगके सब प्रकारका फल उत्पन्न होते हैं। जैसे शय्या पर लेटते रहनेसे निद्रा के आक्रमण करने पर पूर्वकृत कर्म्मफलके लिये स्वप्नमें विविध अवस्थाका भोग और नाना प्रकार

के दर्शन श्रवणादि होते हैं, परन्तु वह अलीक है; उसी प्रकार स्थिरासनमें बैठकर गुरूपदेश अनुसार क्रिया करते रहनेसे आपही आप योगनिद्राके आविर्भावसे "प्रबोध-समयका" उदय होता है, उस समय प्रबुद्ध होकर अद्वय आत्माका ("आत्मानमेवाद्वयं") साक्षात्कार लाभ होता है, वह सब सत्य और अभ्रान्त है। शय्यापर सो रहनेके सदृश साधकको स्थिरासनमें बैठकर कर्म्ममें लगे रहनेका नामही निमित्त होना है। उस प्रकार निमित्त होनेका अवश्यम्भावी चिरन्तन फल यह है कि, आत्मभावके द्वारा संसार-वासना और तदनुकूल वृत्ति समूह सब लय हो जाते हैं, पुनरूद्भवकी फिर सम्भावना ही नहीं रहती।

भगवानने अर्जुनको सव्यसाची कहकर सम्बोधन कर, अर्जुन जो निमित्तकारण होनेका उपयुक्त पात्र हुये हैं, उसी विषयका लक्ष्य करा दिये हैं। जिनके दहिने तथा बाएं, दोनों हाथमें अव्यर्थ सन्धान रहता है; उन्हींको सव्यसाची कहते हैं। साधकको भी जब ठीक सुषुम्नाके भीतर वायुचालन होता है, तब श्वासप्रश्वास युगपत् दोनों नासिकामें ही सरल भाव से चलते रहते हैं, और वायुकी आकर्षण तथा विकर्षण की गति भी समान (बरोबर) हो जाती है; और दशां-

गुलि प्रवेश, तथा द्वादशांगुलि बाहर आना भी मिट जाता है; उस समय विषमता रहती ही नहीं। जो साधक इस अवस्थापन्न हैं उन्हींको सव्यसाची कहते हैं। इस अवस्था में साधक को निर्लिप्तता छाये रहती है। तौभी असाधक लोग निमित्त दोष लगा देते हैं। इसलिये कहा गया है कि—तुम निमित्त मात्र हो जाओ॥ ३३॥

द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ ३४॥

अन्वयः। त्वं मया हताम् द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथा अन्यान् अपि योधवीरान् जहि (घातय), मा व्यथिष्ठा (तेभ्यः भयं मा कार्षीः), युध्यस्व, सपत्नान् (शत्रून्) रणे जेतासि (जेष्यसि)॥३४॥

अनुवाद। हम से निहत किये हुये द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और दूसरे युद्ध करने वाले वीर गण को भी तुम हनन करो, भय-भीत नहीं होना; शत्रुगणको युद्ध में जय कर सकोगे, अतएव युद्ध करो॥ ३४॥

व्याख्या। द्रोण=संस्कारजनित बुद्धि, भीष्म=अविद्याजनित अहंकार वा चिदाभास; जयद्रथ=अभि-

निवेश वा मृत्युभय; कर्ण=कर्त्तव्य कर्म्म में अनुराग (१ म अः ८ । ९ श्लोक देखो) और दूसरे कामसहचर वीरगण, उस नकली 'मैं' का आश्रय लेके पहले ही से मर चुके हैं। और अर्जुन तुम ? तुम असली 'मैं' में रह कर विपक्षियों को युद्धमें जय तो कर चुके हो—अब इसमें और क्या शंका है ? ॥ ३४ ॥

सञ्जय उवाच ।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अन्वयः । संजयः उवाच । केशवस्य एतत् वचनं श्रुत्वा वेपमानः (कम्पमानः) किरीटी (अर्जुनः) कृताञ्जलिः (सन्) कृष्णं नमस्कृत्वा भीतभीतः (सन्) प्रणम्य (च) भूयः एव सगद्गदं आह ॥ ३५ ॥

अनुवाद । संजय कहते हैं,—केशव के यह वचन श्रवणानन्तर कम्पमान अति भीत अर्जुन, कृताञ्जलि से कृष्णको नमस्कार तथा बारंबार प्रणाम करके गद्गद वचन से कहते हैं ॥ ३५

व्याख्या । असिद्ध साधक ब्राह्मीस्थितिमें अटक रहने अथवा अनुभवसिद्ध विचारको लेकर उत्तर-

गतिके क्रमसे ऊंचे उठने अधिक क्षण नहीं सकते। इसलिये उनको नीचे उतर आना पड़ता है। नीचे आकर वे जो अनुभव प्रत्यक्ष करते हैं, वह भी आज्ञा-चक्रसेही होता है। पृथिव्यादि पांच भूत मूलधारादि पांचों चक्रमें हैं, ये पांचों भूतही सर्व कहलाते हैं। आज्ञा-चक्र इन पांचों चक्रके ऊपर है। नीचेवाले पांचोंको जय किये बिना आज्ञाचक्र में रहनेका अधिकार नहीं मिलता। जो साधक इस आज्ञाचक्रमें रहते हैं, वही पञ्चजयी हैं और उन्हींको सञ्जय (सं + जय) कहा जाता है। (१म अः १म और २१ वां श्लोक और ११श अः ९वां श्लोक देखो)।

"केशव"—के = जलमें, और शव = मृतदेह है। अर्थात् प्रलयके बाद प्रलय रसमें जो अनन्त-रूपसे शवके सदृश निश्चिन्त और खारापानीमें लवणके सदृश भासमान रहते हैं, जिस अवस्थामें सृष्टिकी अर्थात् उत्पादित्वका (समागम का) हर्ष, और संहारका अर्थात् प्रलय (अपगम) का विमर्ष नहीं रहता, ऐसे अवस्था-पन्न जो पुरुष हैं, उन्हींको केशव कहते हैं (१० म अः १४ वां श्लोक देखो)।

साधक जब केशवावस्था का भोग करके नीचे उतर आये, तब उस केशवकी पूर्वावस्थाकी स्मृति, केशव

अवस्थाका अनुभव और वर्त्तमान अवस्थाके ज्ञान, यह सब मिलकर जो सरस विभोरता होती है, वही केशवका बचन सुनने का आभास है ।

"कृताञ्जलि" । इस समय ऊर्ध्वादिशामें लक्ष्य रहने सेभी ऊपर उठनेवाली शक्ति नहीं रहती । तथापि ऊर्ध्वमें लक्ष्य रहनेके कारण निम्नगतिका भी रोध होता है । यह जो दोनों गतिओंके एकत्र मिलने से स्तम्भन अवस्था है, इसीको कृताञ्जलि कहा हुआ है ।

"वेपमान" । भोग्यवस्तु सम्मुखमें वर्त्तमान हैं, ऐसे समयमें स्पर्श करनेके पूर्वमें अत्यन्त आसक्तिके कारण दुर्बलतासे जो आत्मकम्पन होता है, उसीको वेपमान अवस्था कहते हैं ।

"किरीट"--अर्थात् शिरोभूषण । असिद्ध तथापि सर्व प्रकारसे प्रबल उत्साह-युक्त साधककी संज्ञा किरीटी है; अर्थात् जो साधक कार्य्य और गुण से सकल साधकोंके शीर्षस्थानीय है, साधकोंमें उसको किरीटी कहते हैं ।

बड़ा हर्ष, बड़ा दुःख, बड़ा भय, बड़ा विस्मय, बड़ा स्नेह, बड़ा उत्साह आदि वृत्तिसमूह एकट्ठे मिल करके युगपत् भीतरसे बाहर आकर प्रकाश होनेकी चेष्टा करनेसे अश्रुपूर्ण-

नेत्र और कण्ठरोध होकरके जिस अस्पष्ट स्वरका उच्चारण होता है, उसीको "गद्गद" कहते हैं।

'भीतभीतः प्रणम्य'। हृदयमें जब ऊपर वाली अवस्था समूहका युगपत् आविर्भाव होता है, उस समय यदि प्राण का प्राण हटजाय, यह आशंका करके साधक बार बार भयसे भीत होते हैं; उनका अहंकार गर्व सब दूर हो जाता है, और नत हो करके अन्तरस्थ वायु का वेग धारण कर नहीं सकते। सुन्दर कण्टकहीन (सरल) दीर्घ निश्वास और प्रश्वास का त्याग और ग्रहण करते हैं। विषय-वृत्तिका एकदम निरोध होता है, अथच ऐशी विभूतिसे मिला हुआ रहनेसे ब्रह्मनाड़ीके ठीक मध्यसे श्वासके क्रममें चलने फिरनेसे ऊंची नीची गति होती है; इसीको ही प्रणाम कहते हैं। इस समय मुक्तिदाताके ऊपर आपही आप जो प्रेम स्वतः उत्पन्न हो जाता है वही कृष्णको कहनेका इङ्गित है। इस अवस्थामें मायिक (चिदाभास, कर्म्मज संस्कार और कर्त्तव्यादि) किसी वृत्तिका प्रकाश नहीं रहता। इस लिये वासनाका क्षय और साधनाका जय होनेसे मुक्ति वा चिरशान्ति निश्चय होती है। इस दृढ़ बोध के प्रकाश पानेसे 'सञ्जय उवाच' कहा हुआ है॥ ३५॥

अर्जुन उवाच।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

अन्वयः। अर्जुनः उवाच। हे हृषीकेश! तव प्रकीर्त्या (त्वन्माहात्म्य-कीर्त्तनेन) जगत् प्रहृष्यति (प्रहर्षमुपैति) अनुरज्यते च (अनुरागं च उपैति), रक्षांसि भीतानि (सन्ति) दिशः द्रवन्ति (पलायन्ते), सिद्ध-संघाः (सिद्धसमूहाः) सर्वे च नमस्यन्ति—(एतच्च) स्थाने (युक्तमेव) ॥ ३६ ॥

अनुवाद। अर्जुन कहते हैं। हे हृषीकेश! तुम्हारे माहात्म्य कीर्त्तन से जगत् प्रहृष्ट और अनुरागयुक्त होते हैं, राक्षसगण भीत हो करके दश दिशामें दौड़ते हैं; और सिद्धसमूह नमस्कार करते हैं,—ये समस्त ही युक्तियुक्त है ॥ ३६ ॥

व्याख्या। पुनः साधक प्रकृतिस्थ हो करके पूर्वकी अनुभूति स्मरण करके मनही मनमें कहते हैं कि, हे हृषीकेश! तुम्हारी इस अलौकिक विभूतिके प्रत्यक्ष होनेसे तुम्हारे ऊपर जगत्का जो अनुराग होवेगा इसमें सन्देह क्या है? इस पन्थमें देखता हूं कि अत्याचारी अनाचारी राक्षसगण (काम, क्रोधादि रिपुगण)

भयभीत होकर दश दिशामें दौड़ते हैं। और जगत् जैसे इस खुशियालीसे अनार सदृश फट करके अपने हृदयमें परिपूर्णत्व दिखलाता है। (साधक जब क्रियाकी परावस्था की पूर्वावस्था और परावस्थाकी परावस्थामें इस अरूप का रूपका दर्शन और स्मृतिका अनुभव करते हैं, तब उस जगदानन्दके आनन्दमें विभोर [मतवाला] हो जाते हैं)। जो लोग प्राप्तिकी प्राप्ति को पा चुके हैं, वेही सब महाजनगण एक दृष्टिसे तुमको देखते हुये 'तुम और मैंको' एक करके प्राणायामसे तुमको नमस्कार करते हैं। अहो! क्या ध्रुव सचीवाणी है। यह कार्य भी ठीक उचित होता है। प्रभो! तुम्हारा कीर्त्तन कैसा है, पहले मैं उसे नहीं जानता था। परन्तु अब देखता हूं, जीभ उलटके दांत और ओष्ठ सम्पुट करके गुरूपदिष्ट क्रियामें मूलाधारसे यथानियम अनुलोम विलोमसे जो प्राणका परिचालन है (जिससे 'तुम मैं' एक होता है) यही तुम्हारा मुख्य कीर्त्तन है ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत् परं यत् ॥ ३७ ॥

अन्वयः। हे महात्मन्! हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! ब्रह्मणः (हिरण्यगर्भस्य) अपि गरीयसे (गुरुतराय) आदिकर्त्रे च (ब्रह्मणोऽपि जनकाय) ते (तुभ्यं) कस्मात् (हेतोः) न नमेरन् (नमस्कारं कुर्य्युः); त्वं अक्षरं (कूटस्थं) सत् (व्यक्तं) असत् (अव्यक्तं) तत्परं यत् (सदसदो अतीतं यत् अवाङ्मनसोगोचरः तत् असि इत्यर्थः)॥ ३७॥

अनुवाद। हे महात्मन्! हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! ब्रह्माजीसे भी गुरुतर और आदिकर्त्ता तुम हो, तुमको सब क्यों नहीं नमस्कार करेंगे?—तुम अक्षर, सत्, असत् और उससे भी अतीत जो है (वह भी) हो॥ ३७॥

व्याख्या। मकड़ा अपने शरीर से जाल विस्तार करता है। उसमें कीड़ा, पतंग, मच्छड़, मक्षिका फंसा करती हैं; कोई भागा कोई मरा। पुनः उस विस्तार किया हुआ जाल को मकड़ा ने अपने शरीर में लपेट लिया। परन्तु जाल विस्तार के पहिले और जाल समेट लेने के बाद विश्राम नाम की मकड़े की एक अवस्था होती है। देखता हूं कि, जगत् के स्रष्टा ब्रह्माजी की भी उसी अवस्था है; सृष्टि के पहले और संहार के पश्चात् जो एक विश्राम अवस्था है, उसीको हिरण्यगर्भ नाम दिया गया है। हिरण्य रूप का राजा है; सुवर्णको देखने से जिसप्रकार उसके रूपसे मोहित होना पड़ता है उसीतरह यह विश्व भी रूपराशि सुवर्णसे भरा हुआ है। जिसकी

ओर ताकोगे वही तुमको मोहित करेगा। जो देव मकड़े के जाल सदृश इस विश्व को सृष्टि के पहले और संहार के पश्चात् अपने गर्भ में धारण कर रखते हैं, उसी देव का नाम हिरण्यगर्भ वा ब्रह्मा है।

यह जो इतना बड़ा विश्व देखते हो, मन भी जिसकी सीमा करनेमें हार जाता है, यह सुबृहत् विश्व भी ब्रह्माजीके पेटके भीतर रहता है। इसी से समझ लो ब्रह्मा जी का आकार कितना बड़ा है। और भी विश्राम कालमें ब्रह्माजी जिसके ऊपर विश्राम करते हैं, वह विश्राम-भूमिका वा ब्रह्माजी का विश्राम-वाला आधार कितना बड़ा और कैसा है, वह मन बुद्धि और चित्त की तो बातही नहीं, परन्तु ब्रह्मदेवता के भी धारणाके अतीत है। इसलिये ब्रह्मासे भी वह गरीयस (बड़ा) है। आधार के ऊपर आधेयकी उत्पत्ति और स्थिति (जैसे पृथिवी के ऊपर स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुज प्रजा हैं) होनेसे आधार आधेय का आदि और कर्त्ता है। विश्वके उत्पादक और धारक होनेसे जगत्के देवता ब्रह्माजी हैं; इसलिये वह ब्रह्माजीका आधार देवेश नाम पाया है।

सत् = जो विद्यमान। असत् = जो अविद्यमान। अक्षर = जिसका क्षय व्यय नहीं। तत् = विष्णुका परमपद; और परं = ब्रह्म है।

साधक ! अब व्यापार क्या है यह भी देख लो ! विद्यमान—तुम्हारे जाननेमें जो कुछ है ; अविद्यमान—तुम्हारे अनजान में जो कुछ है ; वह सब ब्रह्ममें और उनके गर्भस्थ हिरण्यमें (अर्थात् विश्वमें और विश्वका कोष स्वरूप हिरण्यगर्भमें) रह गया । परन्तु उनका वह आधार—जिसमें परिणाम मात्रका अभाव है—जिसके ऊपर सब कुछ होता है, वह जैसे क्षयव्यय शून्य वैसाही है, वही तुम्हारा अद्वितीय "त्वम्" है । सब देवतोंके वासस्थान हिरण्यगर्भ है, उस हिरण्यगर्भके भी वासस्थान वही 'त्वम्' है । इसलिये वह "त्वम्" वासुदेव है । अतएव कहा जाता है कि—हे महात्मन् ! हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! जब ऐसे तुम हो, तब तुमको प्रणाम न करके और किसको प्रणाम करेंगे प्रभो ? ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यञ्च परञ्च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

अन्वयः । हे अनन्तरूप ! त्वम् आदिदेवः पुराणः (चिरन्तनः) पुरुषः ; त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानं (लयस्थानं); (त्वम्) वेत्ता

(ज्ञाता) वेद्यं च (वस्तुजातं च) परं च धाम (वैष्णवं परमं पदं च) असि, त्वया विश्वं ततं (व्याप्तं) ॥ ३८ ॥

अनुवाद। हे अनन्तरूप! तुम आदिदेव और पुराण पुरुष हो; तुम इस विश्वके लयस्थान हो। (तुमही) वेत्ता, वेद्य और परम धाम (विष्णु पद) हो; तुमसे विश्व व्याप्त हो रहा है ॥ ३८ ॥

व्याख्या। पहले साधक आधारमें विश्वरूप देख चुके, अब विश्वरूपमें आधारको देखते हैं। 'त्वमादि-देव'—हे प्रभो! देखता हूं कि तुम प्रथमके भी प्रथम हो। इस माया-पुरमें सोये हुये तुमने 'पुरुष' नाम धारण किया है। समस्तका ही परिणाम है, केवलमात्र अपरि-णामी चिरन्तन तुम हो। इस नाम रूपके शेष विश्राम स्थान वा आधार तुम हो। जाननेका जो कुछ है सो सब एकमात्र तुमही जानते हो। पुनः जाननेका जो कुछ है, वह भी तुम ही हो। "धाम"—निवासस्थान, हरेः पदं तापहरणैक धाम; वह भी तुम ही हो। हे अनन्तरूप! तुम इस विश्वमें और यह विश्व तुममें व्याप्त है; जैसे चीनीके शरबतमें जल और चीनी। इसीलिये परं (ब्रह्म) भी तुम्हीं हो ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

अन्वयः। त्वं वायुः यमः अग्निः वरुणः शशांकः प्रजापतिः (पितामहः) प्रपितामहश्च; ते (तुभ्यं) सहस्रकृत्वः नमः नमः अस्तु, पुनश्च (सहस्रकृत्वः नमः नमः अस्तु), भूयोऽपि ते नमः नमः॥ ३९ ॥

अनुवाद। तुम ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, शशांक, प्रजापति और प्रपितामह हो, तुमको सहस्र बार नमस्कार है; पुनश्च नमस्कार है, फिर भी बार बार नमस्कार है ॥ ३९ ॥

व्याख्या। वायु कहते हैं वाहक को। हे नाथ! आदिअन्तयुक्त जो कुछ है उसे तुम अपने शरीरमें धारण करके वहन करते हो, इसलिये वायु भी तुम हो। यम भी तुम हो (१०म अः २९ श्लोक), अग्नि भी तुम हो (९म अः १६ श्लोक), वरुण भी तुम हो (१०म अः २९ श्लोक)। शश शब्द में लाञ्छन वा कलंक (जो केवल फेकनेकी चीज़) है और अंक शब्दसे क्रोड़ वा गोदीका बोध होता है। जो प्रकाश ही प्रकाश, नित्यही नित्य है, उसकी क्रोड़में अनित्य अप्रकाश मायाको बैठा कर मायिकों का जो भ्रम दर्शन है, वही शशांक अवस्था है। वह भी तुम ही हो; क्योंकि, तुममें ही यह सब अवस्थाएं वर्त्तमान हैं।

"प्रजापति"—जीव-संसारका कर्त्ता (मालिक),

जनयिता वा पिता, जिनसे प्रजा उत्पन्न होती है,—जैसे दक्ष, कर्दम, कश्यप इत्यादि। यह भी तुम हो। इन सबके पिता ब्रह्मा जी हैं। पुनः वह ब्रह्मा तुम्हारे नाभिकमलसे उत्पन्न हुये हैं; अतएव तुम प्रपितामह हो।

इसलिये, हे पिता! हे पाता! हे धाता! हे रक्षयिता! तुमको नमस्कार! नमस्कार!! पुनः तुमको बार बार नमस्कार है!!! ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्य्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

अन्वयः। हे सर्व (सर्वात्मन्)! ते (तुभ्यं) पुरस्तात् (सम्मुखे) अथ पृष्ठतः (पश्चात्) नमः, ते (तव) सर्वतः एव (सर्वासु दिक्षु) नमः अस्तु; अनन्तवीर्य्यामितविक्रमः (अनन्तं वीर्य्यं सामर्थ्यं यस्य तथा अमितो विक्रमः पराक्रमो यस्य सः एवम्भूतः) त्वं सर्वं (समस्तं जगत्) समाप्नोषि (सम्यगेकेनात्मना व्याप्नोषि); ततः (तस्मात्) सर्वः (सर्वस्वरूपः) असि ॥ ४० ॥

अनुवाद। हे सर्वात्मन्! तुमको पुरोभागमें और पश्चात् भागमें नमस्कार है, तुम्हारी समस्त दिशाओंमें नमस्कार है। अनन्त सामर्थ्य और अमित पराक्रमशाली तुम समस्त जगत्में सम्यक् रूपसे व्याप्त हो रहे हो, अतएव तुम सर्वस्वरूप हो ॥ ४० ॥

व्याख्या । तुम्हारी पूर्व दिशामें नमस्कार करता हूं, तुम्हारी पश्चिम दिशामें नमस्कार; तुम्हारी उत्तर, दक्षिण, नैऋत, ईशान, वायु, अग्नि, अधः और ऊर्ध्व समस्त दिशामें ही नमस्कार है । हे नाथ ! यह जो सर्व (विश्व) है, यह तुमसे ही प्रकाश होकर पुनः तुममें ही विलीन होता है । इन सबका जो विक्रम और वीर्य्य है वह अति तुच्छ अर्थात् मित है ! और तुम ? जैसे जल में रस, उस प्रकारसे तुम इस सर्वमें व्याप्त हो; और जैसे रसमें जल, उसी तरह सर्व तुममें रहता है । इसलिये तुम अनन्त हो । अतएव तुम्हारा वीर्य्य और विक्रम भी अनन्त है । हे अनन्त ! तुमको नमस्कार है ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः । हे अच्युत ! तव इदं महिमानं (माहात्म्यं तवेदमीश्वरस्य

विश्वरूपं) अजानता (अज्ञानिना) मया प्रमादात् (विक्षिप्तचित्ततया) प्रणयेन (स्नेहेन) वा अपि सखेति मत्वा (समानवया इति ज्ञात्वा) "हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे" इति यत् प्रसभं (हठात् तिरस्कारेण) उक्तं, यत् च अवहासार्थं (परिहासप्रयोजनाय) विहारशय्यासनभोजनेषु (क्रीड़ादिषु) एकः (केवलः सखीन् विना रहसि स्थितः) अथवा तत् समक्षं (तेषां परिहसतां सखीनां पुरतोऽपि) असत्कृतः (तिरस्कृतः) असि, तत् (सर्वमपराधजातं) अहं अप्रमेयं (अचिन्त्यप्रभावं) त्वां क्षामये (क्षमां कारये) ॥ ४१ । ४२ ॥

अनुवाद। हे अच्युत! तुम्हारी यह महिमा मैं न जान करके प्रमाद वशतः अथवा प्रणय वशतः मनमें तुमको सखा मान कर "हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे" इत्यादि जो हठात् तिरस्कार भावसे सम्बोधन किया है, और जो परिहास करनेके लिये विहार शयन, उपवेशन और भोजन समयमें अकेले अथवा सबके सामने तिरस्कृत हुए हो, इसलिये मैं अप्रमेय तुमसे क्षमा चाहता हूं ॥ ४१। ४२ ॥

व्याख्या। हे नाथ! तुम महान्से भी महान् हो; तुम्हारी महिमा न जान करके साथी ज्ञान करके मैं प्रमादके घेरमें और प्रणयमें पड़ करके, तुमको (अप्रमेय होनेसे भी) "हे कृष्ण! हे यादव! हे सखा! इत्यादि रूप-गुणात्मक नामोंसे सम्बोधन करते हुये प्रमाणके अन्तर्गत जो जो अनुचित शब्द कहा है, अथवा प्रत्यक्ष वा परोक्षमें शयन, उपवेशन, भोजन, और विहार इत्यादिमें अज्ञानतावश मैंने जो तुम्हारा असम्मान

किया है, हे अच्युत ! मेरे वह सब दोष तुम क्षमा करो ॥ ४१ । ४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

अन्वयः । हे अप्रतिमप्रभाव ! त्वं अस्य चराचरस्य लोकस्य पिता पूज्यः गुरुः गरीयान् च (गुरुतरः च) असि; लोकत्रये त्वत्समः अपि (त्वत्तुल्यः एव) अन्यः न अस्ति, अभ्यधिकः (त्वत्तोऽधिकः) कुतः (स्यात्) ? ॥ ४३ ॥

अनुवाद । हे अप्रतिमप्रभाव ! तुम इस चराचर जगत्के पिता, पूज्य, गुरु और गुरुके भी गुरु हो; तीनों लोकमें तुम्हारे सदृश दूसरा कोई नहीं है, अतएव तुमसे अधिक और कहां है ॥ ४३ ॥

व्याख्या । तुम स्थावर जंगमात्मक लोकजगत्के पिता हो; क्योंकि यह सब तुम्हींसे उत्पन्न होते हैं। केवल यही नहीं, इन सबके पूजनीय, गुरु, और गुरुके भी गुरु तुम हो। इन सबके भीतर तुम्हारे सदृश वा तुम को अतिक्रम करनेवाला कोई भी नहीं है। तीनों लोकमें तुम्हारे प्रभावकी (क्षमताकी) सादृश्य नहीं है प्रभो ! तुम्हारा प्रभाव प्राकृतिक चौबीस तत्त्वोंके प्रभावसे अतीत

है इसलिये तुम अप्रतिम प्रभाव हो। तुम एक अद्वितीय हो ॥ ४३ ॥

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः। हे देव! तस्मात् अहं कायं (शरीरं) प्रणिधाय (नीचैर्धृत्वा दण्डवत् निपात्य) प्रणम्य (प्रकर्षेण नत्वा) ईशं ईड्यं (स्तुत्यं) त्वां प्रसादये; पुत्रस्य (अपराधं) पिता इव (यथा क्षमते), सख्युः (अपराधं) सखा, प्रियायाः (अपराधं) प्रियः इव (यथा क्षमते), (तथा) सोढुम् (मम अपराधं क्षन्तुं) अर्हसि ॥ ४४ ॥

अनुवाद। हे देव! इसलिये मैं शरीर को दण्डवत् गिराकर प्रणाम करके सर्वनियन्ता वन्दनीय तुमको प्रसन्न करता हूं। पिता जैसे पुत्रका अपराध क्षमा करता है, सखा जैसे सखा का और प्रिय जैसे प्रियाका अपराध क्षमा करते हैं, उस प्रकार तुम मेरे अपराध को क्षमा करो ॥ ४४ ॥

व्याख्या। काय कहते हैं शरीरका मध्यभाग अर्थात् मेरुदण्ड (पीठकी रीढ़) को आश्रय करके जो अंश वर्त्तमान है, उसको। प्रणिधाय कहते हैं, दण्डवत् नीचे धारण करनेको। ईश्वरका प्रसाद प्राप्त करनेके लिये प्रणाम करनेका क्रम यही है; यह साधनका उच्चतर-

क्रम है । अर्थात् कायको दण्डवत् दृढ़ करके नीचेकी ओर फेकना होता है; नीचे फेकनेका अर्थ है गुरूपदेश के क्रमसे पञ्चतत्त्वके ऊपर उठना होता है; ऊपर उठ जानेसे ही—मनसे देहको पृथक् करके केवल चित्का अवलम्बन करनेसे ही "प्रणिधाय कायं" होता है । (यह अवस्था साधनमें निजबोधगम्य है) । इस प्रकार अवस्थापन्न हो करके आत्ममन्त्रके सहारेसे नाद-ज्योतिके साथ मनको विष्णुपदमें फेकनेसे ही "प्रणम्य प्रणिधाय कायं" यह क्रिया होती है; यह तो आज्ञाचक्रके ऊपरकी क्रिया हुई—जिसे शरीराभिमान वर्ज्जित मानस-क्रिया कहते हैं । इससे ईश प्रसन्न होते हैं * । प्रसन्न करने के लिये प्रार्थनाकी ये तीन उपमा साधारण और स्वाभाविक है; यथा—समप्राणतासे सखाके पास सखाका, प्रियके पास प्रियाका, और पिताके पास पुत्रका अपराध जैसे ग्रहण-योग्य नहीं होता, क्षमा ही क्षमा प्रकाश रहती है, उसी तरह तुम हमारे समस्त अपराध को क्षमा करो ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।

---

* इसलिये भगवान अष्टावक्र कहते हैं—"यदि देहं पृथक् कृत्वा चिति विश्राम्य तिष्ठसि । अधुनैव सुखी शान्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि ॥"

तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

अन्वयः। हे देव! अदृष्टपूर्वं (इदं विश्वरूपं) दृष्ट्वा हृषितः (हृष्टः) अस्मि मे मनः च भयेन प्रव्यथितं (प्रचलितं), (अतः) तत् रूपं एव मे दर्शय; हे देवेश! हे जगन्निवास प्रसीद ॥ ४५ ॥

अनुवाद। हे देव! मैं अदृष्टपूर्व (इस विश्वरूप) का दर्शन करके हृष्ट हुआ हूं, परन्तु अब मेरा मन भयभीत हुआ है; अतएव मुझको अपना वही रूप दिखाइये; हे देवेश! हे जगन्निवास! प्रसन्न होइये ॥ ४५ ॥

व्याख्या। जिसे और कभी पूर्वकाल में नहीं देखा गया, तुम्हारे उसी विश्वरूपका दर्शन करके मैं उल्लसित हुआ हूं, परन्तु अपरम्पार रूप-तरंग में पड़कर मेरा मन भयविह्वल हुआ है। हे जगन्निवास! आप मेरे ऊपर प्रसन्न होकर के अपना पहले वाला वही छायाविहीन तैजस देवेश रूप मुझको दिखाइये ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्त्ते ॥ ४६ ॥

अन्वयः। अहं त्वां तथा एव (यथा पूर्वं दृष्टोऽसि) किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तं द्रष्टुं इच्छामि, हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्त्ते! तेन एव चतुर्भुजेन रूपेण (वसुदेवपुत्ररूपेण) भव॥ ४६॥

अनुवाद। मैं तुमको उसी किरीटधारी, गदाधारी, चक्रहस्त रूपसे देखना चाहता हूं। हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्त्ते! आप उसी चतुर्भुज रूपसे आविर्भूत होइये॥ ४६॥

व्याख्या। हे सहस्रबाहो विश्वमूर्त्ते! तुम्हारे इस विश्वरूप को तिरोहित करो हे ठाकुर! जैसे आपने जन्म समयमें मस्तकमें किरीट धारण करके हाथमें शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण करके जिस चतुर्भुज रूपसे देवकी वसुदेवका भय दूर करके अभय दिये थे; आज उसी भयहारी सौम्य मूर्त्तिसे मेरे हृदयमें भी अभय दीजिये। मैं आपकी उसी मूर्त्तिका दर्शन करनेके लिये अभिलाषी हूं॥४६॥

श्रीभगवानुवाच।
मया प्रसन्नेन तवार्ज्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ ४७॥

अन्वयः। श्रीभगवान् उवाच। हे अर्जुन! मया प्रसन्नेन (सता) तव इदं मे (मम) तेजोमयं विश्वं (विश्वात्मकं) अनन्तं आद्यं परं रूपं

आत्मयोगात् (आत्मनः मम योगात् योगमायासामर्थ्यात्) दर्शितं; यत् (रूपं) त्वदन्येन (त्वादृशात् भक्तात् अन्येन) न दृष्टपूर्वं (पूर्वं न दृष्टं) ॥ ४७ ॥

अनुवाद। श्री भगवान् कहते हैं। हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न हो कर आत्मयोगके प्रभावसे मेरे इस तेजोमय, विश्वात्मक, अनन्त, आद्य प्रमरूप दिखाया है, जिसको पूर्वमें तुम्हारे बिना किसी और ने नहीं देखा था ॥ ४७ ॥

व्याख्या। पुनः साधक निजबोध द्वारा पूर्वके देखे हुए रूपकी लीला समूहकी मीमांसा करते हैं। हे अर्जुन! यह जो तुमने लोक-जगत् के प्रजा सदृश अद्भुत जीवन्त चित्रों की क्रिया देखी, यह सब मेरी प्रसन्नता से है (प्र+सद=गमन करना+त, अर्थात् ममत्व शब्दके अर्थसे जो समझा जाता है, प्रकृष्ट पूर्वक उसके विश्रामके पश्चात् जिस भावका उदय होता है, उसीको प्रसन्नता कहते हैं); क्योंकि जबतक तुम्हारे अन्तःकरणमें "मेरे" कह करके किसी वृत्तिकी उपस्थिति थी, तबतक तुमने उस अद्भुत सञ्जीवनी शक्तिकी क्रीड़ा (खेल) देखने के लिये अवकाश नहीं पाया। जब तुम अपना "अहं ममत्व" को छोड़ करके सच्चे "मैं" में मिलने गये, तबही तुम्हारी वह अदृष्टपूर्व घटना उपस्थित हुई थी। इसीको आत्मयोग कहते हैं; जिससे तुमने उस आदि, अनन्त परं रूप अर्थात् अरूप के रूपका दर्शन कर लिया। जिसकी छाया पड़ सके ऐसे

पृथिवीके अणु उसके भीतर कहीं भी नहीं थे। केवल ज्योतिर्म्मय तेजसे बना हुआ चर-जगत्का चरम खेल था। ब्रह्म नाड़ीका ठीक मध्यभागसे सहस्रारमें उठकर ज्योति भेद करके, मनोलय होनेके पश्चात् इस अवस्था का परिज्ञान होता है। इसको तुम जिस रीतिसे देखते हो, उसीके अनुसार तद्भाव युक्त होनेसे ही यह दिखाई पड़ता है। और इसीलिये इसे कोई दूसरा देख नहीं सकता ॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

अन्वयः । हे कुरुप्रवीर ! न वेदयज्ञाध्ययनैः न दानैः न क्रियाभिः (अग्निहोत्रादिभिः) न च उग्रैः तपोभिः (चान्द्रायणादिभिः) नृलोके (मनुष्यलोके) त्वदन्येन (त्वत्तोऽन्येन केनचित्) एवं रूपः अहं द्रष्टुं शक्यः ॥ ४८ ॥

अनुवाद । हे कुरुप्रवीर ! न वेदाध्ययनसे न दानसे न क्रिया समूह से न उग्र तपस्यासे मनुष्यलोकमें तुम्हारे बिना अबतक दूसरा कोई मेरे इस रूपका दर्शन करनेमें समर्थ हुआ ॥ ४८ ॥

व्याख्या । न वेद—(विद् धातुका अर्थ ज्ञान है)

ज्ञानावस्थामें पहुंचनेसे इस रूपका दर्शन नहीं होता, क्योंकि उस समय दृश्य-द्रष्टा-भावका अभाव होता है।

यज्ञ—जबतक आदान प्रदान रहता है तबतक अर्थात् कुछ लेना देना की वृत्ति (अभिलाषा) रहनेसे इसका दर्शन नहीं होता।

अध्ययन—बुद्धि जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध में विस्तृत हो गई है, उन सबसे उसको समेटकर स्व-स्थानमें रखनेका काम जबतक जारी रहता है, तबतक भी इस रूपका दर्शन नहीं होता।

न दानैः—त्यागही त्याग करते रहनेसे भी इस का दर्शन नहीं होता।

न क्रियाभिः—गुरूपदिष्ट क्रियाओं से जबतक प्राण-संचालन किया जाता है, उसके भीतर इस दृश्यका आविर्भाव नहीं होता।

न तपोभिरुग्रैः—क्रिया काल में खेद, कम्पन, और मति, ये जो अवस्थात्रय हैं इन तीनोंमें से एक भी रहने से इसका दर्शन नहीं होता।

यह जो आत्मरूप है, यह ठीक ठीक 'मैं' में 'मैं' मिलाने का अव्यवहित पूर्वमें ही साधकमें प्रकाश पाता है। हे कुरु-प्रवीर! इसका और कोई दूसरा रास्ता नहीं है ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढ़भावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

अन्वयः। मम ईदृक् घोरं इदं रूपं दृष्ट्वा ते व्यथा मा (अस्तु) विमूढ़भावः (विमूढ़चित्तता) च मा (अस्तु); त्वं व्यपेतभीः (विगतभयः) प्रीतमनाः (सन्) पुनः मे इदं तदेव रूपं (शङ्खचक्रगदापद्मधरं चतुर्भुजं रूपं) प्रपश्य ॥ ४९ ॥

अनुवाद। ईदृश भयंकर मेरा यह रूप देखकरके तुम्हें भयभीत न होना चाहिये, विमूढ़ भी न होना चाहिये; तुम विगतभय और प्रसन्नचित्त हो करके पुनः यह मेरा वही रूप देखो ॥ ४९ ॥

व्याख्या। "मा ते व्यथा"—तुम और भय न करो। "मा च विमूढ़भावः" और तुमको काम, क्रोध, शम, दम आदिके वशीभूत हो करके चलनेका प्रयोजन नहीं है। (आत्महारा होकरके काम, क्रोध, मोह, विवेक, वैराग्य आदि किसी वृत्तिका आश्रय लेनाही विमूढ़त्व है)। तुमने तो देखा मेरा घोर (सर्वको नाश करने वाला) रूप कैसा है? अब तुम अपने मन को निर्भय और तृप्त कर लो। पुनः मेरा वही रूप—वही शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज रूप, जिसे तुम देखनेके लिये उत्सुक हुए हो, देखो! ॥ ४९ ॥

सञ्जय उवाच।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अन्वयः। वासुदेवः अर्जुनं इति उक्त्वा भूयः स्वकं (स्वीयं) तथा (पूर्ववत् किरीटगदादियुक्तं चतुर्भुजं) रूपं दर्शयामास; महात्मा सौम्यवपुः (प्रसन्नदेहः) भूत्वा पुनश्च भीतं एनं (अर्जुनं) आश्वासयामास ॥ ५० ॥

अनुवाद। वासुदेवने अर्जुनको इस प्रकार कह करके पुनः अपना वही चतुर्भुज रूप दिखलाया; और महात्माने (श्रीभगवान) प्रसन्न-मूर्त्ति हो करके भयभीत अर्जुनको पुनश्च आश्वस्त किया ॥ ५० ॥

व्याख्या। वसु शब्दका अर्थ है रत्न,—जैसा हीरा, चुन्नी, मणि, माणिक्य; स्थावर अथवा अस्थावर सदृश ऐसी कोई चीज जिसके भीतरसे ज्योति निकले, परन्तु दृढ़ एवं स्वच्छ आवरणसे ढकी हुई हो। देव शब्दमें दीप्ति है। तभी हुआ, स्थावर अथवा अस्थावर सदृश कोई वस्तु, जिसके भीतरसे ज्योति निकलती है, और वह दृढ़ स्वच्छ आवरणसे ढका हुआ दिखाई पड़ता है; ऐसा दीप्ति-मान जो है वही "वसुदेव" है। और वासुदेव कहते हैं

समस्त देव अर्थात् ज्योतिष्मान् लोग. जहां इकट्ठे हो करके निवास करते हैं, ऐसे स्थान को । "ज्योतेरभ्यन्तरे रूपं अचिन्त्यं श्यामसुन्दरं" । साधक जब अज्ञानचक्रमें रहकर ऊर्ध्वदिशामें देखते हैं, तब ठीक सन्मुखमें वसुदेव दिखाई पड़ते हैं। उसी वसुदेवका भेद होनेसे ही वासुदेव का दर्शन होता है । इनके निज रूप प्रकृतिके साथ आत्मा मिल करके (आत्मा अनादि-अनन्त और प्रकृति सादि-सान्त हैं, इन दोनोंके मेलसे) सादि-अनन्त रूपसे साधकके अनुभवमें आता है । इस सुन्दर रूपकी सीमा नहीं है, इसलिये सिद्ध साधक लोगोंने इस रूप-राशिके मस्तकमें किरीट देकरके रूपका श्रेष्ठत्व प्रतिपादन किया है; इसीलिये यह किरीटधारी हैं ।

यहां किसी भूतका ठौर ठिकाना नहीं, परन्तु तन्मात्रा का प्रकाश है । "अ" और "उ" मिल करके जैसे अविच्छिन्न कैसा एक प्रकारका शब्द सुननेके सदृश बोध में आता है । इसलिये साधक उस शब्दको शंख-नादके सादृश्यसे लेकरके उस स्थानके एक दिशामें शंख कह करके स्थापन किये हैं । (चिन्ताशील लोग इस जगत्को शब्दमात्र वस्तुशून्य विकल्प कहते हैं)।

सादि जो कुछ है, वह एक जगहसे उत्पन्न हो करके घूमते फिरते फिर उत्पत्ति स्थानमें आकरके विश्राम

लेता है। यहां भी जहांसे अनुभूतिका प्रारम्भ होता है, वहां से सब दिशाओंमें घूमते घामते फिर उसी स्थानमें आकरके विलयको प्राप्त होता है इसलिये उसे चक्र कल्पना करके एक दिशामें रख दिया। भ्रम-मय होनेसे भी यह जगत् देखनेमें अतीव सुन्दर है; और अव्यक्तसे खिल करके व्यक्त सरीखे भान दिखलाकर पुनः अव्यक्तमें मिलकर अदृश्य हो जाता है; इसलिये भावुक लोग जगत्का वस्तुशून्यता हेतु सुदर्शन चक्र नाम दिया है।

यह रूप बड़ा चमकदार, बार बार आत्महारा करता है इस करके आघातकी शक्ति को "गदा" नाम दे करके एक दिशामें रख दिया है। जगत्में 'दगा' के सिवा और कुछ भी नहीं है; इसलिये मनीषी लोगोंने इसका सांकेतिक शब्द "गदा" रक्खा है।

पद्म—'पद्' शब्दमें स्थान और 'म' शब्दमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव, यम, काल और चन्द्र है। इन सबके एकत्र समावेश स्थानको पद्म कहते हैं। यह जगत् (सृष्टि, पुष्टि, व्यवधान, संयम और संहार करनेवाले इन्द्रजालके खेल सदृश) रूपकी छटामें सबको मोहित कर रक्खा है; इसलिये तत्त्वदर्शी ऋषियोंने इसका नाम पद्म रक्खा है; इसका एक और नाम पङ्कज भी है, क्यों

कि मायामय पङ्कसे उत्पन्न होता है। अतएव इस जगत् का निदर्शन स्वरूप 'पद्म' को भी एक दिशामें रख दिया है।

ये चारों चार दिशामें अवस्थित हैं अर्थात् चतुर्भुजसे पकड़े हुए हैं, इसलिये शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी किरीट शोभित वासुदेव हैं अर्थात् इस मिथ्या मायामय विश्व-संसारको जो धारण कर रहे हैं, वही वासुदेव हैं। वासुदेव का यह रूप अत्यन्त गभीर और अपरिज्ञेय है। अत्यन्त दूरत्व हेतु, दृक्शक्तिकी दुर्बलतासे रूपशून्य आकाशमें जैसा नीलिमाका पट देखा जाता है, यह रूप उससे भी गभीर है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म, जो अनुभवमें आता ज्ञानमें आता और समझमें आता है, उससे भी दूर दूरान्तर अज्ञेय गाढ़ अन्धकारमें डूबा हुआ रहनेसे चिक्कन काला नाम दिये हैं। "साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूप-कल्पना"। यथार्थमें वहां कोई रूपही नहीं है। जैसे जैसे साधक अनुभवकी ताड़ना और दिव्यदृष्टिकी सहायतासे देखते देखते नीचे उतरता रहता है, उसीके साथ साथ प्रकृतिगत भावके विषय समूहको उसमें लगाते लगाते आते हुए सांसारिक ऐसी एक मूर्त्ति बना लेता है, जो उस पूर्वोक्त समष्टिका भावमय आकार यह वासुदेव है। भगवानने पूर्वश्लोक-कथित भीत अर्जुनको अभय

दे करके 'वसुदेव गृहे जात' उस चतुर्भुज रूपको दिखला कर पुनः सौम्य ("तोत्रवेत्रैकपाणि" सखा) मूर्त्ति धारणकर आश्वास दिया। साधनके प्रथम उन्नति क्रममें साधक निर्भय रहते हैं, परन्तु साधनमें उन्नत होकर विश्वव्यापी अवस्था प्रत्यक्ष करनेके समय, हृदयका संसारासक्तिके लिये दुर्बलताके कारण उनका वह निर्भयता भयमें परिणत होता है; परन्तु पश्चात् वासुदेव अवस्था के परिज्ञानसे उस भयका अपसारण होनेसे आश्वासित होते हैं, और अति सन्तर्पणसे उस महान् भाव को अपना मानुषि अन्तःकरणमें धारणाका उपयोगी करके प्रकृतिस्थ हो कर सौम्यभाव धारण करते हैं ॥५०॥

अर्जुन उवाच।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अन्वयः। अर्जुन उवाच। हे जनार्दन! तव इदं सौम्यं मानुषं रूपं दृष्ट्वा इदानीं सचेताः (प्रसन्नचित्तः) संवृत्तः (संजातः) अस्मि, प्रकृतिं च (स्वास्थ्यं च) गतः (प्राप्तोऽस्मि) ॥ ५१ ॥

अनुवाद। अर्जुन कहते हैं। हे जनार्दन! तुम्हारा इस सौम्य मानुष रूप का दर्शन करके अब मैं प्रसन्नचित्त और स्वस्थ हूं ॥ ५१ ॥

व्याख्या। हे जनार्दन! तुम्हारी इस मनोहर मानुष मूर्त्ति का दर्शन करके मैं अब और उसी सर्व-भूतात्मक रूप में अटका नहीं हूं; मैं प्रकृतिगत हुआ हूं, अर्थात् प्रकृति के साथ मिल चुका हूं; जड़-चैतन्य के संयोगसे जो होता है, मैं वही हुआ हूं; प्राकृतिक आवरण के भीतर पहुंच कर चित्तधर्म्माक्रान्त हुआ हूं।

विश्वरूप दर्शन के समय जीवभाव चित्ताकाशको अतिक्रम करके चिदाकाश में अवस्थान करता है। उस अवस्था में जो जो अनुभव प्रत्यक्ष होता है, उनका वर्णन शब्दों के द्वारा किया नहीं जा सकता; वह अव्यक्त है—चित्त की धारणा करने के अतीत विषय है; अतएव चित्त प्रसन्न नहीं होता, किम्भूत किमाकार मूर्त्ति के दर्शन से शान्ति नहीं पाता; भयभीत हुआ रहता है। पश्चात् निज विश्वरूप सम्वरण करके जब इष्टदेव मानुषरूप धारण करते हैं, तब उसका भय दूर होता है, चित्त प्रसन्न होता है और उस समय प्रकृतिस्थ होना पड़ता है। क्योंकि स्वभावतः मनुष्य अभीष्टदाता को स्वजातीय रूप में देखने से सम-प्राण के लिये प्रसन्न होता है, विजातीय रूप में उसे देखने से भयभीत होता है॥ ५१॥

श्रीभगवानुवाच ॥

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥

अन्वयः। श्रीभगवान् उवाच। मम इदं सुदुर्दर्शं (अत्यन्तं द्रष्टुं अशक्यं) यत् रूपं दृष्टवान् असि; देवाः अपि अस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥

अनुवाद। श्रीभगवान कहते हैं। यह जो मेरे सुदुर्दर्श रूप का तुमने दर्शन किया है, देवता समूह भी नित्य उस रूप के दर्शन की आकांक्षा करते हैं ॥ ५२ ॥

व्याख्या। पुनः साधक आत्मज्ञान में उठ करके आपही आप पूर्व अनुभूति की मीमांसा करते हैं। यह जो हमारा अद्भुत रूप है, जो रूप अति कठोर साधन से दर्शन में आता है, मैंने देखा कि, देवतागण भी (तैजस, सूक्ष्मशरीरधारी कर्म्मफल के भोक्ताओं को देवता कहते हैं) उस रूपके दर्शन के लिये सर्वदा इच्छुक रहते हैं। स्थूल शरीर, जाग्रतावस्था और रजोगुण को छोड़ कर साधन नहीं होता। देवतों में इन सब का अभाव है; इसलिये वे लोग (देवतागण) साधन नहीं कर सकते। फिर साधन न करने से इस अद्भुत रूप का दर्शन करने का उपाय भी दूसरा और कोई नहीं है ॥ ५२ ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवम्विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

अन्वयः । मां यथा दृष्टवान् असि, न वेदैः (ऋगादिभिः चतुर्भिः) न तपसा न दानेन न च इज्यया अहं एवम्विधः द्रष्टुं शक्यः ॥ ५३ ॥

अनुवाद । हमारे जिस रूपका तुमने दर्शन किया है; दूसरा कोई न तो वेदाध्ययन से, न तपस्यासे, न दान से और न यज्ञसे हमारे उस रूप का दर्शन कर सकता है ॥५३॥

व्याख्या । यह जो "मैं" है, साम-ऋक्-यजु-अथर्व चारों वेदको कण्ठ करने से भी उस "मैं" का दर्शन नहीं होता । शरीरादिको सुखाकर, नीचे शिर ऊर्ध्व पादादि करके तपस्या करनेसे भी उस "मैं" को देखा नहीं जा सकता । अग्निहोत्रादि यज्ञसे भी उस "मैं" को कोई देख सकता नहीं । सागरान्त पृथ्वीको दान करनेसे भी "मैं" को कोई देख नहीं सकता । जिस तरहसे मैंने उस "मैं" को देखा है, ठीक ठीक उसी प्रकार साधन करके उस "मैं" को देखना होता है । उससे दूसरा और कोई पन्थ नहीं है ॥ ५३ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्यः अहमेवम्विधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥५४॥

अन्वयः। हे परन्तप अर्जुन! अनन्यया भक्त्या तु एवम्विधः अहं तत्त्वेन (परमार्थतः) ज्ञातुं द्रष्टुं च प्रवेष्टुं च (मोक्षं च गन्तुं) शक्यः ॥ ५४ ॥

अनुवाद। हे परन्तप अर्जुन! केवल अनन्य-भक्तिसे ही इस प्रकार मुझको परमार्थत जानने, देखने, और हममें प्रवेश करने सकते हैं ॥ ५४ ॥

व्याख्या। जो साधक साधन के बल से पराशक्ति को भी तापन करने की शक्ति रखते हैं, उन्हींको परन्तप कहते हैं। गुरु-वाक्य में अटल विश्वास करके अबाधतः क्रिया का अनुष्ठान करते रहने का नाम अनन्य-भक्ति है। एक मात्र इसी अनन्यभक्ति से इस विश्वरूपी अहंतत्त्वको ("मैं" को) तत्त्वों से जाना जाता है—समझा जाता है, अर्थात् क्रम अनुसार पृथ्वी-तत्त्व, रसतत्त्व, तेजस्तत्त्व, वायुतत्त्व, आकाशतत्त्व इत्यादि क्रमसे उठ करके आत्मा का उस प्रकार स्वरूप का बोध होता है [यही साधनका कर्म्म-काण्ड है]; पश्चात् आत्माका साक्षात्कार लाभ होता है, अर्थात् विश्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन होता है [यही उपासना-काण्ड है]; इसके बाद, उस विश्वरूप में प्रवेश होता है, अर्थात् उस रूपको देखते देखते तन्मय होकर उसमें मिल जाता है--मोक्ष लाभ होता है [यही ज्ञान-काण्ड है]। अतएव भक्ति बिना मुक्ति नहीं होती। इस

श्लोक में भक्ति-साधन का यह क्रम व्यक्त हुआ है;—प्रथम अनन्यभक्ति अर्थात् ऐकान्तिक आग्रह के साथ गुरूपदिष्ट मतामें आत्मक्रिया का अनुष्ठान है; तत्पश्चात् अपरोक्ष ज्ञान लाभ होता है; इसके बाद मुक्ति है। इससे समझा गया कि साधन क्रिया की आदि अवस्था का नाम भक्ति, मध्य अवस्था का नाम ज्ञान, और अन्त्य अवस्था का नाम मुक्ति है । इसलिये लोग कहते हैं कि भक्ति ही मुक्ति है—"भक्तिर्मुक्तिरेव सुनिश्चितम्" ॥ ५४ ॥

मत्कर्म्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्व्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

अन्वयः । हे पाण्डव ! यः मत्कर्म्मकृत् (मदर्थं कर्म्मानुष्ठाता) मत्परमः (अहमेव परमः पुरुषार्थः यस्य सः) मद्भक्तः (ममाश्रितः) सगंवर्जितः (इन्द्रियार्थेषु आसक्तिरहितः) सर्वभूतेषु निर्व्वैरः (शत्रु-भाव वर्जितः), सः माम् एति (प्राप्नोति; अहमेव तस्य परागतिर्नान्या कदाचित् भवतीति) ॥ ५५ ॥

अनुवाद । हे पाण्डव ! जो साधक मेर लिये कर्म्मानुष्ठान करते हैं, मैंही जिनका परम पुरुषार्थ हूं, जो मेरे भक्त, संगवर्जित तथा सर्व-भूतमें शत्रुभाववर्जित हैं वही साधक मुझे प्राप्त करते हैं ॥ ५५ ॥

व्याख्या । [जिस प्रकार आचार व्यवहारसे चलते

हुए मुमुक्षुगण मुझ ("मैं") को प्राप्त करते हैं—मुक्त होते हैं, श्रीभगवानने गीताशास्त्रका सार स्वरूप उसी उपदेशको संक्षेपसे इस श्लोकमें व्यक्त कर दिया है]।

अतएव हे अर्जुन ! जो साधक गुरूपादिष्ट पन्थमें प्राण का चालन करते हैं, जो साधक उस "मैं" के ऊपर अपनेको निछावर करते हैं; जो साधक उस 'मैं' को सम्मुखमें रख करके "मैं" में मिलनेकी चेष्टा करते हैं; इसे छोड़कर जिनकी इच्छा दूसरी ओर एक दम नहीं रहती; गुणोंके साथ भूत मात्र भी जिनके विरुद्ध किसी प्रकार विघ्नोत्पादन न कर सकनेसे, समूह भूतोंके साथ जिनका विरोध नष्ट हो गया है; वही साधक इस "मैं" को पाते हैं—"मैं" हो जाते हैं ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्ज्जुन सम्वादे विश्वरूपदर्शनयोगोनाम
एकादशोऽध्यायः ।

द्वादशोऽध्यायः ।

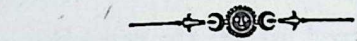

अर्जुन उवाच ।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्य्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अन्वयः । अर्जुनः उवाच । एवं (सर्वकर्म्मार्पणादिना) सतत-युक्ताः (सदा त्वन्निष्ठाः सन्तः) ये भक्ताः त्वां (विश्वरूपं) पर्य्युपासते, ये च अव्यक्तं अक्षरं अपि (ब्रह्म) पर्य्युपासते, तेषां (उभयेषां मध्ये) के योगवित्तमाः (अतिशयेन योगविदः) ? ॥ १ ॥

अनुवाद । अर्जुन कहते हैं । इस प्रकार सतत युक्त होकर जो सब भक्तगण तुम्हारी उपसना करते हैं, और जो लोग अव्यक्त अक्षर की उपासना करते हैं; इन दोनों के भीतर अधिक से अधिक योगविद् कौन हैं ? ॥ १ ॥

व्याख्या । गुरु वाक्यमें अटल विश्वास करके जो पूर्वोक्त प्रकारसे सतत युक्त रह कर तुम्हारी उपासना करता है, और जो अक्षर अव्यक्तकी उपासना करता है, इन दोनोंमें योगवित्तम (श्रेष्ठ) कौन है ? साधक देखते हैं, यह जो विश्वरूप दर्शन है इसमें तो "मैं" "तुम" (अहं-त्वं) एक नहीं हुआ। यही साधन अच्छा है,

या जिसमें "मैं" "तुम" एक हो जाता है, वह साधन अच्छा है। बताइये! दोनोंके भीतर श्रेष्ठ कौन है? ॥१॥

श्रीभगवानुवाच।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

अन्वयः। मयि (परमेश्वरे सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टे) मन आवेश्य (एकाग्रं कृत्वा) नित्ययुक्ताः (मदर्थकर्म्मानुष्ठानादिना मन्निष्ठाः सन्तः) परया (श्रेष्ठया) श्रद्धया उपेताः (युक्ताः) ये मां उपासते (आराधयन्ति), ते युक्ततमाः मे मताः (ममाभिमताः) ॥ २ ॥

अनुवाद। हममें मन समाहित कर, नित्ययुक्त होकरके परम श्रद्धा युक्त जो सब लोग मेरी उपासना करते हैं, मेरे मतमें वही युक्ततम हैं ॥ २ ॥

व्याख्या। पुनः साधक निजबोधसे अपने प्रश्नकी मीमांसा आपही आप करते हैं। गुरुवाक्यमें अटल विश्वाससे (सर्वबाधाको अतिक्रम करने वाली शक्तिकी दृढ़ता से) मुझको सामनेमें रख करके, विश्व-कोषका जो कुछ समस्त भूल जा करके, हममें मन फेंक करके, नित्य स्वरूप हममें युक्त (जैसे गंगा जलमें इन्दारा जल) हो करके, मैं के समीपमें आय करके, जो मैं में मिल-मिश जाय; मेरे मतमें वही युक्ततम है ॥ २ ॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

अन्वयः । ये तु इन्द्रियग्रामं संनियम्य सर्वत्र समबुद्धयः (सन्तः) अनिर्देश्यं (निर्देष्टुं अशक्यं) अव्यक्तं (रूपादिहीनं) सर्वत्रगं (सर्व-व्यापिनं) अचिन्त्यं कूटस्थं (कूटे मायाप्रपञ्चे अधिष्ठानत्वेनावस्थितं) अचलं (स्पन्दनरहितं अतएव) ध्रुवं (नित्यं) अक्षरं पर्य्युपासते, सर्वभूतहिते रताः ते मामेव प्राप्नुवन्ति ॥ ३ । ४ ॥

अनुवाद। और जो सब साधक इन्द्रिय समूह को संयत करके सर्वत्र समबुद्धि सम्पन्न होकरके अनिर्देश्य, अचिन्त्य, सर्वत्रगत, अव्यक्त, अचल, ध्रुव, कूटस्थ अक्षरकी उपासना करते हैं, सर्वभूतोंके हितमें रत वही लोग मुझको प्राप्त होते हैं ॥ ३ । ४ ॥

व्याख्या । 'अक्षरं'—जो कभी क्षयको प्राप्त नहीं होते । 'अनिर्देश्यं'—जिनका कभी किसीसे निरूपण किया नहीं जा सकता । 'अव्यक्तं'—जो शब्दके अगोचर, अर्थात् शब्दसे जिनका थाह पाया नहीं जाता । 'सर्वत्रगं'—अर्थात् आकाश सदृश जो सर्वव्यापी । 'अचिन्त्यं'—जो चिन्ताके विषयीभूत नहीं, अर्थात् चिन्ता करके जिनकी रचना की नहीं जा सकती ।

'कूटस्थं'—दृश्यमान जो कुछ गुणमन्त और दोषमन्त है उसीको कूट कहा जाता है, अर्थात् अविद्यादि अनेक संसार-बीज-दूषित पदार्थको 'कूट' कहते हैं । माया, प्रकृति, विद्या इन तीन शब्दोंके अर्थको धारण करके महेश्वर जैसे मायिन् नाम पाये हैं, तैसे उन दोष-गुणमन्त पदार्थोंके अध्यक्ष स्वरूप रहे हैं जो, उन्हींको कूटस्थ कहते हैं । जिनकी चलने फिरने वाली जगह नहीं, वह 'अचल' है। 'ध्रुव' कहते हैं नित्यको । इस शरीरके समस्त इन्द्रियां, पञ्चप्राण, और बुद्धिको सर्व कालमें संयत करके सर्व भूतोंके हितमें रत रहनेसे जब इष्ट और अनिष्टका उदय होता ही नहीं, ऐसी अवस्थामें वह ऊपर वाले विशेषणों का आधार जो 'मैं' है, उस मैं में पड़नेसे मेरी उपासना करना भी होता है, और उस मैं को पाना भी होता है । दर्शनीय शरीर धारण कर रह करके भी ज्ञानी जैसे आत्मा ही आत्मा है, यह भी तद्रूप ॥ ३ ॥४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५ ॥

अन्वयः । अव्यक्तासक्तचेतसां तेषां (जनानां) क्लेशः अधिकतरः; हि (यस्मात्) अव्यक्ता गतिः (अव्यक्तविषया निष्ठा) देहवद्भिः (देहाभिमानिभिः) दुःखं (यथा स्यात् तथा) अवाप्यते ॥ ५ ॥

अनुवाद । अव्यक्तमें आसक्त चित्त उन सब लोगोंको क्लेश अधिकतर है, क्योंकि देहाभिमानी जन अव्यक्तगति दुःखसे प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या । साधक देखते हैं कि, वचनमें परमार्थदर्शी, अथच देहाभिमान छुटा नहीं, जिनकी ऐसी अवस्था है, उनके क्लेशकी सीमा नहीं; उन सबको "मैं-मेरे" भावमें आबद्ध रहना ही पड़ता है । क्योंकि, "मेरे" लेकर के ही संसारमें जितना कर्म है । इन कर्मोंका अत्यन्त अभ्यासके लिये "मेरे" छोड़ करके "मैं" में गिरने जावो तो अनजान भावसे "मेरे" का ऊपर गिरा देता है । जिसलिये "मैं" में गति होती नहीं ॥ ५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

अन्वयः । हे पार्थ! ये तु सर्वाणि कर्म्माणि मयि (परमेश्वरे) संन्यस्य (समर्प्य) अनन्येन एव योगेन (एकान्तभक्तियोगेन) मत्पराः (भूत्वा) मां ध्यायन्तः (चिन्तयन्तः) उपासते, अहं तेषां मय्यावेशितचेतसां मृत्युसंसारसागरात् न चिरात् (अचिरेण) समुद्धर्त्ता भवामि ॥ ६ । ७ ॥

अनुवाद। हे पार्थ! परन्तु जो सबलोग समुदय कर्म्म मुझको अर्पण करके एकान्तभक्तियोगसे मत्परायण होकरके हृदयमें मुझ को बैठायके (ध्यानयोगसे) उपासना करते हैं, हममें निविष्टचित्त उन सब लोगोंको मैं तुरन्त मृत्यु-युक्त संसार-सागरसे उद्धार करता हूं॥ ६। ७॥

व्याख्या। जो कोई साधक सर्व कर्म अर्थात् २१६०० दफे निश्वास प्रश्वास का त्याग ग्रहण की क्रिया "मैं" में अर्थात् ब्रह्मनाड़ीके भीतर सम्यक् प्रकारसे समर्पण करके एकान्तभक्तियोग द्वारा दूसरी कोई चिन्ता-संस्रव-दोष न रख करके केवल मात्र "मैं" के वाचक स्वरूप उसी ब्रह्म-मन्त्र का अवलम्बन करके इष्ट मूर्ति का ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, अर्थात् आत्मस्वरूपमें स्थिति (समाधि) लाभ करते हैं, वही साधक "मय्या-वेशितचित्त" होते हैं, और वही साधक अतिशीघ्र मृत्यु-संसार-सागर रूपी दुस्तरणीय आने जाने वाले प्रवाहसे परित्राण पा करके ऊपरमें अटक रहते हैं—"मैं" हो जाते हैं।

इस श्लोकमें "मत्पराः" शब्दसे अनाहत ध्वनि अवलम्बन अर्थात् योगशास्त्रके मतमें क्रियायोगकी "श्रवण" क्रिया समझाता है; "मां ध्यायन्तः" से "मनन" (मनोलय) क्रिया समझाता है; और "उपासते" शब्दसे "निदिध्यासन" (आत्म-स्वरूपावस्थान) क्रिया

समझाता है । गुरूपदेश अनुसार साधक इन तीन क्रियामें सिद्धिलाभ करनेसे ही संसार से उत्तीर्ण होनेके लिये उनको और देर रहता नहीं; शीघ्रही मृत्युको * अतिक्रम करके जीवन्मुक्त होते हैं ॥ ६ । ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

अन्वयः । मयि एव मनः (संकल्प विकल्पात्मकं) आधत्स्व (स्थिरी कुरु), बुद्धिं (व्यवसायात्मिकाम्) मयि निवेशय, अतः ऊर्ध्वं (देहान्ते) मयि एव निवसिष्यसि (मदात्मना वासं करिष्यसि), (अत्र) संशयः न (अस्ति) ॥ ८ ॥

अनुवाद । हमहीमें मनस्थिर करो, हममें बुद्धि निवेश करो, तो देहान्त पश्चात् हममेंही निवास करोगे, इस विषय में संशय नहीं ॥८॥

व्याख्या । अतएव ऐसे 'मैं' में मनको फेंको, ऐसे 'मैं' में बुद्धिको निवेशित कर दो, ऐसा करने से तुमको फिर माया-विकार छू नहीं सकेगा, इसमें संशय न करो, तुम ऊंचे हो जाओगे, अर्थात् जबतक तुम शरीर धारण कर रहोगे तबतक आज्ञाके ऊपर आत्मभाव में आत्मस्थ (जीवन्मुक्त) होकर रहोगे, और नीचेमें उतर कर प्रकृतिगत होकर के बद्ध होना नहीं

* मृत्युका अर्थ २य अः २७ श्लोक देखो ।

पड़ेगा; और शरीर-पतनके पश्चात् ठीक ठीक 'मैं' हो जावोगे ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥

अन्वयः। हे धनञ्जय ! अथ (यदि) चित्तं मयि स्थिरं समाधातुं न शक्नोषि, ततः (तर्हि) अभ्यासयोगेन मां आप्तुं इच्छ (प्रयत्नं कुरु) ॥ ९ ॥

अनुवाद। हे धनञ्जय ! यदि हममें चित्त स्थिर कर रखनेमें समर्थ न हो, तो अभ्यास-योगसे मुझको प्राप्त होने के लिये प्रयत्न करो ॥९॥

व्याख्या। पूर्व जन्मार्जित उत्तम सुकृति न रहने से पूर्व श्लोकानुसार बिना चेष्टा में आपही आप आत्मा में मन बुद्धि स्थिर की नहीं जाती, अभ्यास का प्रयोजन है। इसलिये भगवान कहते हैं कि, जैसे हमने कहा है वैसे करके यदि तुम चित्तको उस "मैं" के ऊपर स्थापन न कर सको तो, "मैं" होने के लिये बारम्बार चित्तसमाधान का अभ्यास करो। ६ष्ठ अध्यायका २६वां श्लोककी व्याख्या देखो ॥ ९ ॥ *

* चित्त समाधान करने में अशक्त होनेसे भगवान् ९—११ श्लोकमें जो जो करने के लिये उपदेश किये हैं, सो सब अलग नहीं, साधन का पर पर क्रम है। प्रथम अभ्यासयोगसे आत्मत्व प्राप्ति की चेष्टा,

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्म्म परमो भव ।
मदर्थमपि कर्म्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

अन्वयः । (यदि पुनः) अभ्यासे अपि असमर्थः असि, (तर्हि) मत्कर्म्मपरमः (मदर्थं कर्म्म मत्कर्म्म तदनुष्ठानमेव परमं यस्य तादृशः) भव; कर्म्माणि मदर्थं कुर्वन् अपि सिद्धिं अवाप्स्यसि ॥१०॥

अनुवाद । (यदि) अभ्यास में भी असमर्थ हो तो, हमारे कर्म्म में निरत हो जाओ; मदर्थ में समस्त कर्म्म करते रहने से ही सिद्धिलाभ करोगे ॥ १० ॥

व्याख्या । (यदि) अभ्यासमें भी तुम अशक्त हो, तो 'मैं' के (हमारा) कर्म्म परायण हो जाओ ।

दूसरे मत्कर्म्मपरायणता, तीसरे मद्योगाश्रय, चौथा यतचित्तता, पञ्चम सर्व कर्म्मफल त्याग । प्रथम क्रम में असमर्थता न आने से दूसरे क्रममें पहुंचा नहीं जा सकता; उसी तरह दूसरे दूसरे क्रम सम्बन्धमें भी जानना । जैसे चलते चलते शरीर ढीला पड़नेसे आपही आप चलना रुक जाता है, चलनेमें शरीरकी असमर्थता आती है, तैसे अभ्यास-योगकी क्रिया करते करते भी उसमें असमर्थता आती है। तब मत्कर्म्मपरायणता का उदय होता है। पश्चात् इस क्रियामें भी असमर्थता आनेसे मद्योगाश्रय होता है; उसमें भी असमर्थता आनेसे चित्त संयत होता है । यह संयम अवस्था आनेसे ही सर्व कर्म्मफल त्याग हो करके कैवल्य स्थितिकी प्राप्ति होती है । ये सब आपही आप क्रम अनुसार उदय होती रहती हैं । असमर्थताकी अवस्था समूह साधनमें निजबोध रूप जानना ॥ ९ ॥

किस प्रकारसे मत्कर्म्म परायण होने होता है ? मैं के अर्थमें अर्थात् मैं जो ब्रह्म हूं, मैं का वाचक है प्रणव, प्रणव का अर्थ हूं मैं; गुरूपदिष्ट रस्तेमें यथा यथा स्थानमें उस प्रणव को उच्चारण करते करते निश्वास-प्रश्वास का ग्रहण-त्याग करनेसे ही 'मैं' के अर्थमें कर्म्म करना होता है। और वही कर्म्म तुमको सिद्धि अर्थात् प्राप्तिकी प्राप्ति लाभ करावेगा, अर्थात् तुम आप ही आप अपने को भूल करके जो 'तुम' सज लिये हो, यह तुम्हारे सजने का भ्रम मिटाकर तुम्हारा पुनः आत्मत्व प्रतिष्ठा भी करा देगा (४र्थ अः २६वें श्लोककी व्याख्या देखो) ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्म्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

अन्वयः। अथ (यदि) एतत् अपि कर्त्तुं अशक्तः असि, ततः (तर्हि) मद्योगं (मदेकशरणं) आश्रितः सन् यतात्मवान् (यत-चित्तः भूत्वा) सर्वकर्म्मफलत्यागं कुरु ॥ ११ ॥

अनुवाद। इसमें भी यदि तुम अशक्त हो तो, मद्योग का आश्रय करके यतचित्त हो करके सर्वकर्म्मफल का त्याग कर दो ॥११॥

व्याख्या। ऊपरमें जो जो साधन कहा हुआ है, उन सबके भीतर यदि तुम एक भी न कर सको, तो

हमारे योग का आश्रय कर लो। हमारा योग इस प्रकार है;—ब्रह्मनाड़ीके बीचमें जो आकाश है, उस आकाशके मथनसे आदि अन्त शून्य एक प्रकारके शब्द की उत्पत्ति होती है; ऊंचे नीचे कम्पन वाले जो सुननेमें आता है उसको शब्द कहते हैं, और एक रंग कम्पन-शून्य अविच्छिन्न व्यंजन-रहित जो शब्द सुननेमें आता है उसीको नाद कहते हैं। उस नादके उदय होनेसे, वह नाद प्रोक्त आकाश-मथनके लिये परिश्रम दूर करा कर साधक को 'मैं' में ला करके साधक और 'मैं' दोनोंका मिलन कराय देता है। तुम भी ढूंढ़ो, तुम्हारे भीतर वह अकम्पन नाद कहां है। उस नादमें तुम मनको फेंको, (क्रिया गुरूपदेशगम्य है); तब तुम अपनेको विषय, देहादि इन्द्रियों और अन्तःकरणसे समेट लाकर अलग करके ऐसे कोई एक जगहमें लाओगे जिसमें तुम अनुभव करोगे कि, "सकल" कहने से जो किसी को समझा जाता है, उन सबसे तुम अलग हुए हो, और कोई किसीको तुम आश्रय करके नहीं हो। इस अवस्था के बादही तुम 'मैं' में मिल करके 'मैं' हो जाओगे। इस अवस्थामें बोध्य बोधन मात्रका अभाव हो जाता है। इसीको मद्योग कहते हैं। इस अवस्थामें जब तक तुम रहोगे, तबतक तुम्हारा क्रियमाण कोई कर्म्म ही

नहीं रहेगा, अतएव कर्म्म न रहनेसे कर्म्मफल आपही आप त्याग हो जावेगा। यह तो हुई क्रियमाण कर्म्म की बात, पूर्वके सञ्चित कर्म्मसमूह जो तुमको फल देते थे और फल देनेके लिये उन्मुख हुए थे, सो सब भी अंधियारे की ज्योति राशिमें पतंग-प्रवाह सदृश पड़कर जलकर खाक होते चले जावेंगे। तब और तुम गुणके भीतर नहीं रहते हो इसलिये गुणोंके उपार्जित कर्म्मसंस्कार गुणको प्राप्त न हो करके निर्गुणमें पड़ करके क्रिया विहीन हो जायगा। और इस अवस्थामें भविष्यत् शब्दके अर्थके अभावके लिये कर्म्माशंका भी नहीं रहेगी, इसलिये तुमको माया-विकार-शून्य कराकर आत्मवान् कर देगा। इसीको तुम करा करो॥ ११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्म्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥१२॥

अन्वयः। (अविवेकपूर्वकात्) अभ्यासात् ज्ञानं हि श्रेयः (निश्चितमेव प्रशस्यतरं); ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते; ध्यानात् कर्म्मफलत्यागः (विशिष्यते); (एवं) त्यागात् अनन्तरं शान्तिः (उपशमः स्यात्)॥ १२॥

अनुवाद। (अविवेक पूर्वक) अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है; ज्ञानसे ध्यान विशिष्ट; ध्यान से कर्म्मफलत्याग (विशिष्ट); (इस प्रकारसे) त्यागके बाद ही शान्ति होती है॥ १२॥

व्याख्या। अविवेक-जनित अभ्यासमें कठोरता है; परन्तु स्थिति नहीं। विवेक-जनित ज्ञानमें निर्म्ममत्व, परन्तु स्थिति है। ये अभ्यास और ज्ञान इन दोनोंके भीतर ध्यानको समझते जाओ तो इस प्रकार समझ आता है कि,—साध्य वस्तुमें मिल करके साधक तदाकारत्व लेकर एक हो जानेका नाम ध्यान है। इस ध्यान में मिलन-सुख और मिलनके लिये प्रेमकी कोमलता दोनोंही वर्त्तमान हैं। इसमें कठोरता वा निर्म्ममत्व इन दोनोंका ही अभाव है। साध्य और साधक मिलकर जब एक हो गये, उस एकत्वके परिपाकसे कर्म्म और कर्मफल दोनों का ही विश्राम हुआ। वह कर्म्म-विश्राम ही त्याग है। त्याग होनेसे निरन्तर शान्ति होती है। यह शान्तिही अमनस्क स्थिति वा ब्राह्मीस्थिति है। इसलिये कहता हूं कि, अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है; ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है, जिस ध्यानमें कठोरता भी नहीं, निर्म्ममत्व भी नहीं, तथापि त्याग-जनित सुखके साथ ज्ञानका फल शान्तिस्वरूप जो ब्राह्मीस्थिति है, उसे भी मिला देती है।

२य अर्थ। साधक देखते हैं कि बिना सद्गुरुके चरण कमलमें मस्तक नवाय आपापन्थी बनकर योग-समाधिका अनुष्ठान करना बकरीके गले वाले स्तनोंसे दूध निकालनेकी चेष्टाके नाईं निष्फल है; परन्तु

गुरूपदिष्ट सामान्य ज्ञान ही साधनमें सुफल देता है। और क्रमशः यह ज्ञान ध्यानावस्थामें साधकको लेजाकर और भी श्रेष्ठत्व देता है। इसके बाद जब समाधि-अवस्था आती है, तब कर्म और कर्मफलका स्वयं विश्राम हो जाता है। उसीको त्याग कहते हैं। और उसी त्याग में शान्ति विराजती है॥ १२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥

अन्वयः। सर्वभूतानां अद्वेष्टा, मैत्रः, करुणः एव च, निर्ममः, निरहङ्कारः, समदुःखसुखः, क्षमी (क्षमाशीलः), सततं सन्तुष्टः, योगी (अप्रमत्तः), यतात्मा (संयतस्वभावः), दृढनिश्चयः (आत्मतत्व-विषये स्थिराध्यवसायसम्पन्नः), मय्यर्पितमनोबुद्धिः (मयि अर्पिते स्थापिते मनोबुद्धिः यस्य संन्यासिनः सः) यः (ईदृशो) मद्भक्तः सः मे प्रियः॥ १३। १४॥

अनुवाद। जो पुरुष सब प्राणियोंसे द्वेषशून्य, मैत्र, कृपालु, ममताविहीन, अहङ्कारशून्य, सुखदुःखमें समज्ञानसम्पन्न, क्षमाशील, सर्वदा सन्तुष्ट, योगी (अप्रमत्त), संयतचित्त, दृढ अध्यवसायसम्पन्न और हममें अपने मन, बुद्धिको अर्पण करनेवाला है; वही मद्भक्त मेरा प्रिय है॥ १३। १४॥

व्याख्या। जिस समय साधक साधनके बलसे 'मैं' में आकर संकल्प-विकल्प रूप मन और निश्चय-करणशक्ति बुद्धिको एक स्थानपर स्थिर कर देते हैं, उस समय उनके अन्तष्करणमें सङ्कीर्णताका बन्धन शिथिल हो जाता है और उदारताका विकाश होता है। संयम-साधन समयमें उनका भूतादि विषयोंके प्रति जो विरोध भाव था, इस अवस्थामें पहुंचने से उसका भी लोप हो जाता है। मानो क्रमशः सबमें ही मैं-ज्ञान हो जाता है और इसीलिये द्वेष-भाव हट जाता है। मेरी प्यारी वस्तु जैसी मैं हूं, वैसी और कोई नहीं है; इससे मैत्रीभावका प्रकाश होता है। अपना कष्ट जिस प्रकार मैं सहन नहीं कर सकता उसी तरह यह भाव सबके ऊपर विस्तार हो करके करुणा रससे पूर्ण होकर "मैं" में मिला लेता है। सबही "मैं" हो जाता है इसालिये 'मेरा' कहनेको कोई नहीं रहता। मुझे छोड़कर और किसीकी विद्यमानता नहीं रहती और इसीलिये अहङ्कारका प्रादुर्भाव नहीं होता। सुख और दुःख नामकी कोई वृत्ति भी नहीं रहती। सब समान हो जाते हैं; केवल क्षमाही क्षमा, तोषही तोष रह जाता है। पहले जो द्वैतभाव था, इस समय यह दोनों मिलकर एक हो जाते हैं और द्वैताद्वैत विवर्जित की

सी एक अवस्था आती है। और यही (अवस्था) योगी अवस्था कहलाती है। इस अवस्थामें आत्माका अवधि-रहित विस्तार हो जानेसे जितने दृढ़ और निश्चय-वाची अर्थ हैं, उनकी प्रतिष्ठा लाभ होती है। गुरु-वाक्यमें अटल विश्वाससे साधन करनेसे जिसकी इस प्रकारकी अवस्था आती है, वही हमारा प्रिय है; क्योंकि वह साधक 'मैं' को छोड़कर और कुछ नहीं है॥ १३। १४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥

अन्वयः। यस्मात् (सकाशात्) लोकः (जनः) न उद्विजते (भयशङ्क्या क्षोभं न प्राप्नोति), यश्च लोकात् न उद्विजते, यश्च हर्षामर्षभयोद्वेगैः (हर्षः स्वस्येष्टलाभे उत्साहः, अमर्षः परस्य लाभंऽसहनं, भयं त्रासः, उद्वेगो भयादि निमित्तश्चित्तक्षोभः एतैः) मुक्तः यः स च मे प्रियः॥ १५॥

अनुवाद। जिस साधक से लोग उद्विजित नहीं होते और दूसरे लोगोंसे भी जो आप उद्विजित नहीं होता, जो हर्ष, अमर्ष, भय तथा उद्वेगसे विहीन है, वही हमारा प्रिय है॥ १५॥

व्याख्या। "लोक" अर्थात् दृश्य यह जो कुछ है; उनके "मैं" हो जानेके पश्चात् द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध

मिट जाता है। इसलिये "मैं" से दृश्यका उद्विग्न अथवा दृश्यसे मेरे उद्विग्न होनेका अवसर नहीं आता। उद्वेगसे अमर्ष, निरुद्वेगसे हर्ष और प्रतिद्वन्दीसे भय उत्पन्न होता है। ये विकार जिसमें नहीं रहता, वही मेरा प्रिय अर्थात् "मैं" हूं ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

अन्वयः । अनपेक्षः (निस्पृहः) शुचिः (बाह्याभ्यन्तरशौचसम्पन्नः) दक्षो (अनलसः) उदासीनः (पक्षपातरहितः) गतव्यथः (आधिशून्यः) सर्वारम्भपरित्यागी (सर्वान् दृष्टादृष्टार्थान् आरम्भान् उद्यमान् परित्यक्तुं शीलं यस्य सः) यः मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

अनुवाद । जो साधक स्पृहाशून्य, शुचि, दक्ष, उदासीन, व्यथा-वर्जित तथा सर्वारम्भपरित्यागी है; वह मद्भक्त ही हमारा प्रिय है ॥१६॥

व्याख्या। "अनपेक्ष"—जो पुरुष किसीकी अपेक्षा न करके अकेले रहते हैं अर्थात् कैवल्य भोग करते हैं; वही अनपेक्ष हैं। मनकी चञ्चलता ही अशुचि और स्थिरत्व ही "शुचि" है। बाह्यजगत्के विषयोंको लेकर खेलनेका नाम ही कार्य्य है। प्रत्युत्पन्नमतिके द्वारा इन सबका परिचालन करके और इन सबके संस्पर्श से दूषित न होकर जो साधक केवल सत्य में अवस्थान

करते हैं; वेही "दक्ष" हैं; । दक्ष प्रजापति हैं; प्रकृष्टपूर्वक उत्पन्न हो करके स्थिति और भंग जिनकी प्रकृति है वेही प्रजा हैं। इस प्रजाका जो नियन्ता है वही दक्ष है। ऊँचे स्थान में बैठे हुए को जैसे नीचे वाला मनुष्य छू नहीं सकता ठीक उसी तरह समाधिस्थ योगीकी दशा है। जगत्प्रपञ्च से अपने अन्तःकरण को उठाकर उस प्रकार रहने के सदृश ऊँचे पर जो रहता है, वही "उदासीन" है। आधि और व्याधि * जिसके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं करतीं; उसीको "गतव्यथ" कहते हैं। जिसके कर्म तथा कार्यका प्रारम्भ ही नहीं रहता, उसको "सर्वारम्भपरित्यागी" कहते हैं। गुरु-वाक्यमें अटल विश्वास से इस प्रकार की साधनका फल जिसने पा लिया है, वही मेरा भक्त है; इसलिये वही मेरा प्रिय अर्थात् "मैं" हूं ॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥१७॥

अन्वयः। यः (प्रियं प्राप्य) न हृष्यति, (अप्रियं प्राप्य) न

---

* मनकी पीड़ाका नाम आधि है; और इसकी शान्ति अननुध्यान से होती है। व्याधि शरीरकी पीड़ाका नाम है; इसकी शान्ति प्रतिकार द्वारा अर्थात् औषध, पथ्यादिके प्रयोगसे होती है।

द्वेष्टि, (इष्टार्थनाशे सति) न शोचति, (अप्राप्तं अर्थं) न कांक्षति, यः शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् सः मे प्रियः ॥ १७ ॥

अनुवाद । जो साधक (प्रियवस्तुके लाभसे) हृष्ट नहीं होता, (अप्रियके मिलनेसे) द्वेष नहीं करता, (इष्टके नाशसे) शोक नहीं करता, (अप्राप्तवस्तुकी) आकांक्षा नहीं करता, जो शुभाशुभ परित्यागी और भक्तिमान है; वही मेरा प्रिय है ॥ १७ ॥

व्याख्या । जिस भक्तिमान साधकको इष्ट प्राप्तिसे आनन्द, अनिष्ट प्राप्तिसे विद्वेष, प्रियजनके विरहसे शोक, अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिकी लालसा अन्तर्बाह्यमें उदय नहीं होती, धर्म्म अथवा अधर्म्म करनेकी इच्छा जिसके हृदयमें उत्पन्न नहीं होती; उपर्युक्त अवस्थाएं जो पाये वेही साधक हमारे प्रिय हैं । साधक, तुम देखो, ये जो कई अवस्थाएं हमने वर्णन की हैं, उन्हें प्राप्त करना और "मैं" हो जाना बराबर है ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥१९॥

अन्वयः । शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः समः (एकरूपः) शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः (क्वचिदप्यनासक्तः) तुल्य-

निन्दास्तुतिः, मौनी (संयतवाक्), येन केनचित् (यथालब्धेन) सन्तुष्टः, अनिकेतः (नियतवासशून्यः), स्थिरमतिः (व्यवस्थितचित्तः), भक्तिमान् नरः मे प्रियः ॥ १८ । १९ ॥

अनुवाद। शत्रु, मित्र, मान और अपमानमें समदृष्टि सम्पन्न; शीत-उष्ण-सुख-दुःखमें समान ज्ञान विशिष्ट; आसक्तिरहित; निन्दा और स्तुतिमें समभावापन्न; मौनी; जो कुछ हो उसीमें सन्तुष्ट; अनिकेत (आश्रयशून्य); स्थिरमति ऐसे जो भक्तिमान नर हैं वेही हमारे प्रिय हैं ॥ १८ । १९ ॥

व्याख्या। संग कहते हैं इच्छाको; यदि इस इच्छाको अन्तःकरणसे हटा दिया जाय तो, शत्रु (विरोधी), मित्र (अनुकूल वा एकक्रिय), मान (पूजा), अपमान (तिरस्कार), शीत (शीतलता बोध), उष्ण (उत्ताप बोध), सुख (जिससे अन्तःकरण तृप्त होता है), दुःख (तद्विपरीत), निन्दा (अपवाद), स्तुति, (प्रशंसा), इत्यादि इन सब परस्परविरोधी वृत्तियोंकी विषमता नष्ट हो जाती है। उस समय मौनी (संयतवाक्), जो कुछ है उसीसे सन्तुष्ट, अनिकेत (ब्रह्मवत् आश्रय विहीन), स्थिरमति (जिसका चित्त ब्रह्ममुखी होकर स्थिर हो चुका है), इत्यादि भाव साधकमें आता है। मनुष्योंमें जो नर इस अवस्थापन्न है, वही मेरा प्रिय है अर्थात् वही आत्मस्वरूप लाभ कर चुका है ॥ १८ । १९ ॥

ये तु धर्म्मामृतमिदं यथोक्तं पर्य्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

अन्वयः । ये तु इदं धर्म्मामृतं यथा उक्तं (अद्वेष्टासर्वभूताना-मित्यादिना) पर्य्युपासते (अनुतिष्ठन्ति), श्रद्दधानाः (श्रद्धां कुर्वन्तः) मत्परमा (मत्परायणाः) ते भक्ताः मे अतीव प्रियाः ॥ २० ॥

अनुवाद । जो साधक इस अमृत रूपी धर्म्मका, जैसा वर्णन किया गया है, ठीक उसी प्रकार अनुष्ठान करते हैं, श्रद्धाशील और मत्परायण वे भक्तगण ही मेरे अतीव प्रिय हैं ॥ २० ॥

व्याख्या । जो भक्तिमान्, श्रद्धावान् साधक "मैं" होनेके लिये, हमारे कहे हुए इस अमृतमय धर्म्मोपदेशका ठीक ठीक साधन करते हैं, वेही हमारे अतिप्रिय हैं । (क्योंकि निश्चय वे साधक 'मैं' हो जाते हैं) ॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुन संवादे भक्तियोगो नाम
द्वादशोऽध्यायः ।

त्रयोदशोऽध्यायः ।

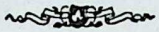

अर्जुन उवाच ।

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥ १ ॥

अन्वयः । अर्जुनः उवाच । हे केशव ! प्रकृतिं पुरुषं च एव, क्षेत्रं क्षेत्रज्ञं एव च, ज्ञानं ज्ञेयं च, एतत् वेदितुं इच्छामि ॥ १ ॥

अनुवाद । अर्जुन कहते हैं । हे केशव ! प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय इत्यादि को जानने की मैं इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

व्याख्या । साधक देखते हैं कि, यह जो आत्मामें आत्माके मिलानेकी चेष्टा है, जिसे मैं ने 'भक्तियोग' कहकर समझा है, इसमें कुछ वृत्तियां इसके अनुकूल में और कुछ प्रतिकूल में खड़े हो जाते हैं । किन्तु इन दोनों प्रतिकूल, अनुकूल वृत्तियोंकी आश्रयभूमि वा आधार एक ही है । जबतक इनके आधारको समूल नष्ट न किया जायगा, तबतक आत्माके साथ आत्माके मिलानेका स्थायी फल पाना केवल दुराशा मात्र है । वह जो आधार सर्वसमष्टि-शक्ति रूपसे रहती है, वह भी और एक दूसरेकी आधेय है । सर्वकरणीय

शक्ति हो करके भी एक "सत्ता" के निकट अधीनता स्वीकार करके यह अपना अस्तित्व बनाय रखती है। वह सत्ता इस महाशक्तिका ऐसा कोई अणु वा परमाणु नहीं है जिसमें ओतप्रोत भाव से नहीं रहता। (जैसे ईंट, पत्थर, बर्त्तन और घरके भीतर आकाश है)। उस सत्ताका वह जो ओतप्रोत भाव है, वही इस महाशक्तिकी चेतन-विधाता है। यह जो दोनों परमाराध्य परमार्थ एक रूपसे हमारे सम्मुखमें खड़े रहते हैं, इनके बीचमें प्रकृति और पुरुष कौन है? क्षेत्र अथवा क्षेत्रज्ञ भी कौन है? जिससे इस क्षेत्र वा क्षेत्रज्ञ को जाना जाता है, वह ज्ञान भी क्या है? और मेरे जो कुछ जानने लायक वस्तु (ज्ञेय) वह भी क्या है? हे केशव! इस समय मुझे आप यही सब समझा दीजिये ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥२॥

अन्वयः । श्रीभगवान् उवाच । हे कौन्तेय ! इदं (भोगायतनं) शरीरं क्षेत्रं इति अभिधीयते (कथ्यते, संसारस्य प्ररोहभूमित्वात्); यः एतत् (शरीरं) वेत्ति (जानाति, अस्य शरीरस्य साक्षीस्वरूपेण वर्त्तते इत्यर्थः) तद्विदः (तस्य साक्षिणः स्वरूपज्ञाः) तं (वेदितारं साक्षिणं) क्षेत्रज्ञः इति प्राहुः ॥ २ ॥

अनुवाद। श्रीभगवान कहते हैं। हे कौन्तेय ! इस शरीरको क्षेत्र कह करके अभिहित किया जाता है। जो इसे जानते हैं (अर्थात् इसके ज्ञाता और साक्षीस्वरूपमें वर्त्तमान हैं), उन्हें क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥ २ ॥

व्याख्या। इस शरीरको क्षेत्र कहते हैं। क्योंकि जिस प्रकार किसी क्षेत्रमें बीज बोनेसे जैसे हवा, गर्मीकी सहायतासे मिट्टीके गुण अनुसार तथा कृषि-कर्म्मके फलसे बीजका अनुरूप फल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार इस शरीरमें भी (कर्म्म-फल तो उत्पन्न होता ही रहता है, परन्तु इसे छोड़ करके) गुरूपदेशरूप बीजको बोनेसे प्राणयोगमें ऐकान्तिक इच्छा-प्रभावसे और गुणक्रियाके फलसे अभीष्ट फल उत्पन्न होता है। तत्वदर्शियोंने इस शरीरके कार्यकारण स्वरूपका निर्णय करके देखा है कि, यह त्रिगुणमय चौबीस तत्वोंसे निर्मित हुआ है, और इसका स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन प्रकारके रूप हैं,—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय ये पांच प्रकारके कोश हैं,—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन प्रकारके अवस्था हैं। और यह भी देखा है कि, इस स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरको छोड़कर पञ्चकोशसे अतीत, अवस्थाओंका साक्षी, सच्चिदानन्द स्वरूप और कोई एक है, उसे ही आत्मा कहते हैं। वही संसारका 'अहं' अर्थात् ज्ञाता और साक्षी है—"अहमेकोऽपि सूक्ष्मश्च ज्ञाता साक्षी सदव्ययः"। यह "अहं"

ही इस श्लोकके "एतत् यो वेत्ति" इस उक्तिका वेत्ता है। इसीलिये तत्वविद्गण उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं।*

शरीरके सम्बन्धमें यह जो कहा गया, उसे समझानेके लिये और आगेके छठवें और सातवें श्लोकमें जो क्षेत्रका वर्णन किया गया है, उसे समझनेके सुभीताके लिये इस स्थान पर चौबीस तत्वोंका उत्पत्ति-प्रकरण स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर-विवरण, पञ्चकोश तथा अवस्थात्रयका परिचय, और क्षेत्रज्ञ वा आत्माका लक्षण इत्यादि श्रीमत् शङ्कराचार्य्य देवकी उक्ति अनुसार संक्षेप में दिया गया है।—

---

* किन्तु जो साधक साधन-शक्तिसे आत्मतत्वका अवलम्बन करके पगसे लेकर मस्तक पर्य्यन्त इस शरीरको ज्ञानका विषय किये हैं अथवा कर रहे हैं; वे भी क्षेत्रज्ञ हैं। क्योंकि वे क्रमशः उस "अहं" में चित्तलय करके तत्स्वरूप प्राप्त करके "अहं" स्वरूप हो जाते हैं। श्रीमत् शंकराचार्य्य और श्रीधर स्वामीने इस श्लोकके भाष्य टीका में ऐसे ही क्षेत्रज्ञका वर्णन किया है। किन्तु दूसरे श्लोकमें भगवानके "क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि" इस वचनके अनुसार स्वामी शंकराचार्य्यने कहा है कि, क्षेत्रज्ञके सम्बन्धमें केवल इतना ही जाननेसे काम न चलेगा; जो सर्वक्षेत्रमें (सबमें) एक अद्वितीय परमेश्वर रूपसे विराजमान है, वही क्षेत्रज्ञ है। इससे समझाता है कि, शरीर-तत्वविद् साधक भी क्षेत्रज्ञ और परमेश्वर भी क्षेत्रज्ञ है। भगवानने ४र्थ श्लोकमें "स च यो यत्प्रभावश्च" कहकर क्षेत्रज्ञके सम्बन्धमें कहा कि, आगे कहेंगे, परन्तु अध्यायमें किसी स्थान पर भी स्पष्टतया

भगवान् शंकराचार्य्यने तत्वोत्पत्तिप्रकार कहनेके पहलेही कहा है कि—"ब्रह्माश्रया सत्त्वरजस्तमो-गुणात्मिका माया अस्ति"। उत्पत्ति-प्रकार कहनेके लिये इस अंशको मान लेना पड़ा। इस अंशको ही शास्त्र का मान लेनेका विषय वा स्वीकारोक्ति कहते हैं। प्रत्येक शास्त्रमें प्रतिलोम प्रकरणके सिद्धान्त विषयमें इस प्रकार स्वीकारोक्ति विना गत्यन्तर नहीं है। इस प्रकार स्वीकारोक्ति की सत्यता जानी जाती है, परन्तु प्रमाण देकर समझाई नहीं जा सकती। इसलिये इसको अप्रमेय सत्य कहते हैं।

क्षेत्रज्ञका लक्षण नहीं कह करके अमानित्वादि कई एक गुणोंको ज्ञानसाधनत्व हेतु ज्ञान कह करके उल्लेख कर दिया तत्पश्चात् "ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि" इत्यादि श्लोक द्वारा ज्ञेय पदार्थका लक्षण कह दिया है। इसीसे अर्जुनके "ज्ञान और ज्ञेय क्या है?" इस प्रश्नका उत्तर भी दे दिया गया और क्षेत्रज्ञके स्वरूपका भी वर्णन कर दिया गया है। अतएव इसीसे जानना चाहिये कि, वह अमानित्वादि ज्ञानसाधन गुण जिसमें रहता है वह ज्ञानविज्ञानयोगाधिकृत होनेके पश्चात् संन्यासी और ज्ञाननिष्ठ होनेके कारण वह भी क्षेत्रज्ञ—शरीरतत्वविद् साधक है; और जो शुद्ध केवल क्षेत्रज्ञ है, जिसका प्रभाव जाननेसे अमृतत्व लाभ होता है, वही ज्ञेय है। उसके लक्षणादि "अनादिमत् परं ब्रह्म" इत्यादि द्वारा १३ से १८ श्लोक पर्य्यन्त वर्णित हैं। साधकको स्मरण रखना चाहिये कि, ७म अध्यायमें वर्णित भगवान की अपरा एवं परा दोनों प्रकृतिको ही इस अध्यायमें दो स्थान पर यथाक्रम अनुसार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ एवं प्रकृति और पुरुष नामसे उल्लेख किया गया है। नाम पृथक् पृथक् है परन्तु उनमें भेद बहुत थोड़ा है।

इस त्रिगुणात्मिका मायासे आकाश बना; उसके बाद आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे आप (जल) और आपसे पृथ्वी, इस प्रकार पञ्चतत्व की उत्पत्ति होती है।

इन सब पञ्चतत्वोंमेंसे आकाशके सात्विक अंशसे श्रोत्रेन्द्रिय उत्पन्न हुई, वायुके सात्विक अंशसे त्वगिन्द्रिय की उत्पत्ति, अग्निके सात्विक अंशसे चक्षुरिन्द्रियकी उत्पत्ति, जलके सात्विक अंशसे रसनेन्द्रिय और पृथ्वीके सात्विक अंशसे घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न हुई है। और इन सब पञ्चतत्वोंके एकत्रित सात्विकांशसे मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त यह सब अन्तःकरण सम्भूत हुए हैं।

इन सब पञ्चतत्वोंमें से आकाशके राजसांशसे वागिन्द्रिय, वायुके राजसांशसे पाणीन्द्रिय, अग्निके राजसांशसे पादेन्द्रिय, जलके राजसांशसे उपस्थेन्द्रिय और पृथ्वीके राजसांशसे गुह्येन्द्रिय की उत्पत्ति है। और इन सब पञ्चतत्वोंके समष्टि राजसांशसे प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान यह सब पञ्चप्राण सम्भूत हुए हैं।

इन सब पञ्चतत्वोंके तामसांशसे पञ्चीकृत पञ्चतत्व की उत्पत्ति होती है। पञ्चीकरण यथा;—

इन सब पञ्चमहाभूतोंके तामसांश स्वरूप एक एक भूत

को दो भागोंमें विभक्त करके पाँचोंके पाँच अर्धभाग को अलग अलग स्थिरभावसे रक्खो, और प्रत्येक शेष पाँच अर्ध भागको चार भागोंमें विभक्त करो। इन पाँच अर्धके प्रत्येकके भाग चतुष्टय को उन अलग रक्खे हुए पंचार्धके बीचमें स्वकीय अर्धको छोड़ बाकी बचे हुए चार अर्ध भागोंके साथ मिला दो। ऐसा करनेका ही नाम पञ्ची-करण है। इस पञ्चीकरण क्रियामें पञ्चभूत स्थूलत्वको प्राप्त होते हैं, और इसीसे इन्द्रियग्राह्य होते हैं; अपञ्ची-करण अवस्थामें सूक्ष्मत्व हेतु इन्द्रियग्राह्य नहीं होते। पञ्चीकरण अवस्थामें प्रत्येक भूत पञ्चमिश्रित होता है। इसलिये पृथ्वी जो दिखाई पड़ती है, उसमें पृथ्वी अंश आठ आना, जलांश दो आना, अग्नि अंश दो आना, वायु अंश दो आना और आकाशांश दो आना है। उसी प्रकार जलमें जलांश आठ आना और बाकी प्रत्येक चार भूतका अंश दो दो आना है। इसी प्रकार अन्यान्य भूतोंमें भी जानो।

इस पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतसे ही स्थूल शरीर उत्पन्न होता है। इसीसे पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता संग-ठित होती है।

इस तत्वोत्पत्ति-प्रकरणमें अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत क्या है और पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत क्या है, उसे समझा

दिया गया। अब स्थूल, सूक्ष्म, और कारण शरीर क्या हैं; उसे कहते हैं—

जो शरीर पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत द्वारा कृत (गठित), सत्, असत् कर्मसे उत्पन्न, सुख दुःखादि भोग का आयतन (संस्थान), एवं अस्ति (रहता है), जायते (उत्पन्न होता है), वर्द्धते (बढ़ता है) विपरिणमते (अवस्थान्तर प्राप्त होता है), अपक्षीयते (क्षय प्राप्त होता है), विनश्यति (विनाश प्राप्त होता है)—यह षड्-विकार सम्पन्न है, उसे स्थूल शरीर कहते हैं।

जो शरीर अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत द्वारा कृत (गठित), सत् असत् कर्म्मसे उत्पन्न, सुख दुःखादि भोगका साधन (करण) एवं पञ्चज्ञानेन्द्रिय पञ्चकर्म्मेन्द्रिय पञ्चप्राण मन तथा बुद्धि इन सप्तदश कलायुक्त है, वही सूक्ष्म शरीर है।

और जो अनिर्व्वाच्य अनादि अविद्यारूप, स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीरका कारणमात्र, स्वस्वरूप ज्ञान का आवरक तथा निर्विकल्परूप है; वही कारण शरीर है।

इन तीनों शरीरकी क्रिया अनुसार जीव को तीन अवस्थाएं भोगनी पड़ती हैं। वह तीनों अवस्था यह हैं—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। जिस समय श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय द्वारा शब्दादि विषय सहयोगसे ज्ञानोत्पत्ति होती है; तबही

जाग्रदवस्था है। यह स्थूल शरीरकी क्रिया है। स्थूल-शरीराभिमानी आत्मा ही विश्व है,इस प्रकार कहा जाता है।

जाग्रदवस्थामें जो देखा जाता है, जो सुना जाता है, उससे उत्पन्न हुई वासना द्वारा निद्रा समयमें जो प्रपञ्च (प्रत्यक्ष्य) दिखाई पड़ते हैं, वही स्वप्नावस्था है। यह सूक्ष्म शरीर की क्रिया है। यह सूक्ष्म शरीराभिमानी आत्मा तैजस है, ऐसा कहा जाता है।

"मैं कुछभी नहीं जानता, मैं सुखसे सोता हूं"—यही सुषुप्ति-अवस्था है। यह कारण शरीर की क्रिया है। यह कारण शरीराभिमानी आत्मा प्राज्ञ है, ऐसा कहा जाता है।

इसी तरह शरीरके कोश पाँच हैं;—अन्नमय, प्राण-मय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय।—

अन्नरससे उत्पन्न होकर अन्नरससे ही बृद्धि पाकर अन्नरूप पृथ्वीमें जो विलीन होता है, वही अन्नमय कोश, अर्थात् स्थूलशरीर है।

प्राणादि पञ्चवायु तथा वागादीन्द्रिय पञ्चक को प्राणमय कोश कहते हैं। ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक सम्मिलित मनको मनोमय कोश कहते हैं; उसी प्रकार ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक सम्मिलित बुद्धिको विज्ञानमय कोश कहते हैं। ये तीनों कोश सूक्ष्म शरीरके अन्तर्गत हैं।

इसी प्रकार कारणशरीर गत अविद्यास्थित प्रियादि-वृत्ति सहित जो मलिनसत्त्व है, वही आनन्दमय कोश है।

यह पाँचो कोशकी बात हुई। हमारा शरीर, हमारा प्राण, हमारा मन, हमारी बुद्धि, हमारा ज्ञान—यह सब आपही आप जाने जाते हैं। उसी प्रकार जैसे कनक-कुण्डल गृहादिमें हमारा शब्द का प्रयोग होता है, मैं शब्द सूचित नहीं होता; वरन् वे सब मैं से भिन्नही बोध होते हैं; इसी तरह पञ्चकोशमें भी हमारा शब्द ही प्रयुक्त होता है; यह सब आत्मा नहीं है। तब आत्माका स्वरूप क्या है? ना,—"सच्चिदानन्दस्वरूपः", अर्थात् आत्मा सत्=तीनों कालमें ही विद्यमान है, चित्=ज्ञानस्वरूप, एवं आनन्द=सुखस्वरूप। यह सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्माही क्षेत्रज्ञ है॥ २॥

क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ ३॥

अन्वयः। हे भारत! सर्वक्षेत्रेषु मां च अपि क्षेत्रज्ञं विद्धि; क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः यत् ज्ञानं तत् ज्ञानं मम मतं॥ ३॥

अनुवाद। हे भारत! समुदय क्षेत्रमें हमेंही क्षेत्रज्ञ जानो; क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है; वही ज्ञान हमारा अभिमत है॥ ३॥

व्याख्या। वह जो क्षेत्रके सम्बन्धमें कहा गया है, एक भस्माणुसे लेकर माया पर्य्यन्त सब ही परिणामी

होनेसे इन सबकी नश्वरता प्रतीत होती है; अर्थात् यह सबही असत् है। और वह जो सत्ताके बारेमें कहा गया है, वही इन सब परिणामियोंका आश्रय और स्वयं सत् अपरिणामी होनेसे उसको इन सबका ईश्वर (१८ अः ६१ श्लोक) कहा गया है। वह सत् अपरिणामी ही इन परिणामियोंके जानने योग्य वस्तु है। फिर इन परिणामियों के भीतर बाहर जो कुछ है, परिणामी लोग उसे आपही आप कुछ नहीं जानते; परन्तु वह परमेश्वर इनके प्रत्येक अणु परमाणुओंका वेत्ता है, इसी लिये वह क्षेत्रज्ञ है। यह जो दृश्यमान जगत् दिखाई पड़ता है, इसके प्रत्येक भागको तुम भलीभांति देख कर, पहचान कर समझ लो, देखो इनमें तुम कौन हो। ऐसा करनेसे ही देखोगे कि, इनमें तुम एक भी नहीं हो। क्योंकि जो कुछ आता जाता है, वह चिरस्थायी नहीं है, वह असत् है। जो चिरस्थायी सत् है, हे अर्जुन! वही तुम हो। इसीलिये कहता हूं कि, प्रत्येक शरीरही भिन्न भिन्न क्षेत्र है; क्योंकि स्थूल दृष्टि से उनको अलग अलग देखा जाता है। परन्तु एक महाकाश जिस प्रकार प्रत्येक स्थूल पदार्थके भीतर बाहर वर्त्तमान है, उसी प्रकार मैं "सत्ता" रूपसे इन सब असत् परिणामियोंके भीतर बाहर वर्त्तमान हूं। इसीलिये इन सब क्षेत्रों का जो कुछ ज्ञान, अर्थात् जाननेका जो कुछ पदार्थ है उन्हें मैं जानता हूं, इसलिये मैं क्षेत्रज्ञ हूं। यह जो क्षेत्र

परिणामी और असत्, और यह जो मैं परमेश्वर अपरिणामी और सत् हूं, इन दोनोंका जो ज्ञान है, हमारी सम्मतिमें यह ज्ञानही ज्ञान है ॥ ३ ॥

तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत् समासेन मे शृणु ॥४॥

अन्वयः । तत् क्षेत्रं यत् च (स्वरूपतो जड़दृश्यादिस्वभावः) यादृक् च (यादृशञ्च इच्छादिधर्म्मकं) यद्विकारि) यैरिन्द्रियादिविकारैर्युक्तं) यतश्च (प्रकृतिपुरुषसंयोगाद्भवति) यत् (यै प्रकारैः स्थावरजङ्गमादिभेदैर्भिन्नं), स च क्षेत्रज्ञः यः यत्प्रभावश्च (अचिन्त्यैश्वर्य्ययोगेन यैः प्रभावैः सम्पन्नः) तत् (सर्वं) समासेन (संक्षेपतः) मे (मम वाक्यतः) शृणु ॥ ४ ॥

अनुवाद । वह क्षेत्र कौन है, कैसा है, कितने विकारसे युक्त है, किससे उत्पन्न है, एवं किस प्रकार है, और वह (पुरुष) कौन तथा किस किस प्रभावयुक्त है उसे संक्षेपमें मुझसे सुनो ॥ ४ ॥

व्याख्या । ऊपर वह जो क्षेत्र कहा गया है, वह शरीररूपी क्षेत्र स्वरूपतः जिस प्रकार जड़ दृश्यादि स्वभावसम्पन्न, जिस प्रकार इच्छादि धर्म्मयुक्त, जो जो इन्द्रियादि विकारयुक्त, जैसे प्रकृति पुरुषके संयोगसे उत्पन्न और जिस प्रकार स्थावर जङ्गमादि भेदसे विभिन्न है,—और वह क्षेत्रज्ञ, वह सत्सत्ता, जिनके महिमा कणसे वह असत् क्षेत्र सत्

सजकरके खेल करता है वह भी जो है, तथा जिस प्रकार प्रभाव युक्त है; उसे संक्षेपमें कहता हूं, सुनो ॥ ४ ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ५ ॥

अन्वयः। [तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्याथात्म्यं] ऋषिभिः (वशिष्ठादिभिः) बहुधा (बहुप्रकारं) गीतं (कथितं), छन्दोभिः (छन्दांसि ऋगादीनि तैर्मन्त्रच्छन्दोभिः) विविधैः (नानाप्रकारैः) पृथक् (विवेकतः) गीतं; हेतुमद्भिः (युक्तियुक्तैः) विनिश्चितैः (असन्दिग्धार्थप्रतिपादकैः) ब्रह्मसूत्रपदैः (ब्रह्मणः सूचकानि वाक्यानि ब्रह्मसूत्राणि तैः पद्यते गम्यते ज्ञायते ब्रह्मेति तानि तैः) एव च क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्याथात्म्यं गीतमिति अनुवर्त्तते ॥ ६ ॥

अनुवाद। (उस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका यथार्थ तत्व) ऋषियोंके द्वारा बहु प्रकारसे गीत (कथित) हुआ है, ऋगादि वेद समूहके द्वारा विविध प्रकारसे पृथक् गीत हुआ है, और युक्तियुक्त निश्चितार्थ-प्रतिपादक ब्रह्मसूत्रपद समूहके द्वारा भी गीत हुआ है ॥ ६ ॥

व्याख्या। क्षेत्र क्षेत्रज्ञके सम्बन्धमें वशिष्ठादि ऋषियोंने बहुत प्रकारकी वर्णना की है, ऋगादि वेदमें भी नाना प्रकारसे पृथक् पृथक् रूपसे वर्णना की गई है, और जो सब युक्तियुक्त असन्दिग्धार्थ-प्रतिपादक ब्रह्मसूत्र और ब्रह्मपद ("अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यादि वेदान्त

सूत्र और उपनिषद्वाक्य) हैं, उसमें भी वर्णना की गई है । वह सब वर्णना विस्तर एवं दुःसंग्रह हैं । इसलिये भगवानने अर्जुनको क्षेत्र क्षेत्रज्ञ सम्बन्धमें संक्षेपसे कहना आरम्भ किया ॥ ५ ॥

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ६ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ७ ॥

अन्वयः । महाभूतानि (भूम्यादीनि पञ्च सूक्ष्माणि भूतानि) अहङ्कारः (महाभूतकारणमहंप्रत्ययलक्षणः) बुद्धिः (अहङ्कारकारणं महत्तत्त्वं) अव्यक्तमेव च (मूलप्रकृतिः इन्द्रियाणि दश (श्रोत्रादीनि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि वाक्पाण्यादीनि पञ्च कर्म्मेन्द्रियाणि) एकं च (मनः) इन्द्रियगोचराश्च पञ्च (तन्मात्ररुपा एव शब्दादयः आकाशादिविशेषगुणतया व्यक्ताः सन्तः इन्द्रियविषया पञ्च)–तदेवं चतुर्विंशति तत्त्वान्युक्तानि । इच्छा, द्वेषः सुखं, दुःखं, संघातः (शरीरं), चेतना (ज्ञानात्मिका मनोवृत्तिः), धृतिः (धैर्य्यं)—एते चेच्छादयो दृश्यत्वात् न आत्मधर्म्माः अपि तु मनोधर्म्माः अतः क्षेत्रान्तःपातिनः । एतत् क्षेत्रं सविकारं (इन्द्रियादिविकारसहितं) समासेन (संक्षेपेण) उदाहृतम् (तुभ्यं मया उक्तमिति) ॥ ६ ॥ ७ ॥

अनुवाद। महाभूत समूह, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, दश इन्द्रिय और एक (मन), और पञ्च इन्द्रियविषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात

(शरीर), चेतना और धृति;—यही क्षेत्र है, जिसे संक्षेपसे विकार सहित कहा गया ॥ ६ । ७ ॥

व्याख्या। ब्रह्माश्रया त्रिगुणात्मिका मायासे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल, जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई है, ये पाँचो महाभूत हुए । अर्थात् सब विकारोंमें (दूधमें घीके सदृश) व्याप्त हैं जो अविकृत सूक्ष्म भूत समूह, जिन भूतोंमें पञ्चीकरण नहीं हुआ, जो सब भूत अपनी अपनी अवस्थामें अविकृत हैं, जो इन्द्रियोंसे ग्रहणीय नहीं, उन्हें ही महाभूत कहते हैं। इन भूतोंके एकत्रित सात्विक अंशसे अन्तःकरणकी उत्पत्ति होती है। वृत्तिभेदसे इस एक अन्तःकरणको चार रूपसे समझा जाता है। सङ्कल्प विकल्पके समय मन, निश्चय करनेके समय बुद्धि, अहंप्रत्यय लक्षणमें अर्थात् "मैं", मैं ऐसा हूं, मैं वैसा हूं, इस प्रकारकी वृत्ति लेनेके समय अहङ्कार, और कृत कर्म्मके शोचन (चिन्ता) करनेके समय उसे चित्त कहते हैं। अव्यक्त कहते हैं सत्व रजः तमोगुणात्मिका मायाको; जिसे वाणी द्वारा प्रकाश नहीं किया जा सकता, वही अव्यक्त है। दशों इन्द्रियोंमें पाँच कर्म्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं; और एक मन है, जिसे एकादश इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियगोचर पाँच विषय हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। श्रोत्र के गोचर शब्द, त्वचाके

स्पर्श, चक्षुके रूप, रसनाके स्वाद और घ्राणेन्द्रियके गोचर गन्ध है।

"इच्छा"=प्रति आसक्ति। मेरे बिना और एक का नाम संग; जिस प्रकार मरुभूमिके गर्म्मीसे झुलसा हुआ मनुष्यको बड़के पेड़के नीचे बैठकर चीनीके शर्बतमें निंबूका रस डालकर पीनेके पश्चात् जो तृप्ति होती है; कालान्तरमें ऐसी अवस्था प्राप्त करने पर ऐसे समयमें उसकी जो स्मृति अथवा प्राप्ति की लालसा होती है, उसेही इच्छा कहते हैं। 'द्वेष'=कदापि कोई घोर अंधियारी रात्रिमें कण्टकमय जंगलमें पड़कर बहु यन्त्रणा भोगनेके पश्चात् ईश्वर की कृपासे मुक्त हुए मनुष्यके हृदयमें उस अवस्था को फिर कभी प्राप्त करने का स्मरण होते ही जिस वृत्ति का उदय होता है, उसे ही द्वेष कहते हैं। "सुख"=अनुकूल प्राप्ति। "दुःख"=प्रतिकूल प्राप्ति (सुख का परवर्त्ती मनोधर्म्म का नाम दुःख)। "संघात"=निविड़ संयोग; अर्थात् अणु परमाणुओंके परस्पर मिलनेसे इस प्रकारका एक भावापन्न होता है, जिससे उनमें भिन्नता बोध करानेके लिये किसी प्रकार छिद्र दिखाई न पड़ें; इस प्रकारसे रहनेका नाम "संघात" है। जैसे तुम्हारे शरीरमें असंख्य अणु परमाणु हैं, परन्तु ऐसे छिपे हुए हैं कि, किसी प्रकार भी एकके सिवाय दो की

शंका उठने की भी युक्ति नहीं आती; ऐसे ही एक रसमें रहता है। यह जो भ्रम-प्रतिपाद्य असत्यको सत्यका ज्ञान करा देता है, इसे ही संघात कहते हैं। "चेतना"=जैसे लोहा स्वभावतः काला, कठोर और शीतल होने पर भी अग्निमें पड़कर गहरा सहवासके कारण तरल, उज्ज्वल, और आगके सदृश गरम हो जाता है; और यह सब रंग रूप जैसे लोहेके स्वाभाविक नहीं है; वैसे देहेन्द्रियादि अनित्य अवस्तुमें चित्-संक्रमण होकर चैतन्य सदृश जो क्रिया दिखाता है, उसी को चेतना कहते हैं। "धृति" =धारणावती शक्ति। जो शक्ति अवसादके लिये विच्छिन्न नहीं होने देती उसे ही धृति कहते हैं। यह इच्छादि गुण समूह दृश्यत्व हेतु आत्मधर्म नहीं, परन्तु मनोधर्म हैं; इसलिये ये सब क्षेत्रान्तःपाति हैं।

ये सबके सब विकार हैं, और इन सब विकारोंसे युक्त जो लोक-जगत्में वर्त्तमान है, उसे ही क्षेत्र कहते हैं। यह क्षेत्रके उदाहरणकी वर्णना संक्षिप्तमें की गई है॥६।७॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसाक्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः॥ ८॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥ ९॥

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ १० ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ ११ ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ १२ ॥

अन्वयः । [क्षेत्रज्ञो वक्ष्यमाणविशेषणो यस्य सः प्रभावस्य क्षेत्रज्ञस्य परिज्ञानादमृतत्वं भवति, तं ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामीत्यादिना सविशेषणं स्वयमेव वक्ष्यति भगवान्, अधुना तु तज्ज्ञानसाधनगुणममानित्वादिलक्षणं यस्मिन् सति तत् ज्ञेयविज्ञानयोगोधिकृतो भवति यत्परः संन्यासी ज्ञाननिष्ठ उच्यते, तममानित्वादिगुणं ज्ञानसाधनत्वात् ज्ञानशब्दवाच्यं विदधाति भगवान् । "—शाङ्करः]

अमानित्वं (स्वगुणश्लाघाराहित्यं) अदम्भित्वं (दम्भराहित्यं) अहिंसा (परपीड़ावर्जनं) क्षान्तिः (सहिष्णुत्वं) आर्जवं (अवक्रता) आचार्योपासनं (सद्गुरुसेवनं) शौचं (बाह्यं आभ्यन्तरञ्च) स्थैर्यं (स्थिरभावो मोक्षमार्ग एव) आत्मविनिग्रहः (शरीरसंयमः);—इन्द्रियार्थेषु (विषयेषु) वैराग्यं, अनहङ्कार एव च, जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् (जन्मादिदुःखान्तेषु प्रत्येकं दोषानुदर्शनम् आलोचनम्);—पुत्रदारगृहादिषु असक्तिः (प्रीतित्यागः) अनभिष्वङ्गः (पुत्रादीनां सुखे दुःखे वा अहमेव सुखी दुःखी चेत्यध्यासातिरेकाभावः), इष्टानिष्टोपपत्तिषु (इष्टानिष्टयोः प्राप्तिषु) नित्यञ्च (सर्वदा) समचित्तत्वं ;— मयि (परमेश्वरे) अनन्ययोगेन (सर्वात्म-

दृष्ट्या) अव्यभिचारिणी (एकान्ता) भक्तिः, विविक्तदेशसेवित्वं (विविक्तः शुद्धश्चित्तप्रसादकरः तं देशं सेवितुं शीलं यस्य तस्य भावस्तत्वं) जनसंसदि (प्राकृतानां संस्कारशून्यानां अविनीतानाम् जनानां संसदि सभायाम्) अरतिः (अरमणं रत्यभावः);—अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं (आत्मानमधिकृत्य वर्त्तमानं ज्ञानं तस्मिन् नित्यत्वं नित्यभावः) तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् (तत्त्वज्ञानस्य अर्थः प्रयोजनं मोक्षः तस्य दर्शनं मोक्षस्य सर्वोत्कृष्टत्वालोचनमित्यर्थः)। —एतत् (अमानित्वमदम्भित्वमित्यादि विंशति संख्यकं यदुक्तं तत्) ज्ञानम् इति प्रोक्तं (वशिष्टादिभिः), अतोऽन्यथा (अस्मात् विपरीतं) यत् तत् अज्ञानम् ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

अनुवाद। आत्माश्लाघाराहित्य, अदाम्भिकता,अहिंसा, सहिष्णुता, सरलता, सद्गुरुसेवा, बाह्याभ्यन्तरशुचिता, मोक्षमार्गमें स्थिरभाव, शरीरसंयम; विषयोंके प्रति वैराग्य, अहङ्कारविहीनता, जन्ममृत्युजराव्याधिमें दुःख दोष की आलोचना; पुत्र दारा और घरके प्रति अनासक्ति, पुत्रादिकोंके सुख दुःखमें अपने मनको सुखी दुःखी न करना, इष्ट वा अनिष्टापत्तिमें नित्य समचित्तता; हमारेमें अनन्य योग द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति, निर्जन स्थानमें निवास, जनसभाके प्रति विराग; अध्यात्मज्ञानपरायणता और तत्त्वज्ञानार्थ की (मोक्ष की) आलोचना;—इन विंशति संख्यक को ज्ञान कहा जाता है, इसके विपरीत जो कुछ है वह अज्ञान है ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

व्याख्या। क्षेत्रज्ञ का प्रभाव जाननेसे अमृतत्व लाभ होता है। वह क्षेत्रज्ञ ही ज्ञेय पदार्थ है। ज्ञेय सम्बन्धमें भगवान् "ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि" इत्यादि वाक्यसे पश्चात्

कहेंगे। ज्ञेय पदार्थको जानना हो तो तत्ज्ञानसाधन अमानित्व इत्यादि गुण प्रयोजनीय हैं। उसी अमानित्वादि गुणोंको ही भगवान्ने ज्ञानसाधनत्व हेतु ज्ञान कहकर निर्देश किया है। वे सब ये हैं —

"अमानित्व"।—सम्भ्रमको मान कहते हैं। सं सम्यक् भ्रम जो कुछ है, वही सम्भ्रम वा मान है। आप जो नहीं है अपने को वही मान लेने का नाम मान है। उस सम्यक् भ्रम वा मान लेनेमें जब "अ" पहिले लग जाता है, तब यह मान लेने का वा सम्यक् भ्रम का अर्थ दूर हो जाता है; और उसका अर्थ दूसरा हो जाता है। तदनुसार अवस्थामें सर्वदा रहनेका नाम अमानित्व है। "अदम्भित्व"।—दम्भ कपटता को कहते हैं अर्थात् हम जो नहीं हैं, उसका भान (बड़ाई) दिखाकर लोगों को ठग लेनेका नाम दम्भ है। सर्वदा उस प्रकार चेष्टाशून्य अवस्थामें रहने का नाम 'अदम्भित्व' है। "अहिंसा"—अन्तःकरणमें अनिष्टकर वृत्तिके उदय न होनेका नाम "अहिंसा" है। "क्षान्ति"।—प्रतिविधान करनेवाली शक्ति रहते हुए भी कृतापराधके ऊपर जो क्षमा की जाती है, उसे ही क्षान्ति कहते हैं। "आर्ज्जव"—सरलता को कहते हैं। उपदेष्टा की शुश्रुषामें रत रहने का नाम "आचार्य्योपासना" है। "शौच"—मनके मैल को त्याग करके

शुद्ध करने को कहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांचों विषय और अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पांचों क्लेशों को मन का मैल कहते हैं। जलसे शरीर के ऊपर का मैल धोने का नाम भी शौच है, एवं शुची होने को भी शौच कहते हैं। और मनके स्थिर अवस्था में किसी वृत्ति का उदय न होकर जो निर्विकार स्थिति भोग होती है, उसे भी शौच कहते हैं। उद्वेग के कार्य्यकालमें भी अचञ्चल रहने का नाम "स्थैर्य्य" है। क्रिया विशेषके द्वारा देहात्माभिमान नष्ट करने की चेष्टा का नाम "आत्मविनिग्रह" है।

"इन्द्रियार्थोंमें वैराग्य"—अर्थात् दश इन्द्रियोंका जो ग्रहण और भोग है, उसमें विराग उत्पन्न करना। "अनहङ्कार"—सृष्टिमुखी अहङ्कार वृत्ति का विलोप-साधन।

"जन्ममृत्युजराव्याधिमें दुःख दोषका अनुदर्शन"।—जन्म लेना ही दुःख है, क्योंकि गर्भयन्त्रणा और प्रसव-कालीन यन्त्रणा बड़ी ही कष्टकर हैं; इसलिये वह दूषित हैं। उसी प्रकार मृत्यु-यन्त्रणा भी दुःखदायक और दूषित है। बुढ़ापेमें प्रज्ञाशक्ति और तेज बिल्कुल घट जाता है; इस-लिये इसमें भी दुःख और दोष वर्त्तमान है। इसी प्रकार व्याधि भी दुःख और दोषका स्वरूप है। जीवको ये सब

दुःख भोगना अनिवार्य्य है। इन सब दुःख और दोषके सम्बन्धमें बार बार आलोचना करनेसे देहेन्द्रियविषयमें वैराग्य उत्पन्न होता है, प्रत्यगात्माके प्रति प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, और परिशेषमें आत्मदर्शन होता है, इसलिये अन्तःकरणमें जब जिस वृत्तिका उदय होगा उसीको पुनर्जन्मका बीज ज्ञान करके और उसीके साथ जन्म-दुःख, मृत्यु-दुःख, जरा-दुःख, व्याधि-दुःखसे आलोचना करके उस वृत्तिको नष्ट कर देना भी ज्ञानसाधन कह करके ज्ञान शब्द वाच्य है।

"असक्ति" इत्यादि।—संसारमें उत्कृष्ट भोग और मोह की वस्तुएं पुत्र, स्त्री और घर द्वार हैं। इनमें आसक्त न होना और इनसे मिलने की इच्छा सम्पूर्ण त्याग कर देना। इष्ट अथवा अनिष्ट उपस्थित होने पर भी ग्रहण करनेके लिये चित्त विचलित न होना, सदा ऐसी सतर्क अवस्थामें रहना है।

११ श्लोक—मैं जो "केवल राम" हूं, इस मैं में अव्यभिचारिणी भक्तिका अखण्ड प्रयोग (व्यभिचार, विषयमुखी वृत्तिको कहते हैं)। शून्यागार, नदी तीर, पर्व्वत, निर्ज्जनस्थान, श्मशान अथवा इनका निकट-वर्त्ती स्थान, रणस्थल, देवालय इत्यादि यह सब साधन के स्थान हैं। स्वभावतः यह सब स्थान पवित्र होने पर

भी गोमय आदिसे परिष्कार करके व्यवहार करना चाहिये। ये तो बाहर की बात हुई। और भीतर की वही सुषुम्ना-संलग्न ब्रह्मनाड़ीमें मूलाधारादि स्थान समूह को गुरूपदिष्ट प्रकारसे व्यवहार करना। जिनका संस्कार न हुआ हो ऐसे प्रकृतिके लोगोंके साथ सब व्यवहार तोड़ देना, अर्थात् उन लोगोंसे कुछ सम्पर्क न रखना।

ब्रह्मादि स्थावरान्त जगत्के प्रत्येक अणु परमाणुओं में अहमत्व प्रतिपादन करना अर्थात् सबही ब्रह्म है, इसेही दृढ़ताके साथ अपने अन्तःकरणमें बोध कर लेनेका नाम "अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं" है। तत्त्व विश्वरूप है; इस तत्त्वके ज्ञानका अर्थ ब्रह्म है, जो अवधि रहित महान् है। इन दोनोंको मिलाकर एक करके संसार-भावमें उपेक्षा करनाही "तत्त्वज्ञानार्थ-दर्शन" है। इन्हीं सबको ज्ञान कहते हैं; और इनके विपरीत जो कुछ है, उसीको अज्ञान कहते हैं। ("तत्त्वज्ञोऽसि यदा पार्थ तुष्णीम्भव तदा सखे। यत्दृष्टं विश्वरूपं मे मायामात्रं तदेव हि॥ तेन भ्रान्तोऽसि कौन्तेय स्वस्वरूपं विचिन्तय। मुह्यन्ति मायया मूढ़ास्तत्त्वज्ञा मोह-वर्जिताः॥") ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते ॥१३॥

अन्वयः । यत् ज्ञेयं तत् प्रवक्ष्यामि, यत् ज्ञात्वा अमृतं अश्नुते (मोक्षं प्राप्नोति, न पुनर्म्रियते); तत् अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् न असत् उच्यते (विधिमुखेन प्रमाणस्य विषयः सच्छब्देनोच्यते, निषेधविषयस्तु असच्छब्देनोच्यते, इदन्तु तदुभयविलक्षणं अविषयत्वादित्यर्थः) ॥ १३ ॥

अनुवाद । जो ज्ञेय है, उसे कहता हूं । जिसके जाननेसे अमृतत्व लाभ होता है; वह अनादिमत् परंब्रह्म, सत् भी नहीं कहा जाता है और असत् भी नहीं कहा जाता ॥ १३ ॥

व्याख्या । साधकने विचारके द्वारा क्षेत्र और ज्ञान क्या है, उसे समझ लिया है । अब ज्ञानका शेष सिद्धान्त अर्थात् जाननेकी वस्तु जो ज्ञेय पदार्थ है, उसे समझते हैं । ज्ञेय शब्दका अर्थ जानने योग्य वस्तु है । इस जगत् में जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह सब ही सादि सान्त अर्थात् उत्पत्ति-स्थिति-नाश-धर्म्मी है । इस उत्पत्ति-स्थिति-नाशधर्म्मिओंके जानने योग्य वस्तु वह है, जिसकी उत्पत्ति-स्थिति-नाश नहीं है । क्योंकि जैसे जो हैं, वह अपने आपको भलीभांति जानते हैं । जो जिसको नहीं जानता है, वही उसकी जानने योग्य वस्तु है । इसलिये कहता हूं कि, सादि-सान्त-मरधर्मिओंके जानने योग्य वस्तु

वही है जो अनादि, अजर, अमर और अनन्त है। जिस के जाननेसे, इस जन्मके कष्ट, मरणका भय दोनों दूर हो जाते हैं। कारण चित्त की विषयकारा वृत्तियां समेट लेकर, चिन्तन-स्रोत उस असीम-अनन्त-परंब्रह्ममें फेंकनेसे उससे गाढ़ सहवासके लिये जीवमें असीम, अनादि, अनन्तत्व उत्पन्न होवेगा;—जैसे अग्निके सहवाससे लौह-पिण्ड। ऐसा होनेसे ही जीव, जन्म-मृत्युसे मुक्त होकर ब्रह्मत्व प्राप्तिके लिये अमरत्व प्राप्त करेगा। जो ब्रह्म अकेला है, सत् भी नहीं और असत् भी नहीं (क्योंकि सत् अथवा असत् एक भी मान लेनेसे द्वैतभाव बना रह जाता है। द्वैताद्वैत विवर्जित जो है, वही ब्रह्म है) ॥ ३ ॥

सर्वतः पाणिपादन्तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १४ ॥

अन्वयः। तत् सर्वतः पाणिपादं, सर्वतः अक्षिशिरोमुखं, सर्वतः श्रुतिमत् (श्रवणेन्द्रियैर्युक्तं), लोके सर्वं आवृत्य (संव्याप्य) तिष्ठति ॥ १४ ॥

अनुवाद। वह सर्वत्र पाणि तथा पाद विशिष्ट, सर्वत्र चक्षु, मस्तक तथा मुख विशिष्ट, सर्वत्र श्रवणेन्द्रिय विशिष्ट और संसारके समस्त पदार्थों में व्याप्त है ॥ १४ ॥

व्याख्या। आकाशमें बादल छाये हुए रहनेसे तथा

हवाके भी बन्द हो जानेसे एक प्रकार की उमससी हो जाती है; परन्तु ऐसी अवस्थामें आकाश को वायु-शून्य कहना उपयुक्त न होगा। क्योंकि उस समय भी वायु आकाशमें अति सूक्ष्म रूपसे वर्त्तमान रहता है। जीव-शरीरकी त्वचाकी ग्रहणशक्ति अत्यन्त स्थूल होनेके कारण वह अत्यन्त सूक्ष्म वायुका स्पर्श नहीं ले सकती। स्थूलको सूक्ष्म भेद करता है, सूक्ष्मको स्थूल भेद नहीं कर सकता, यही इसका कारण है। उसी तरह असीम अनन्त ब्रह्ममें पाणि, पाद, चक्षु, श्रुति, बोधन शक्तिका आधार मस्तक, और मुख आदि जगत् की जो कुछ क्रिया शक्ति हैं वे सब सूक्ष्मरूप धारण करके खारी जलमें निमक सदृश, आकाशको भी गर्भमें रक्खे हुए हैं। "तत्" में इन सब क्रिया शक्तिका कहीं कुछ नहीं घटता बढ़ता। सब जगह एकरस समान है।

२य अर्थ। साधक जब विश्वलीलाको अच्छी तरह समझ लिये, तब साधक देखते हैं कि, इसमें सत्त्वगुणका प्रकाश, रजोगुणकी क्रिया और तमोगुणकी स्थिति, इन तीनों बिना और कोई सार नहीं है। इन तीनोंके मिलकर एक होनेसेही माया होती है। वह माया भी असार है। फिर उस असार मायाका विकार यही तीन हैं; इसलिये उत्पादीभंगुर है फिर तीनों ताप भी इसमें

हैं। भूतके साथ खेल खेलनेसे जो ताप है, उसे आधिभौतिक ताप कहते हैं, देवताके साथ खेल खेलनेसे जो ताप होता है, उसे आधिदैविक ताप कहते हैं; और आत्माको लेकरके खेलनेसे जो ताप होता है, उसको आध्यात्मिक ताप कहते हैं। यह तीनों भी विकार हैं। यह जब निश्चय हो जाता है, तब इससे अलग होनेके लिये साधक अकरण करण रूप एक प्रकारकी क्रिया लेके बैठे (अर्थात् जिसमें करण मात्र भी शून्य हो जाता है)। इस क्रिया का अभ्यास जितना गाढ़ होने लगता है उतना ही साधक देखते हैं कि, प्रतिक्रममें साधक सबसे अलग हैं। जब कोई कहीं भी साधक को स्पर्श कर न सके, तब साधकमें संकोचता नष्ट होकर उदारता खिल उठती है। यह उदारता, पहले वाली जो संकोचता थी, उसकी संकोचताको नष्ट करके अपनी उदार भावमें मिला लेती हैं। तब उदारता और संकोचता दोनोंकाही अभाव हो जाता है। इन दोनों की यह जो एकीभूत अवस्थामें स्थिति है, यही स्थिति अवस्था ही साधकका तद्ब्रह्म स्वरूप है। अपरिपक्व साधक इस अवस्थासे पुनः संसार-अवस्थामें उतर आकर समझते हैं कि, साधक की उस पहले वाली अवस्था को ही "तत्" (ब्रह्म) कहते हैं। जो "तत्" सर्वत्र पाणिपादविशिष्ट, सर्वत्र अक्षिशिरोमुखविशिष्ट,

सर्वत्र श्रुतिमत् और लोक-जगत्में सर्वव्यापी हो करके अवस्थित है ॥ १४ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १५ ॥

अन्वयः । सर्वेन्द्रियगुणाभासं (अन्तःकरणबहिःकरणोपाधिभूतैः सर्वेन्द्रियगुणैः अध्यवसाय-संकल्प-श्रवण-वचनादिभिरवभासत इति सर्वेन्द्रियव्यापारैर्व्यापृतं) सर्वेन्द्रियविवर्जितं (सर्वकरणरहितं अतो न करणव्यापारैर्व्यापृतं) असक्तं (संगशून्यं) सर्वभृत् च एव (सर्वस्याधारभूतं) निर्गुणं (सत्त्वादिगुणरहितं) गुणभोक्तृ च (गुणानां सत्त्वादिनां पालकं) ॥ १५ ॥

अनुवाद (वही ब्रह्म) सर्वेन्द्रिय व्यापार द्वारा व्यापृत परन्तु सर्वेन्द्रिय रहित (अतएव इन्दिय-व्यापारमें व्यापृत नहीं) है, संगशून्य तिसपर भी सबके आधार स्वरूप, सत्वादि गुण रहित अथच सत्वादि गुणके पालक है ॥ १५ ॥

व्याख्या । अत्यन्त क्षुद्र और सीमाबद्ध शरीरमें ही इन्द्रियादि रहती हैं; परन्तु इन इन्द्रियों की कार्य्यकरी शक्ति और उस शक्तिका सत्ता जैसे पृथिवीका गन्ध, जलका रस, तेजका रूप, वायुका स्पर्श और आकाशका शब्दके सदृश सर्वव्यापी तथा सर्वत्र विस्तृत है । पूर्व श्लोक की कही हुई साधक की अवस्था विस्तार रूपमें रहनेसे, सीमाबद्ध इन्द्रियादिका कोई चिन्ह नहीं रहता;

इसलिये सर्वेन्द्रिय-विवर्जित, अथच इन्द्रियादिके गुण, शक्ति और सत्ताका आभास नाम लेकरके, सबका आधार और पोषक कारण हो करके विस्तारमें मिलकर रह गये। इस अवस्थामें किसी गुण की क्रिया नहीं है (क्योंकि, यह गुणातीत अवस्था है); अतएव सर्व संस्रव वर्जित है। किसी स्थानमें गुणों की क्रिया होनेसे, गुण क्रिया इस विस्तारके भीतर ही होती है इसलिये लोक-जगत्में बातकी बातमें गुणोंके पालक होगये हैं ॥ १५ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१६॥

अन्वयः। (तत्) भूतानां बहिः अन्तश्च, अचरं (स्थावरं) चरं एव च (जंगमं); सूक्ष्मत्वात् (रूपादिहीनत्वात्) तत् अविज्ञेयं; तत् दूरस्थं च (अविदुषां योजनलक्षान्तरितमिव दूरस्थं सविकारायाः प्रकृतेः परत्वात्) अन्तिके च (विदुषां पुनः प्रत्यगात्मत्वात् नित्य-सन्निहितं) ॥ १६ ॥

अनुवाद। भूत समूहके बाहर भी वही, भीतर भी वही, स्थावर भी वही, जंगम भी वही; सूक्ष्मत्व के लिये तत् अविज्ञेय है; तत् दूरस्थ भी है, तत् निकट में भी है ॥ १६ ॥

व्याख्या। अत्यन्त सूक्ष्मताके लिये भूत मात्रके भीतर बाहरमें यह तद् ब्रह्म एक रससे समान स्थित

है । इसलिये चर और अचरके भीतर बाहरमें वह तत् रहे हुए हैं । जो लोग सूक्ष्मदर्शी हैं, वे इस तत्के सूक्ष्मत्वमें सर्वदा लीन रहनेसे यह "तत्" उनके निकट है; परन्तु, स्थूलदर्शी लोग इस वचनका अर्थ कुछ भी समझ नहीं सकते, इसलिये वह उन लोगसे दूर भी है ॥ १६ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१७॥

अन्वयः । भूतेषु (स्थावरजंगमात्मकेषु) अविभक्तं (कारणात्मना अभिन्नं) विभक्तमिव च (कार्य्यात्मना भिन्नमिव) स्थितं च; तत् ज्ञेयं भूतभर्तृ च (स्थितिकाले भूतानां पोषकं) ग्रसिष्णु (प्रलयकाले च ग्रसनशीलं) प्रभविष्णु च (सृष्टिकाले च नानाकार्य्यात्मना प्रभवनशीलं) ॥ १७ ॥

अनुवाद । अविभक्त और विभक्त रूपसे भी भूत समूहमें अवस्थित है; वही ज्ञेय पदार्थ (स्थितिकालमें) भूत समूहके पोषक, (प्रलयकालमें) ग्रास करनेवाला, और (सृष्टिकालमें नाना कार्य्यरूपसे) उत्पत्तिशील है ॥ १७ ॥

व्याख्या । आकाशमें धूँआ उड़नेसे आकाश व्यापी धूँआ दिखाई देता है सही, परन्तु धूँएमें और आकाशमें जैसे संगति (मिलावट) नहीं होता, तैसे भूतोंके साथ और वह ऊपर वाले विस्तार अवस्थाके साथ अज्ञानियोंके दृष्टि-

में एकत्र भाव प्रत्यक्ष होनेसे भी यथार्थतः ज्ञानीके चक्षुमें वह एकत्र भाव मिल नहीं जाता, सर्वदा अलग ही रहता है। जैसे एक मायाके तीन गुण, रजोगुणकी क्रिया कालमें ब्रह्मा बनकर उत्पत्ति, सत्वगुणके क्रिया कालमें विष्णु बन कर पालन और तमोगुणके क्रिया-कालमें हररूपसे संहार दिखला देनेसे भी तीन गुणके विश्राम कालमें इन सबका कुछ भी नहीं रहता, केवल (झूठ) एक दम बातकी बातमें गुथा हुआ (जैसे सिपी में चाँदी, डोरीमें सर्प, मृगतृष्णामें जलज्ञान भ्रमही भ्रम) है, उसी प्रकार जानो ॥ १७ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१८॥

अन्वयः। तत् ज्योतिषां अपि ज्योतिः (सूर्य्यादीनामपि प्रकाशकं), अतएव तमसः (अज्ञानात्) परं (तेनासंस्पृष्टं) उच्यते; (तदेव) ज्ञानं ज्ञेयं (बुद्धिवृत्तौ रूपाद्याकारेण अभिव्यक्तं), ज्ञानगम्यं (अमानित्वादि लक्षणेन पूर्वोक्तज्ञानसाधनेन प्राप्यं), सर्वस्य (प्राणिमात्रस्य) हृदि विष्ठितं (विशेषेण अप्रच्युतस्वरूपेण नियन्तृतया स्थितं) ॥ १८ ॥

अनुवाद। वह सूर्य्यादि ज्योतिः समूहके भी ज्योतिः (प्रकाशक), और तमः से पर (अज्ञानतासे असंस्पृष्ट) कह करके उक्त है; (वही तत्) ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञानगम्य तथा सर्व प्राणियोंके हृदयमें नियन्तृ रूपसे अवस्थित है ॥ १८ ॥

व्याख्या । ज्योतिष कहते हैं चन्द्र-सूर्य्य-अग्निको, जिन सबके ज्योतिसे चर्म चक्षुके दृक् शक्तिका आंधियारा मिटाकर अच्छी तरह दिखाई देता है । और एक ज्योतिष है ज्योतिष-विद्या, जिसमें अंक पात से जिस किसीका सिद्धान्त फल जाना जाता है । और एक ज्योतिष निजबोधको कहते हैं [जैसे बालपनमें कितनोंके साथ खेल किये थे, अब बुढ़ापा आया, वह देश नहीं, वह काल नहीं, वह पात्र भी नहीं, तथापि स्मृतिमें वह सब जैसे (अभी कर आया हूं, ऐसा प्रत्यक्ष देखता हूं; तैसे] जिससे भूत भविष्यत्को वर्त्तमान सदृश प्रत्यक्ष करा देता है । यह कई प्रकारके ज्योतिष ही उस पूर्वोक्त "तत्"के आधेय हैं । इसलिये "तत्" ज्योतिष्मानोंकी भी ज्योति है । यह "तत्" अज्ञानान्धताके परपारमें चिर-स्थित है । ज्ञानकी चरम अवस्थाके बादही यह "तत्" है; जाननेकी वस्तु भी यही "तत्" है। ज्ञानसे इस "तत्" में पड़ करके ही चिरशान्ति लेनी होती है । सर्व शब्द के अर्थमें जो समझा जाता है उसीके हृदयमें अर्थात् उस के भीतरमें, और असीमताके लिये उन सभोंके बाहरमें भी परिपूर्ण रहे हैं । सर्व "तत्" के गर्भमें इस प्रकार स्थित है जैसे आकाशके गर्भमें पृथिवी ॥ १८ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १९ ॥

अन्वयः। इति (एवं) क्षेत्रं (महाभूतादिधृत्यन्तं) तथा ज्ञानं (अमानित्वादि तत्त्वज्ञानार्थदर्शनपर्य्यन्तं) ज्ञेयं च (अनादिमत्परं ब्रह्मेत्यादि विष्ठितमित्यन्तं) समासतः (संक्षेपेण) उक्तं (मया इति शेषः), मद्भक्तः एतत् विज्ञाय मद्भावाय (ब्रह्मत्वाय) उपपद्यते (योग्यो भवति ॥ १९ ॥

अनुवाद। इस प्रकारसे क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय संक्षेपसे कहा गया है; मेरे भक्त यह सब जान कर मद्भाव प्राप्तिके योग्य होते हैं ॥ १९ ॥

व्याख्या। "महाभूत" के आदि से लेकर "धृति" पर्यन्त क्षेत्र, 'अमानित्व' से प्रारम्भ करके 'तत्त्वज्ञानार्थ-दर्शनं' पर्य्यन्त ज्ञान, अनादिमत्से शुरु करके 'हृदि सर्वस्य विष्ठितं' पर्यन्त ज्ञेय सम्बन्धमें संक्षेपसे तुमको मैं कह चुका। "मैं" के जो भक्त (अर्थात् जो भव संसार का दगा खाकर 'मैं' में मिलकर मुक्ति लेना चाहेगा) वह इन तीनों विषयोंकी आलोचना करते करते 'तत्' के स्वरूप अवगत होनेसे ही "मैं" के भावमें मतवाला होकर "मैं" (मुझ) को पावेगा ॥ १९ ॥

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥२०॥

अन्वयः । तत्र सप्तमे ईश्वरस्य द्वे प्रकृती उपन्यस्ते परापरे क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-लक्षणे, "एतद्योनीनि भूतानि" इति चोक्तं, क्षेत्रक्षेत्रज्ञप्रकृतिद्वय-योनित्वं कथंभूतानां इत्ययमर्थोऽधुनोच्यते ।

प्रकृतिं पुरुषं चैव (ईश्वरस्य प्रकृती, तौ प्रकृतिपुरुषौ) उभौ अपि अनादी (न विद्यते आदिर्ययोः तौ अनादी) विद्धि (नित्यत्वादीश्वरस्य तत्प्रकृत्योरपि युक्तं नित्यत्वेन भवितुं)। विकारांश्च (देहेन्द्रियादीन्) गुणांश्च (गुणपरिणामान् सुख दुःखमोहादीन्) प्रकृतिसम्भवान् (प्रकृतेः सम्भूतान्) विद्धि (जानीहि) ॥ २० ॥

अनुवाद । प्रकृति और पुरुष दोनों को ही अनादि जानना, सब विकार और सब गुणको प्रकृतिसे ही सम्भूत जानना ॥ २० ॥

व्याख्या । [सप्तम अध्यायमें ईश्वर का क्षेत्रक्षेत्रज्ञ लक्षण अपरा एवं परा नामसे दोनों प्रकृति की कथा कही गई है; वहां कहा हुआ है कि, सब भूत इन दो प्रकार की प्रकृतियोंसे जात (उत्पन्न) हैं। सब भूत किस प्रकारसे इस क्षेत्रक्षेत्रज्ञ लक्षण दोनों प्रकृतिसे उत्पन्न है, इसे ही समझानेके लिये भगवान अब प्रकृति पुरुषके लक्षणादि वर्णन करते हैं।]

अब साधक प्रकृति-पुरुष का विचार करते हैं। प्रकृति — प्र = प्रकृष्ट पूर्वक, कृति — करते हैं जो। अब निश्चय हुआ कि, यथार्थमें जो कार्य करता है उसी को प्रकृति कहते हैं। पुरुष कहते हैं — पुरमें (घरके अन्दर) जो सोया हुआ है। यह दोनों ही अनादि है (आज तक

जो पैदा ही नहीं हुआ); न आदि=अनादि। ब्रह्म शब्द का अर्थ करनेसे, बृह्-धातुमें बृद्धि, महान्; और मन् प्रत्ययके अर्थमें अवधि-रहित समझाता है। जो अवधि रहित महान् है वही ब्रह्म शब्द वाच्य है। इस अवधि रहित महान्का शासन जितनी दूर है, उतनी दूर तक और दूसरे किसीका स्थान नहीं हो सकता; केवल ब्रह्म ही ब्रह्म भासमान रहता है। दृश्य जगत्में जो कुछ देखता हूं, उसी का एक न एक नाम है, रूप भी है। फिर ऐसे शब्द भी हैं; ढूंढ़ने से कोई चीज नहीं मिल सकती; तथापि उसका नाम है—(एष बन्ध्यासुतः याति खपुष्पकृतशेखरः। कूर्मलोमपटाच्छन्नः शशशृंगधनुर्धरः) —जैसे "आकाशकुसुम" "घोड़े का अंडा" "सेर का सिंग" "वन्ध्या का बेटा" इत्यादि। ब्रह्म शब्दके शासनके भीतर रह करके माया, प्रकृति और पुरुष को भी समझना हो तो वह वस्तुशून्य शब्दमात्र विकल्पना वा अलीक (मिथ्या) समझना चाहिये। उन काल्पनिक शब्दोंके वस्तुत्व न रहनेसे भी जैसे उन सबके पोषण करने वाली सहकारी वृत्तियों का अभाव नहीं होता, यह माया, प्रकृति और पुरुष शब्दोंके अर्थमें भी वैसी ही है। जिस कारणसे जीवके दुःख की अत्यन्त निवृत्तिके लिये महर्षियोंने विवर्त्तवादमें (वेदान्त दर्शनमें) जो वचन विलास

कर रखे है, उनमें ब्रह्म ही सत्य और तदतिरिक्त माया, प्रकृति, पुरुष प्रभृति समस्त ही मिथ्या है। "सत्य" नाम कहके एक शब्द बाहर होनेसे ही उसके साथ ही साथ (न रहनेसे भी) आप ही आप जैसे प्रतिपक्ष और एक "मिथ्या" शब्द का बोधन आता है, सत्य ब्रह्ममें यह मिथ्या माया-प्रकृति-पुरुष शब्द भी वैसे ही है। ब्रह्म सत्य, नित्य, निर्विकार; और माया अनित्य, असत्य, केवल विकारस्वरूप है। ब्रह्म और मायाका सम्बन्ध शरीर और छायाके सदृश है, एक को छोड़ कर दूसरा नहीं रहता। यह माया जड़, अवस्तु है; और ब्रह्म चैतन्य-स्वरूप वस्तु है। गाढ़ सहवास करके जब इस अवस्तुमें वस्तुत्व बोधनरूप भ्रमज्ञान आ पड़ता है (जैसे आदर्श= आयने में शरीर छाया), तबही माया ब्रह्म-साज सज बैठती है, अर्थात् अपने को नित्य-सत्य-निर्विकार रूपसे समझा देती है। यह जो माया की विपरीत सज्जा है, यही प्रकृति है। यह प्रकृति जब बढ़ जाती है, तबही अपने पेटके भीतर ब्रह्म को भर लेती है, जैसे गोष्पदके जलमें आकाश, अथवा महाकाशमें प्राचीर देकरके छत् छाह करके घर बनाया जाता है। प्राचीर छत् और घरके नीचे वाली जमीन मिलकर हुआ पुर, और उस पुरके गर्भके भीतर वाला शून्य पुरुष हुआ। समुद्र का खारी जल

जैसे तेज, वायु और महान् आकाशके संग गुणसे अपना लवणत्व त्याग करके निर्मल, तृप्तिकर लोक-जगत्के जीवन रूपसे पृथिवीमें उतरता है, उसी प्रकार अतिक्षुद्र नीच प्रकृतिके सहवास दोषसे पुरुष भी जीव नाम लेके आत्महारा होकर प्रकृति सज बैठते हैं; इसलिये इनको पराप्रकृति कहते हैं। क्योंकि, यह निष्क्रिय हो करके भी संग दोषके लिये भोक्तृत्व अभिमान लेने का अपवाद (न लेकरके भी) ले लेते हैं। "संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति"। इस कारणसे प्रकृति पुरुष दोनों ही अनादि हैं। और प्रकृतिमें ही समस्त विकार तथा गुणों की कल्पना समझ लो॥ २०॥

कार्यकारणकर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २१॥

अन्वयः। कार्यकारणकर्त्तृत्वे (कार्यं शरीरं कारणानि सुखदुःखसाधनानीन्द्रियाणि तेषां कर्त्तृत्वे तदाकारपरिणामे) प्रकृतिः हेतुः उच्यते; पुरुषः (जीवः क्षेत्रज्ञः) सुखदुःखानां (भोग्यानां) भोक्तृत्वे (उपलब्धृत्वे) हेतुः उच्यते।

[पुरुषसन्निधानात् अचेतनायाः प्रकृतेः कर्त्तृत्वमुच्यते, भोक्तृत्वं च सुखदुःखसंवेदनं तच्च चेतनधर्म एवेति प्रकृतिसन्निधानात् अविकारिणो पुरुषस्य भोक्तृत्वमुच्यते]॥ २१॥

अनुवाद। कार्य और कारणके कर्त्तृत्व सम्बन्धमें प्रकृति हेतु कह

करके उक्त होते हैं, और सुख दुःख समूहके भोक्तृत्व सम्बन्धमें पुरुष हेतु कह करके उक्त होते हैं ॥ २१ ॥

व्याख्या। यह जो मूल प्रकृति कही हुई है, वही विकृत होकरके सातों मूर्त्तिमें खड़ी होगई, अर्थात् पञ्च तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), बुद्धि और अहंकार। इन सातों को प्रकृति-विकृति कहते हैं। यह सब कारण हुए। फिर और सोलह रूपमें परिणत हो करके विकार नामलिये,—यथा पञ्च महाभूत (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश), पञ्च ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु, कर्ण, जिह्वा, नासिका, त्वचा), पञ्च कर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पाद, पायु उपस्थ), यह पन्द्रह और एक मन है। इन सबके समष्टि से जो स्थूल शरीर बना उसीको कार्य कहते हैं। इसलिये प्रकृतिको कार्य और कारण की उत्पत्तिका हेतु कहा हुआ है। और पुरुष ? उनका कोई कारण नहीं है। असीमताके लिये उपायान्तरहीन होकरके प्रकृति-कृत सीमागर्भमें प्रकृतिगुणजात सुख दुःख भोग करते रह गये। यह भोग इस प्रकारके;—पाँच कोण वाले घरके गर्भमें पाँच कोणका आकाश, सात कोणमें सात कोणा, गोलाकार घरके भीतर गोलाकार आकाश, ऐसे सुगन्धमें सुगन्धित, दुर्गन्धमें दुर्गन्धित, धूंआसे धूममय; अर्थात् आकाशमें अपनेसे कोई भोग की बोधन प्रकाश

ने होनेसे भी उस आकाशके भीतर निवास करने वाले लोग जिस जिस सुख दुःखका बोध करने लगे, वेही सुख दुःखके प्रलेप उस निर्लिप्त आकाश बेचारेमें लगा देने लगे यथा,—वह घरका गर्भस्थ आकाश दुर्गन्धमय, सुगन्धमय, धुंधला, अन्धकारावृत इत्यादि। परन्तु आकाश बेचारेमें कोई भी दोष नहीं है। साधक! यही पुरुषके भोक्तृत्व है। हरि! हरि!! अपूर्व लीलामयी प्रकृति की अपूर्व अध्यारोपापवाद ऐसा है जैसे सरग वेलकी जड़ २१॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भूङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२२॥

अन्वयः। हि (यस्मात्) पुरुषः प्रकृतिस्थः (अविद्यालक्षणायां कार्यकारणरूपेण परिणतायां प्रकृतौ तादात्म्येन स्थितः) [तस्मात्] प्रकृतिजान् गुणान् (सुखदुःखादीन्) भूङ्क्ते; अस्य (पुरुषस्य) सदसद्योनिजन्मसु (सदसद्योनिषु सतीषु देवादियोनिषु असतीषु तिर्यगादियोनिषु यानि जन्मानि तेषु) गुणसंगः (गुणैः शुभाशुभकर्मकारिभिरिन्द्रियैः संगः) कारणं (हेतुः)॥ २२॥

अनुवाद। प्रकृतिस्थ होनेही के कारण पुरुष प्रकृति-जात गुण समूहका भोग करते हैं, पुरुषको सदसद् योनिमें जो सब जन्म हैं उस विषयमें गुणसंग ही कारण है॥ २२॥

व्याख्या। असीमके भीतर ससीमका कार्य-कारण रूप परिणति में (बदलाईमें) जैसे अरूप आकाश

में गभीरता हेतु दृक्शक्तिकी दुर्बलताके कारण अति दूरमें जो नीलिमा रूपकी भ्रम कल्पना आती है, वह जैसे कभी भी सच्चा नहीं है; तैसे ही छिद्रशून्य (ठोस) असीम ब्रह्म वस्तुमें, अवस्तु स्वरूप ससीम प्रकृतिकी उपस्थिति मिथ्या ही मिथ्या भ्रममात्र है; इसमें कुछ भी सच्चा नहीं है। और वह भ्रम बोधनका जो प्रलाप है, वह प्रलाप ही "पुरुष" और पुरुषके "प्रकृतिस्थ" होना है। उस प्रकार प्रलापसे उत्पन्न सुख दुःख मोहाकारा वृत्तिमें "मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मैं मूढ़ हूं, मैं पण्डित हूं" इस प्रकार भावना (चिन्ता) करना घोर विकारग्रस्त रोगियोंकी प्रलाप सदृश ब्रह्मको काटकर छिन्न भिन्न करके पुरुष बनाकर भोक्ता साज सजाय लेना। यही है तुम्हारा निर्गुणको गुणके साथ मिला करके गुणका भोक्ता कह करके अपवादमें फंसा लेना। जैसे शिशिर कालके सबेरे (प्रभात) में जौके पौधे के ऊपर शिशिर-बिन्दुमें सूर्यकिरण पड़के नाना रंगके रूप दिखा देता है अर्थात् सूर्य्य-गतिके साथ ही साथ शिशिर बिन्दुमें जैसे अनेक प्रकारका रंग देखा जाता है, परन्तु शिशिरबिन्दुमें जैसे कोई अदल बदल नहीं होता; उसी तरह तुम्हारी अलीक प्रकृतिके गुणमें निर्गुण पुरुषको गुणके साथ संघठन कराना है। जैसे जैसे ढंगमें वह प्राकृतिक गुणकी बेड़ीका घेर है वैसे

ही वैसे वह ब्रह्म-कटा हुआ टुकड़ेमें भी पुरुषके देवता मनुष्य, प्रभृति सत्‌योनिमें, तथा पशु, पक्षी, कीड़े, पतंग प्रभृति असत् योनिमें जन्म ग्रहण करना है ॥ २२ ॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ २३ ॥

अन्वयः । अस्मिन् (प्रकृतिकार्ये) देहे (वर्त्तमानोऽपि) पुरुषः परः (भिन्नः भवति, न तद्‌गुणैः युज्यते इत्यर्थः), (यस्मात्) उपद्रष्टा (पृथग्‌भूत एव समीपे स्थित्वा द्रष्टा, साक्षीत्यर्थः) अनुमन्ता च (अनुमोदितैव सन्निधिमात्रेणानुग्राहकः) भर्त्ता (विधायकः) भोक्ता (पालकः) महेश्वरः (ब्रह्मादीनामपि पतिः) परमात्मा (अन्तर्यामी) इति च अपि उक्तः ॥ २३ ॥

अनुवाद । इस शरीरके भीतर रह करके भी पुरुष पर (प्रकृतिसे भिन्न) है (क्योंकि वह) उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्त्ता, भोक्ता और महेश्वर है, तथा वह परमात्मा इस नामसे भी उक्त है (कहा हुआ है) ॥ २३ ॥

व्याख्या । कृषिक्षेत्रकी रक्षा करनेवाला कृषक कृषि-जात सब विषयोंके भलाई बुराईका द्रष्टा है । दिन रात प्रति पौधेके पास रह करके शश आदि जन्तुके उपद्रवसे सबकी रक्षा करनेका बोझ उसी कृषकके ऊपर है । परन्तु कृषक उसे भलीभांति कर सकता नहीं; इसलिये घास फूससे एक पुतलीका आकार बनाकर

लम्बे लम्बे हाथ लगाकर, एक बांसके ऊपर बैठाकर, काले हांडीसे उसका मस्तक बनाकर, क्षेत्रके ठीक बीचमें गाड़ देता है । उस पुतलीका किम्भूत किमाकार विकट मूर्ति देख करके शश आदि अनिष्ट करनेवाले जन्तु भय मान करके क्षेत्रके तरफ फिर नहीं आते । उस पुतली के ऊपर क्षेत्र-रक्षा करनेका बोझ उस कृषकने छोड़ दिया है; इस कारणसे वह मूर्त्ति उस क्षेत्रकी उपद्रष्टा है । इसी तरह प्रकृतिका कार्यकारण-व्यापारके अत्यन्त निकट रहनेसे प्रकृतिका किसीके साथ संस्रव न रखनेसे भी कल्पनामें पुरुषके दृक् शक्तिके सामने जैसे प्रकृतिका कार्य्य-कारण-व्यापार सम्पन्न होता है, इस लिये (चाहे पुरुष देखे या न देखे) उसको उपद्रष्टा कहते हैं ।

वह फूसकी पुतली उस कृषकके कृषिजात जो कुछ जड़ी बूटी रक्षा करनेवाले कार्यमें (कुछ न करके भी) अनिष्ट करनेवाले जन्तुओंको भगाकर कृषकके काम काजका अनुमोदन करती है; इस लिये "अनुमन्ता" है । उसी तरह प्रकृतिके कार्य-कारण-व्यापारमें पुरुषका कोई संस्रव न रहनेसे भी, प्रकृतिके बाड़ेमें पुरुष को घेर लेकर जड़में चैतन्य संक्रमणकी कल्पना कराकर आपही आप प्राकृतिकी क्रियाका प्रकाश होने लगे, इस लिये पुरुष प्रकृति का "अनुमन्ता" हुआ ।

पृथ्वीसे एक लक्ष योजन दूरान्तर ऊपरमें सूर्य्य रहता है; और पृथ्वीपर तालाबके जलमें पद्म है। प्रभात कालमें सूर्य्य उठनेसे कमल खिलता है, और सूर्य्यास्त में मुदित होता है, इस कारण कवि जैसे उस सूर्य्यके साथ कमलका पति-पत्नीत्व भावका आरोप किये हैं, उसी तरह प्रकृति नाम करके अनित्य, अज्ञानता, मिथ्या-भ्रम को स्त्री सजा करके, नित्य, सत्य, सनातन, ब्रह्ममें पुरुष-शब्दका आरोप करके कल्पना के जोरसे दोनोंके साथ विवाह देकर पुरुषको भर्त्ता बनाया है। जगत् भ्रमका घर है। भ्रमके घरके भ्रम-संसारमें भ्रम-कल्पनाकी ही प्रतिपत्ति है। इसलिये काल्पनिक प्रकृतिके कल्पित पुरुषमें कल्पित भर्त्ताका आरोप जानना। सत्यही मिथ्या को पोषण करता है। सत्य है ब्रह्म, और प्रकृति मिथ्या है। इसलिये ब्रह्म प्रकृतिका "भर्त्ता" है।

"भोक्ता"—भुज्=भोजन करना+तृ [तृण्]= कर्तृ-वाचक शब्द) अर्थात् जो भोजन करता है। सूर्य्योदयमें अंधियारा जैसे आपही आप मिट जाता है, तैसे ब्रह्म-ज्ञानके उदयमें प्राकृतिक भ्रमजाल आपही आप ब्रह्ममें परिलीन होते हैं इस करके, ब्रह्म प्रकृतिका भोक्ता है, यह मिथ्या अपवाद प्रकाश किया हुआ है।

सामने यह जो अति दुर्बोध्य प्रकाण्ड विश्वकोष

देखते हो, जिसकी सीमा करना मानुष-अन्तःकरण के असाध्य है, यह समस्तही प्रकृति-विकृति और विकार है। पुनः जिसके कार्य्यकारण-व्यापार मात्रही यह विश्व है, वह प्रकृति खुद आप कितनी बड़ी है इसकी धारणाका आभास भी इस क्षुद्र हृदयमें नहीं आता। सब से बड़ी कह करके प्रकृतिको महान् कहा है। जिसे आश्रय करके प्रकृति देवी इस रचना-मालाकी अधीश्वरी हुई है, वही पुरुष इसके ईश्वर होनेके कारण उस पुरुष का नाम "महेश्वर" है।

"परमात्मा"—(पर शब्दमें श्रेष्ठ, और अम् कहते हैं केवलको) अर्थात् जो केवल, श्रेष्ठ और आत्मा है। "आत्मा शुद्धः स्वयंज्योतिरविकारी निराकृतिः"। तभी हुआ, जो केवल (अकेला), श्रेष्ठ, शुद्ध, स्वयंज्योति, अविकारी और निराकृति है, वही परमात्मा है।

हे अर्जुन ! प्रकृतिके कार्यकारण स्वरूप इस देहके साथ संस्रव-दोषसे दूषित हो करके ही पुरुष प्रोक्त विशेषण समूहसे आभूषित हुआ है। ऐसा न हो कर यह खुद जो है, विश्लेषणमें वह भी तुम्हें समझना बाकी नहीं है। यह तुम्हारी प्रकृति, प्रकृति-विकृति, विकार और पुरुष है। लो देख लो ॥ २३ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिञ्च गुणैः सह।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२४॥

अन्वय;। यः पुरुषं एवं (उपद्रष्टृत्वादिरूपेण) वेत्ति, प्रकृतिं च गुणैः सह (सुखदुःखादिपरिणामैः सहितां) वेत्ति, सः सर्वथा (सर्वप्रकारेण) वर्त्तमानोऽपि भूयः (पुनः) न अभिजायते (देहान्तरं न गृह्णाति, मुच्यते एवेत्यर्थः) ॥ २४ ॥

अनुवाद। जो इस प्रकारसे पुरुष को और गुणोंके साथ प्रकृतिको विदित होता है, वह सर्व प्रकारसे वर्त्तमान रह करके भी पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करता ॥ २४ ॥

व्याख्या। जो साधक उपरोक्त प्रकारसे अपने को (अपनी आत्मा को अर्थात् जो आत्मा शुद्ध, स्वयंज्योति, अविकारी, निराकृति है, उसको), प्रकृति को तथा प्रकृतिके गुण, क्रिया और शक्ति को दृढ़तासे जानकर समझ लेगें, (जैसे तैसे जाना जाननेसे नहीं होगा, अन्तःकरणमें जब जो किसी वृत्ति का उदय होगा, चेष्टा न करनेसे भी तब ही उस दृढ़ अभ्यासके गुणसे आप ही आप वह पुरुष-अवस्था को प्राकृतिक संस्रवसे हटा कर सीधी सरल-हँसी हँसा देगा; जब ऐसा होगा, तब ही) उनका भूत और भविष्यत् नामका प्रकृतिके दोषसे उत्पन्न काल-विभाग नष्ट हो कर सर्वथा वर्त्तमान निरन्तर अपरिवर्त्तनीय एक अवस्था आ जावेगी। उस अवस्थामें विधि

निषेध कुछ भी नहीं रहेगा, क्योंकि उनका तब सर्व ब्रह्ममय हो जानेसे उनमें पुनर्जन्मके बीजस्वरूप वृत्तिमात्र का उदय फिर न होगा। साधक भी जीवन्मुक्त होवेंगे। इसलिये वह साधक बाहर वाले जिस किसी भावमें रहनेसे भी जन्म लेने वाले संस्कारके अभाव होनेके कारण उनका फिर पुनर्जन्म न होगा॥ २४॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २५॥

अन्वयः। [एवम्भूतविविक्तात्मज्ञानसाधनविकल्पानाह ध्यानेनेति द्वाभ्यां]। केचित् ध्यानेन (आत्माकारप्रत्ययवृत्त्या) आत्मनि (देह एव) आत्मना (मनसा एव) आत्मानं पश्यन्ति, अन्ये सांख्येन योगेन (ज्ञानयोगेन) अपरे च कर्मयोगेन (पश्यन्ति)॥ २५॥

अनुवाद। कोई कोई ध्यानयोगद्वारा देहमें ही मानस दृष्टि से आत्मा का दर्शन करते हैं; दूसरे कोई कोई सांख्ययोग द्वारा तथा अपर कोई कोई कर्मयोग द्वारा (आत्मा को अवलोकन करते हैं)॥२५॥

व्याख्या। [वह जो प्रकृति, प्रकृति-विकृति, विकार और पुरुष की कथा कही हुई है, आत्म-दर्शन होनेसे ही उन सब को जाना जाता है। भगवान् साधनके क्रम अनुसार से साधक का क्रमिक अधिकार भेद दिखला करके आत्मदर्शन का उपाय समूह इन दो श्लोकोंमें कहते हैं।]

यथाशास्त्र श्रीगुरुदेवके पास उपदेश ले करके साधनमें अग्रसर होते होते जब सुषुम्नामें प्राणचालन की शक्ति सरल हो जावेगी, तब १७२८ बार चातुर्थिक प्राणायाम करनेसे ही विषय और इन्द्रियोंसे मन उठकर बुद्धिमें पड़ करके आत्म-साक्षात्कार कराय देवेगा। यह जो आत्मसाक्षात्कार करने का क्रम है, इस को ध्यान कहते हैं। इस प्रकार करते करते जब साधक की विषयमुखी वृत्ति प्रवाह एक दम आयत्ताधीन होगी, तब इच्छानुसार उस प्रवाहको प्रकृति की ग्लानिसे अलग करके तैलधारावत् अविच्छिन्न भावसे पुरुषमें फेक कर निरन्तर स्थिति ली जा सकती है। यह एक प्रकार की साधन है। इसमें भी आत्मामें स्थिति और संसार-अवस्था का निरोध होता है। [इस प्रकार साधन का पूर्व अंग सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोग है और सांख्ययोग का पूर्व अंग कर्मयोग है। इसलिये श्रीभगवान इसके बाद ही सांख्ययोग तथा कर्मयोग का उल्लेख किये हैं। सिद्धयोगीगण इनमें से अपनी इच्छानुसार किसी एकका अवलम्बन करके आत्मदर्शन करते हैं; परन्तु अभ्यासी को पर पर क्रम अनुसारमें ही उठ करके सिद्ध होना पड़ता है]।

और एक साधन वस्तुविचार है। इस विचारमें प्रकृति, प्रकृति-विकृति और विकार सब "तन्न तन्न"

करके त्याग होते होते, अर्थात् तत्वसमूहके भीतर "यह आत्मा नहीं, वह आत्मा नहीं, सो आत्मा नहीं है", इस प्रकारसे जो कुछ परिणामी है, सबको अलग करते करते शेष सिद्धान्तमें एक अपरिणामी, नित्य, सत्यका साक्षात्-कार होता है, तथा गणनामें (गिन्तिमें) परिणामी वस्तु-समूह चतुर्विंशति संख्यक होते हैं इस कारण इसको सांख्ययोग कहते हैं ।

और एक साधन है । दुर्बलचित्त मानव जगत्में अपने लिये जो कुछ काम काज करता है, उसे वह "अपने लिये करता हूं" यह बोध विचार न करके "मैं ईश्वर-प्रेरित हूं ईश्वर की इच्छासे जो कुछ काम काज करता हूं, भला हो चाहे बूरा हो वह सब ईश्वर का है" इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके सम्मुखमें सदाकाल अविच्छिन्न भावसे ईश्वर को बैठा करके तम्मुखी, तन्मयी वृत्ति द्वारा उस ईश्वरमें मिल करके काल काटने को कर्मयोग कहते है । यह बाहर का है और वह पहले वाला भीतर का है ॥ २५ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्यः उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ २६॥

अन्वयः । अन्ये तु एवं (सांख्ययोगादिमार्गेण उपद्रष्टृत्वादि-लक्षणमात्मानं साक्षात् कर्त्तुं) अजानन्तः अन्येभ्यः (आचार्येभ्यः)

श्रुत्वा उपासते (ध्यायन्ति); तेऽपि च श्रुतिपरायणाः (श्रद्धया उपदेश-श्रवणपरायणाः सन्तः) मृत्युं (संसारं) अतितरन्ति एव ॥ २६ ॥

अनुवाद। परन्तु दूसरे कोई कोई इस प्रकारसे (सांख्ययोगादि-मार्गमें उपद्रष्टृत्वादि लक्षण आत्माको साक्षात् करनेके लिये) न जान करके दूसरेके पास (आचार्य्यके पास) सुन करके आराधना करते हैं; वे लोग भी उपदेश श्रवणपरायण होकरके मृत्युको अतिक्रम करते हैं ॥२६॥

व्याख्या। ऐसे अनेक साधक हैं जिनमें जड़ता अधिक और सूक्ष्मतत्त्व निर्णय करने की शक्ति कम है। वे लोग सांख्ययोगादि मार्गमें आत्माका स्वरूप साक्षात्कार नहीं कर सकते। वे सब दूसरेके पास अर्थात् आचार्योंके मुख से उपदेश श्रवण करके उपासनामें प्रवृत्त होते हैं। वह पर-उपदेश ही उन सबके प्रमाण है, क्योंकि वे सब आप विवेकरहित हैं। परन्तु क्रम अनुसार वे सबभी मृत्युयुक्त संसारको अतिक्रम करते हैं। क्योंकि श्रद्धाके साथ वह उपदेश सुनते सुनते धीरे धीरे उसीमें भक्ति का विकाश होनेसे उन सबकी बहिर्वृत्तिका निरोध होता है। तब बाहरका उपदेश अन्तरके भीतर नादरूपमें परिणत होता है। उसी नादको सुनते सुनते मन विष्णुपदमें लय हो जाता है॥ २६ ॥

यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २७ ॥

अन्वयः । हे भरतर्षभ ! यावत् किञ्चित् स्थावरजंगमं सत्त्वं (यत् किञ्चित् वस्तुमात्रं) संजायते (समुत्पद्यते) तत् (सर्वं) क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-संयोगात् (भवति इति) विद्धि (जानीहि) ॥ २७ ॥

अनुवाद । हे भरतर्षभ ! जितना कुछ स्थावर, जंगम सत्त्व उत्पन्न होता है, वह सबही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे होता है, जानना ॥२७॥

व्याख्या । वह जो क्षेत्रज्ञ स्वरूप ईश्वरको (प्रकृतिका बाड़ा काटकर) असीम करनेका साधन कहा गया, जिसमें मरधर्म (जन्म-मृत्यु) नाश करके अमरत्व मिलता है, उसका अति सूक्ष्म तत्त्व (प्रधान साधन) है क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग समझ लेना। हे भरतर्षभ ! हे अर्जुन ! जबतक स्थावर (अचल पदार्थ) जंगम (जो चलता फिरता है) इन दोनों प्रकारके कल्पित अवस्तु (अनित्य मिथ्या) में नित्य, सत्य, ज्ञान करानेका भ्रम रहेगा, अर्थात् क्षेत्र (प्राकृतिक व्यापार) और क्षेत्रज्ञ (ब्रह्ममें मायाका बाड़ा, जो कल्पनाके बाहर, जो परस्पर विपरीत और अत्यन्त भिन्न हैं) इन दोनोंका भेद परिज्ञान न होवेगा, तब तक क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग बना है, जानना। स्वप्नमें हाथी, घोड़ा, भूत, प्रेत देखनेका भय जैसे जाग्रत होनेसे नहीं रहता, तैसे ब्रह्मज्ञानके उदय होनेसे ब्रह्मवस्तुमें मायाका बाड़ा पड़नेका भ्रम नहीं रहता । प्रकृति, प्रकृति-विकृति, विकार और पुरुष अवस्थाको बार बार विश्लेष करते करते

(घोरतर अभ्याससे) वह क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-संयोग भ्रम कट जाता है। पुनर्जन्मका बीज भी मिटजाता है। इसीको तुम्हारी मुक्ति उद्देशमें चरम साधनका उपदेश जानना। साधक! इसका स्पष्ट प्रमाण देखो। जिस दिन तुम क्रिया करनेके लिये बैठकरके क्रिया की परावस्था पाने की इच्छा न रक्खो, उसी दिन तुम्हारी उस क्रिया की परावस्था की प्राप्ति होती है; और जिस दिन रक्खो, उस दिन कदापि नहीं होती ॥ २७ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २८ ॥

अन्वयः। यः सर्वेषु (स्थावरजंगमात्मकेषु) भूतेषु समं (निर्विशेषसद्रूपेण यथा भवत्येवं (तिष्ठन्तं विनश्यत्सु अविनश्यन्तं परमेश्वरं (परमात्मानं) पश्यति सः पश्यति (स एव सम्यक् पश्यति नान्य इत्यर्थः) ॥ २८ ॥

अनुवाद। जो परमेश्वर को सर्वभूतोंमें समभावसे अवस्थित तथा भूतगणोंके विनाशसे उनको अविनाशी दर्शन करता है; वही पुरुष सम्यक् दर्शन करता है ॥ २८ ॥

व्याख्या। "परं" अर्थमें केवल, श्रेष्ठ; और 'ईश्वर' अर्थमें माया संयुक्त ब्रह्म। प्रकृति की ज्योति नहीं, पुरुषमें ज्योति है। पुरुष-संयोगसे प्रकृतिमें जो इच्छा, क्रिया,

और ज्ञानशक्ति की भ्रमोत्पत्ति होती है, प्रकृति उस भ्रमको पुरुषमें डाल कर, पुरुष की ज्योति अपनेमें लेकर, पुरुष को कर्त्ता सजा कर आप खुद जो स्वयंज्योति और अकर्त्ता सज बैठती है, उस द्वयात्मक अवस्था का नाम ईश्वर * है। जिस ईश्वरमें केवलत्व और श्रेष्ठत्व है, उसको परमेश्वर कहते हैं। महाकाशमें लोहेका प्राचीर दे करके किल्ला बनानेसे जैसे आकाश विच्छिन्न नहीं होता, तैसे प्राकृतिक अध्यास वा अपवादका प्रलेप ब्रह्मको स्पर्श

---

* चक्षु की मणियां गोल और बहुत छोटी हैं। परन्तु उसी आंख की मणियोंसे दृक्शक्ति बाहर आकर महाकाश का जितना स्थान अधिकार करती है वह अतीव महान् है। दृक्शक्ति का केन्द्रस्थान गोलक होनेसे उसमें आकाश का जितना स्थान अधिकार करता है वह समस्त गोलाकारसे बोधमें आता है। उतना गोलक आकाशके भीतर कितनी चक्षु की मणियां स्थान पा सकता है, उसकी संख्या नहीं होती, चिन्ता करके भी निर्णय किया नहीं जा सकता। उसी तरह परिपूर्ण ब्रह्ममें माया-प्रसूत गोलकधंधा जितना स्थान अधिकार कर चुका है उतने स्थानमें जो ब्रह्म-अंश हुआ है अर्थात् माया ब्रह्म का संयोग हुआ है, उतना स्थान गुणमयी मायाके संस्पर्श-दोषसे गुणोंके संक्रम हो करके सगुण-ब्रह्म नाम लिया है। यह सगुण-ब्रह्म ही "ईश्वर" है। इस सगुण ब्रह्मके अधिकारमें असंख्य माया विकार विश्वब्रह्माण्ड उस आंख की मणियोंके सदृश स्थान पा चुके हैं। आकाशकी गोलकसे आंख की मणियों की गोलक बहुत दूरमें तथा छोटेसे छोटा [जरा सा] है। नित्य निरंजन सत्य ब्रह्ममें ईश्वरसे आदि लेकर असल माया की आवास-भूमिका असत्य मिथ्या भी बहुत दूरसें और छोटीसे छोटी है। ईश्वर इस माया

नहीं कर सकता। अज्ञानियोंके चक्षुमें किल्लाके प्राकार से आकाश को विच्छिन्न बोध होनेसे भी ज्ञानियोंके चक्षु में जैसे वह बाधा महाकाशमें नहीं ठहरता; ज्ञानी जैसे पर्वत, प्राचीर, वृक्ष पत्थरके भीतर बाहर अविच्छिन्न एक महाकाशको ही देखते हैं; वैसे एक परमेश्वर सर्वभूतोंमें समभाव से महाकाश सदृश अविच्छिन्न भावसे (निरन्तर) वर्त्तमान है। प्राकृतिक परिवर्त्तनसे उस नित्य सत्यका कुछ भी परिवर्त्तन नहीं होता। यह व्यापार देखनेके अधिकारी जो हुए हैं, उसे वही देखते हैं, दूसरेके लिये दुर्ज्ञेय है। अपनी क्रिया की पूर्वावस्था, क्रियावस्था, क्रियाकी परावस्था, और क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थासे मिला लेनेसे ही साधकको यह भ्रम नहीं रहेगा॥ २८॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥२९॥

को अपने वशमें रक्खे हैं इस करके उनका नाम मायावशी है। और वह चिदाकाश जैसे जैसे मायाकी दिशा (तरफ) में निकट उतरते आये तैसे तैसे वह मायाके वशीभूत होते गये। वही मायाका वशीभूत अवस्था जीव है। यह जीव जैसे जैसें मायाके निकट आते गये, तैसे तैसे वशीभूतताके तारतम्यानुसार देवता, असुर, मानुष, पशु, पक्षी, कीट पतंग, वृक्ष, प्रभृति नाम पा चुके हैं।

अन्वयः। हि (यस्मात्) सर्वत्र (सर्वभूतेषु) समं समवस्थितं ईश्वरं (परमात्मानं) पश्यन् आत्मना (स्वेनैव) आत्मानं न हिनस्ति (अविद्यया सच्चिदानन्दरूपमात्मानं तिरस्कृत्य न विनाशयति), ततः (तस्मात्) परां गतिं (मोक्षं) याति (प्राप्नोति)॥ २९॥

अनुवाद। क्योंकि सर्वत्र समान भावसे सम्यक् अवस्थित परमात्माको दर्शन करनेवाला पुरुष अपनेसे अपनेको विनष्ट नहीं करता, इसलिये परागति (मोक्ष) को प्राप्त होता है॥ २९॥

व्याख्या। पूर्व श्लोकमें जो ब्रह्म, ईश्वर, परमेश्वर समझा गया, उसमें और कोई किसीका स्थान मिलनेकी जगह नहीं है। यह, वह कह करके निर्देश करनेका कोई कुछ भी नहीं है। भूत भविष्यत् कह करके प्रकाश करनेका कोई काल भी नहीं है। प्रज्ज्वलित अग्नि शिखा की चद्दर (ओढ़ना) सदृश एकही वस्तु (ब्रह्म) विद्यमान है। यह अनादि, अनन्त, ज्योतिस्वरूप ही स्वयं मैं हूं। ऐसा कौन प्राकृतिक भ्रम है, जो मेरे इस स्वरूपमें विघ्नोत्पत्ति कर सकता है? और वह भ्रम भी कैसा? कहां रहता है?—इस शासनके भीतर अविच्छिन्न रहनेसे मिथ्यासे सत्यको काट कर आत्मघाती होना नहीं होता, अर्थात् "मैं जीव हूं" इस अज्ञानतामें उतर कर "मैं परमात्मा हूं" इस ज्ञानका विनाश साधन करना नहीं पड़ता—अपनेको अपना हीनत्व स्वीकार करना नहीं होता।

इसलिये परागति (ब्राह्मीस्थिति) आपही आप स्थायी होती है ॥ २९ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥३०॥

अन्वयः । यः कर्माणि प्रकृत्या एव च (देहेन्द्रियाकारेण परिणतया मायया एव च नान्येन) सर्वशः (सर्वप्रकारैः) क्रियमाणानि पश्यति तथा आत्मानं (क्षेत्रज्ञं) अकर्त्तारं (सर्वोपाधिविवर्जितं) पश्यति, सः पश्यति (स एव परमार्थदर्शी) ॥ ३० ॥

अनुवाद । कर्म समूह प्रकृति द्वारा ही सर्व प्रकारसे कृत होता है और आत्मा अकर्त्ता है, ऐसा जो देखते हैं, वेही परमार्थदर्शी हैं ॥३०॥

व्याख्या । छोटी छोटी लड़कियांकी खेलवाड़ी घर गृहस्थी जैसे भविष्यत् विलासके लिये प्रस्तुत होनेकी शिक्षारम्भ करता है; उसी तरह उस आत्मघातिनी (आत्माको जो नष्ट करती है) मायाको दूर करके पुनः स्वस्व-रूपमें स्थिति के लिये प्रथम अभ्यास है यह वचन-विलास (जो यहां समझा और समझाया जाता है)। त्रिगुणात्मिका प्रकृति भगवानकी माया है। कार्य और कारणमें यह मायाही अपना परिणाम आपही आप दिखला देती है। इसलिये करण और निवृत्ति इन दोनोंका ही कर्त्ता वह खुद है इससे इसका नाम प्रकृति है। जितने प्रकारके कार्य-

कारण-कर्त्ता सम्बन्ध जहां आवेगा, वे समस्तही यह विलासिनी प्रकृति है । "मैं" उस अनन्त ज्योतिस्वरूप बिना और कुछ भी नहीं ।—यह अपरोक्ष ज्ञानही अपने को आप अकर्त्ता दिखा देता है । साधन-विशेषसे जिसने ऐसी दृष्टि पाई है, वही साधक अपनेको अकर्त्ता देखता है ॥ ३० ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
ततएव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥३१॥

अन्वयः । यदा (यस्मिन् काले) भूतपृथग्भावं (भूतानां भेदं) एकस्थं (एकस्मिन्नात्मनि स्थितं) अनुपश्यति, तत एव च (तस्मात् आत्मन एव च) विस्तारं (उत्पत्तिं) अनुपश्यति, तदा (तस्मिन् काले) ब्रह्म सम्पद्यते (ब्रह्मैव भवति) ॥ ३१ ॥

अनुवाद । जब (जो) भूतसमूहके पृथक् भावको एकस्थ (एक आत्मामें अवस्थित) दर्शन करते हैं, और उन्हींसे (उसी एक आत्मासे) भूतसमूहके विस्तार दर्शन करते हैं, तब वे ब्रह्म हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

व्याख्या । यह जो भूतोंके यह-वह-इत्यादि पृथक् पृथक् भाव देखते हो, उन सबको उस प्रकृति के ही करण और निवृत्तिरूप धर्म जानो । इस अन्तःकरणसे वह पृथक् भाव मिटा देनेसे ही भूतसमूह एक होकरके अति विस्तार होता है । और वह अति विस्तार ही ब्रह्म है । वह

ब्रह्म ही "मैं" हूं। तत्त्वदर्शी साधक जब चतुर्थ अध्याय का कहा हुआ ब्रह्मयज्ञका अनुष्ठान करते हैं, तब उनकी सर्वत्र आत्मदृष्टि प्रतिष्ठित होती है, और प्रत्यक्ष करते हैं कि वारिधि-वक्षमें (अकूल समुद्रके जलके ऊपर जहांसे कोई कूल किनारा दिखाई नहीं देता) अनन्त तरंग-फेन-बुद्बुद्वत् भूतसमूह एक आत्मामें ही अवस्थित और एक आत्मासे ही विविध आकार धरके विस्तृत तथा एक आत्मामें ही प्रलीन होता है। जब यह प्रत्यक्ष दर्शन होता है, बोधभी निस्तरंग दृढ़ होता है, तबही साधकको ब्रह्मभाव-प्राप्ति होती है ॥ ३१ ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३२॥

अन्वयः । हे कौन्तेय ! अनादित्वात् निर्गुणत्वात् अयं परमात्मा अव्ययः (अविकारी), (अतः) शरीरस्थोऽपि न (किंचित्) करोति न (कर्मफलैः) लिप्यते ॥ ३२ ॥

अनुवाद । हे कौन्तेय ! अनादित्व और निर्गुणत्व हेतु यह परमात्मा अव्यय (अविकारी) है, इसलिये शरीरस्थ हो करके भी कुछ नहीं करते तथा (कभी किसीमें भी) लिप्त नहीं होते ॥ ३२ ॥

व्याख्या। ब्रह्मभाव-प्राप्ति होनेके पश्चात् देह सम्बन्धके लिये सुख दुःखादिसे और विषमता नहीं आती,

समदर्शन ही रहता है। क्योंकि परमात्मतत्त्व जो है, वह अनादि और निर्गुण है, इसलिये अविकारी है। और प्राकृतिक तत्त्व सादि तथा सगुण है, इसलिये उस अविकारीके ऊपर (आकाशके शरीरमें धुआंके सदृश) कोई छाप नहीं लगा सकते। इसलिये कहा जाता है कि अनादि, निर्गुण, अव्यय परमात्माका सादि, सगुण प्रकृतिका बाड़ामें लिप्त होनेका अथवा कुछ करनेका कोई रास्ता नहीं है॥ ३२॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ ३३॥

अन्वयः। यथा सर्वगतं आकाशं सौक्ष्म्यात् (असंगत्वात्) न उपलिप्यते, तथा आत्मा देहे सर्वत्र अवस्थितः (अपि) न उपलिप्यते॥ ३३॥

अनुवाद। जैसे सर्वगत आकाश सूक्ष्मत्व हेतु (कभी किसीमें) लिप्त नहीं होता तैसे आत्मा देहमें सर्वत्र रह करके भी नहीं लिप्त होता॥ ३३॥

व्याख्या। परमात्मा जो शरीरस्थ हो करके भी क्यों लिप्त नहीं होते, इसका उदाहरण आकाश है। सूक्ष्मत्व हेतु आकाश सर्वगत है; ऐसा स्थान वा चीज़ कोई नहीं है जहां वा जिसके भीतर बाहर आकाश नहीं है। इस आकाशको धुआंसे छाय दो, धूमाकीर्ण कर दो,

धूलि उड़ा दो, कीचड़ छिटा दो, जितने प्रकारसे हो सके आकाशको मैलायुक्त करने की चेष्टा करो, देखोगे आकाश के शरीरमें कोई कुछभी छाप नहीं लगा सकता धुआं धूल प्रभृति जब हट जायगा, तबही देखोगे आकाश जैसा साफ़ था वैसा ही है । सूक्ष्मपदार्थ होनेके कारण आकाश स्थूलके साथ नहीं मिलता । यह आकाश जैसे सब पदार्थोंके भीतर बाहर रह करके भी किसीके साथ लिप्त नहीं होता है, ठीक वैसे आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म होनेसे इस जगत् ब्रह्माण्डमें जितने देह हैं सबके भीतर बाहर रह करके भी किसीके साथ या कभी किसीके काम काजमें लिप्यमान नहीं होता ॥ ३३ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३४ ॥

अन्वयः । हे भारत ! यथा एकः रविः (सूर्यः) इमं कृत्स्नं लोकं प्रकाशयति, तथा क्षेत्री कृत्स्नं क्षेत्रं प्रकाशयति ॥ ३४ ॥

अनुवाद । हे भारत ! एक सूर्य जैसे इस समग्र लोकको प्रकाशित करता है, तैसे क्षेत्री (परमात्मा) समग्र क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है ॥ ३४ ॥

व्याख्या । हे भारत ! एक सूर्य्य जैसे समस्त लोकको प्रकाशित करता है, परन्तु किसीके साथ लिप्त नहीं

होता; तैसे जितना क्षेत्र है, एक क्षेत्री (आत्मा) सब क्षेत्र को प्रकाश करते हैं, परन्तु लिप्त नहीं होते ॥ ३४ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः। एवं (उक्त प्रकारेण) क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः अन्तरं (भेदं) भूतप्रकृतिमोक्षं च (भूतानां प्रकृतिः तस्याः सकाशात् मोक्षं मोक्षोपायं ध्यानादिकं च) ये ज्ञानचक्षुषा (शास्त्राचार्य्योपदेशजनितमात्मप्रत्यायिकं ज्ञानं चक्षुस्तेन) विदुः, ते परं यान्ति (परमार्थतत्त्वं ब्रह्म गच्छन्ति, न पुनर्देहमाददतीत्यर्थः) ॥ ३५ ॥

अनुवाद। उक्त प्रकार से ज्ञानचक्षु द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका प्रभेद तथा प्रकृतिसे भूतगणोंके मोक्षका उपाय जो लोग जानते हैं, वे सब परमार्थतत्त्वमें (ब्रह्ममें) गमन करते हैं ॥ ३५ ॥

व्याख्या। वह जो क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, प्रकृति, प्रकृति-विकृति (भूत), और मोक्ष अर्थात् इन सबसे अलग होने की कथा कही हुई है, इनके भीतर क्षेत्र, प्रकृति और प्रकृति-विकृतिसे क्षेत्रज्ञ जो सर्वथा (एकदम) भिन्न है, यही शास्त्रका प्रमाण, और वही शास्त्रवाक्य गुरूपदेश करके प्रमाणित है। और उस शास्त्रवाक्य तथा गुरूपदेश अनुसार साधनमें व्रती होकरके जो साधक अपने शरीरके

भीतर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका प्रभेद एवं प्राकृतिक अधिकारसे मोक्ष लाभ करनेकी धारणा, ध्यानादि उपाय प्रत्यक्ष करके निजबोध-रूपसे प्रबुद्ध होते हैं, वे साधक जितने दिन शरीर धारण करके रहेंगे, उतने दिन जीवन्मुक्त और देहपातात् अनन्तर स्वस्वरूपमें अर्थात् ब्रह्ममें मिल जाते हैं, फिर उनको पुनर्जन्म धारण करने नहीं होता ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम
त्रयोदशोऽध्यायः ।

चतुर्दशोऽध्यायः ।

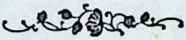

श्रीभगवानुवाच ।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितोगताः ॥१॥

अन्वयः । श्रीभगवान् उवाच । ज्ञानानां (मध्ये) उत्तमं परं (परमात्मनिष्ठं) ज्ञानं भूयः प्रवक्ष्यामि, यत् ज्ञात्वा सर्वे मुनयः इतः (देहबन्धनात् परां सिद्धिं गताः (मोक्षं प्राप्ताः) ॥ १ ॥

अनुवाद । श्रीभगवान कहते हैं । ज्ञान समूह के भीतर उत्तम जो परम ज्ञान, पुनराय मैं कहूंगा, जिसे जानकर सब मुनिगण यहांसे (देह बन्धनसे) मोक्षधाममें गमन करते हैं ॥ १ ॥

व्याख्या । पूर्वाध्यायमें उक्त हुआ है कि उत्पद्यमान पदार्थ समूह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगसे उत्पन्न होता है । वही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका संयोग जो आपही आप नहीं होता, परन्तु ईश्वरकी इच्छासे ही होता है, उसी विषयको प्रत्यक्ष दिखलानेके लिये श्रीभगवान "परं भूयः प्रवक्ष्यामि" इत्यादि वाक्य द्वारा इस अध्यायको प्रारम्भ किये हैं । पूर्व अध्यायके २२ श्लोकमें कहा हुआ है कि, प्रकृतिस्थत्व और गुणसंग ही संसार-कारण है । अब बात यह है

कि, कौन गुणमें किस प्रकार संग होता है? गुण क्या क्या है?—और कैसे करके आबद्ध करता है? गुण समूहसे मोक्ष किस प्रकारसे होता है? तथा मुक्त पुरुषका लक्षण किस प्रकारका है?—इन सब विषयका ज्ञान ही उत्तम अर्थात् परमज्ञान है; इस अध्यायमें वही कहा हुआ है। उसी परमज्ञान को जान करके ही मुनिगण (जिस साधकोंकी मनोवृत्ति सम्यक् प्रकारसे लीन हुई हैं वे सब) परासिद्धि अर्थात् जिसके ऊपर (बढ़के) साधन और साधन-फल नहीं है, वही देहाभिमान नाश की परावस्था प्राप्त हो चुके, तथा जो लोग जानते हैं, उन सबका शरीर त्यागके पहिले जीवन्मुक्तत्व भोग तत्पश्चात् ब्रह्ममें लय होता है॥ १॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥२॥

अन्वयः। इदं (वक्ष्यमाणं) ज्ञानं उपाश्रित्य (ज्ञानसाधनमनुष्ठाय) मम साधर्म्यं (मत्स्वरूपतां) आगताः (प्राप्ताः सन्तः) सर्गे अपि (सृष्टिकाले अपि) न उपजायन्ते (न उत्पद्यन्ते) प्रलये (ब्रह्मणोऽपि विनाशकाले) न व्यथन्ति च (व्यथां न आपद्यन्ते न च्यवन्तीत्यर्थः॥ २॥

अनुवाद। इस ज्ञानका आश्रय करके हमारा स्वरूपत्व प्राप्त होनेसे

वे लोग सृष्टि कालमें भी उत्पन्न नहीं होते और प्रलय कालमें भी व्यथा (संकट) को प्राप्त नहीं होते ॥ २ ॥

व्याख्या । यह जो उत्तम परमज्ञानकी कथा कही जाती है, यह ज्ञान तीव्रतम वेग करके साधनमें अनुष्ठित होनेसे 'मैं" की साधर्म्य अर्थात् स्वरूपत्व प्राप्ति होती है—ब्रह्ममें परिलीन होता है; जैसे डोरी-खण्ड पड़ा हुआ है जानते मात्र सर्पभय आपही आप मिट जाता है, तैसे। इस अवस्थामें द्वैत वा अद्वैत कोई भाव-विकार ही नहीं रहता, इस कारण सृष्टि कालके उदय और प्रलय के क्षय इन दोनोंके किसी कष्टसे व्यथित होनेका अवसर नहीं आता ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

अन्वयः । हे भारत ! महद्ब्रह्म (प्रकृतिः) मम (परमेश्वरस्य) योनिः (गर्भाधानस्थानं), अहं तस्मिन् (महति ब्रह्मणि योनौ) गर्भं (जगद्विस्तारहेतुं चिदाभासं) दधामि (निक्षिपामि); ततः (गर्भाधानात्) सर्वभूतानां (ब्रह्मादीनां) सम्भवः (उत्पत्तिः) भवति ॥ ३ ॥

अनुवाद । हे भारत ! महद्ब्रह्म मेरी योनि (गर्भाधान स्थान) है, मैं उसमें गर्भ (जगद्बीज) प्रक्षेप करता हूं, उससे ही सर्वभूतों की उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

व्याख्या। मम शब्दका अर्थ है मेरा अर्थात् अहंकारका। योनि=स्थितिका स्थान (आकर)। महद्ब्रह्म=महत् कहते हैं सबसे बड़ेको; सब लोग ढूंढ़ करके जिसका कूल—किनारा नहीं पाते, अवधि रहित महान् न हो करके भी सबके पास अवधि रहित महान्का भान दिखला कर जो धोखा देता है, वही महत् है; इसलिये इसका एक नाम है महद्ब्रह्म वा माया। तभी अहंकार की स्थितिका स्थान माया हुई। उस मायामें मैं गर्भाधान करता हूं, अर्थात् "मैं" जब उस मायाका आश्रय लेता हूं, तभी मायाको गर्भ (उत्पादिका शक्ति) होता है; इसका कारण यह है कि यदि मैं मायाका आश्रय न करूं तो माया बन्ध्या ही रह जाती है, कुछ उत्पन्न करने की शक्ति उसमें नहीं रह जाती। उक्त प्रकारसे मायाके गर्भ होने से ही माया सर्वभूतको (इस जगत्को) प्रसव करती है। ज्ञानमें सृष्टि नहीं; सृष्टि अज्ञानतामें है। इस लिये सृष्टि-प्रकरण समझाने जाओ तो "मैं मायाको (अज्ञानताको) आश्रय करता हूं" यह बात कहना ही पड़ता है। ९म अः १७ श्लोक देखो ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

अन्वयः । हे कौन्तेय ! सर्वयोनिषु याः मूर्त्तयः सम्भवन्ति (उत्पद्यन्ते) तासां (मूर्त्तीनां) महद्ब्रह्म (प्रकृतिः) योनिः (मातृस्थानीया) अहं बीजप्रदः (गर्भाधानकर्त्ता) पिता ॥ ४ ॥

अनुवाद । हे कौन्तेय ! सर्व योनियोंमें जो जो मूर्त्ति उत्पन्न होती हैं, महद्ब्रह्म उन सबकी योनि (माता) और मैं बीजप्रद पिता हूं ॥४॥

व्याख्या । हे अर्जुन ! देवता, असुर, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जितने प्रकारकी योनी हैं, और उन सबसे जितने प्रकार की मूर्त्ति उत्पन्न होती हैं, उन सबकी योनि वह महद्ब्रह्म और वह "अहं" (मैं) बीजदाता पिता हूं ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५॥

अन्वयः । हे महाबाहो ! सत्त्वं रजः तमः इति गुणाः (इत्येवं संज्ञकाः त्रयो गुणाः) प्रकृतिसम्भवाः (गुणसाम्यं प्रकृतिः, तस्याः सकाशात् पृथक्त्वेनाभिव्यक्ताः सन्तः) देहे (प्रकृतिकार्ये शरीरे) देहिनं (तादात्म्येन स्थितं चिदंशं) अव्ययं (वस्तुतः निर्विकारमेव सन्तं) निबध्नन्ति (स्वकार्ये सुखदुःखमोहादिभिः संयोजयन्तीत्यर्थः) ॥ ५ ॥

अनुवाद । हे महाबाहो ! सत्त्व, रजः, तमः यह तीन गुण प्रकृतिसे सम्भूत हो करके देहमें देही को (अव्यय होनेसे भी) निबद्ध करते हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या। पहिले ही कह चुका हूं कि, मैं देही नहीं हूं—मैं देह नहीं हूं, "मै" का देह नहीं, मैं जीव नहीं हूं; मैं निर्विकार चित् हूं। तथापि तीन गुण क्या हैं? और उसमें अव्यय "मैं" को किस प्रकारसे देह-बन्धनमें लाता है? वही विषय समझानेके लिये कहा जाता है कि, सत्त्व रजः तमः यह तीनों गुण ही प्रकृतिसे उत्पन्न हैं। हे महाबाहो! (जिसके दोनों हाथके वेष्टनके भीतर "सर्व" नाम करके जो कुछ आयत्तमें आता है, वही महाबाहु है) यह तीनों गुण अव्यय निर्विकारमें भी विकार लगाकर और उसे देहके भीतर लाकर देही बनाके बांध डालते हैं॥ ५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥ ६॥

अन्वयः। हे अनघ! तत्र (तेषां गुणानां मध्ये) सत्त्वं निर्मलत्वात् (स्वच्छत्वात् स्फटिकमणिरिव) प्रकाशकं (भास्वरं) अनामयं च (निरुपद्रवं शान्तमित्यर्थः); (अतः) सुखसंगेन (शान्तत्वात् स्वकार्येण सुखेन यः संगस्तेन) ज्ञानसंगेन च (प्रकाशकत्वाच्च स्वकार्येण ज्ञानेन यः संगस्तेन च) बध्नाति (अहं सुखी ज्ञानी चेति मनोधर्मास्तदभिमानिनि क्षेत्रज्ञे संयोजयन्तीत्यर्थः)॥ ६॥

अनुवाद। हे अनघ (अपाप)! उन तीन गुणके भीतर सत्त्वगुण स्वच्छत्व हेतु प्रकाशक (भास्वर) और अनामय (शान्त) है, (इसलिये) सुखसंग तथा ज्ञानसंग द्वारा बद्ध करता है॥ ६॥

व्याख्या । उन तीन गुणोंके भीतर सत्त्वगुण स्वच्छ और सबका प्रकाशक तथा शान्त है, इसलिये सुखके साथ (सु=सुन्दर+ख=शून्य, अर्थात् कष्टविहीन अवकाश अवस्थाके साथ) और ज्ञानके साथ मिलन करता है; अर्थात् मैं सुखी हूं, मैं ज्ञानी हूं इत्याकार मनोवृति उत्पन्न करता है । इस मिलन का नाम उपद्रव वा बन्धन है । क्योंकि मैं अवधिरहित महान् बिना और कुछ भी नहीं हूं; तथापि दूसरी एक अवस्तु को सुख नाम देकर खड़ा कराके "मैं" के साथ मिलन कराता है, जिस मैंमें और कुछ भी आने की जगह नहीं है । फिर ज्ञानके साथ भी मिला देता है । यह जो आत्म-विस्मृति भ्रम है, यही बन्धन है।

ज्ञान शब्दके भीतर ज, ञ, आ, न यह चार वर्ण हैं । इनके भीतर "ज" वर्ण का अर्थ है जायमान अर्थात् उत्पति-स्थिति-नाशशील जो कुछ है वही; और "ञ" वर्णका अर्थ है गन्धाणु, अर्थात् पञ्च तन्मात्रा शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध की मिश्रण-क्रिया जिसमें प्रकाश पाती है वही। यह दोनों वर्ण मिल करके "ज्ञ" हुआ। यह "ज्ञ" शब्दका अर्थ है—उत्पत्ति-स्थिति-नाशशील शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध संकूल जो कुछ है । "आ" वर्ण का अर्थ है आसक्ति, और "न" वर्ण का अर्थ नास्ति है । तब ही हुआ, उत्पत्ति-स्थिति-नाशशील शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध

युक्त जो कुछ है उसमें आसक्ति न रहने की अवस्थाका नाम "ज्ञान" है। जो इस ज्ञानके साथ मिला देता है वही सत्त्वगुण है। अब साधक! समझ लो, सुखके साथ और ज्ञानके साथ मिलकर जो बन्धन,वह कैसा है?॥६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्॥ ७॥

अन्वयः। रजः रागात्मकं (अनुरञ्जनरूपं) तृष्णासंगसमुद्भवम् (तृष्णा अप्राप्ताभिलाषः आसंगः प्राप्तेऽर्थे प्रीतिः, तयोः तृष्णा संगयोः समुद्भवः यस्मात् तत्); हे कौन्तेय! तत् (रजः) देहिनं कर्मसंगेन निबध्नाति॥ ७॥

अनुवाद। हे कौन्तेय! रजोगुणको रागात्मक तथा तृष्णा और आसंग का उत्पादक रूप जानना; वह देही को कर्मके साथ निबद्ध करता है॥ ७॥

व्याख्या। जिससे जन्म होय वही रजोगुण है। रजः रञ्जन क्रियाको भी कहते हैं; जैसे सफेद वस्त्र किसी रंगसे रंगा लेना। निर्मल ब्रह्ममें मायाविकार अहंकार लगाकर जीव-सजाने की क्रिया का नाम भी रजः है। यह रजोगुण रागात्मक अर्थात् अनुरागमय है। इस अनुरागसे ही तृष्णा और आसंग की उत्पत्ति होती है। अप्राप्त विषयमें अभिलाषा का नाम तृष्णा और प्राप्त विषयमें मनकी प्रीति का नाम आसंग है। यह समस्त ही क्रिया

है। मैं बिना और दूसरे एक को प्राप्त होनेके लिये कार्यमें जो प्रेरणा करता है, वही रजोगुण है। इस प्रेरणा का सूत्र ही अनुराग है। उस अनुराग की शक्ति ही आसक्ति है। उस आसक्तिसे ही अधीनता स्वीकार की जाती है। वह अधीनता स्वीकार ही बन्धन है। उस स्वीकार अंश को कर्म, और अधीनता अंशको बन्धन जानना। रजोगुणसे ही जीव अनुराग का वशवर्त्ती हो कर कर्ममें आबद्ध होता है॥ ७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ ८॥

अन्वयः। हे भारत! तमः तु अज्ञानजं (अज्ञानात् जातं) सर्व देहिनां (सर्वेषां देहवतां) मोहनं (भ्रान्तिजनकं) विद्धि; तत् (तमः) प्रमादालस्यनिद्राभिः निबध्नाति॥ ८॥

अनुवाद। हे भारत! तमोगुण अज्ञानता से उत्पन्न है, इसलिये इसे सर्वदेहियें का भ्रान्तिजनक जानना। यह प्रमाद आलस्य और निद्रा द्वारा निबद्ध करता है॥ ८॥

व्याख्या। आवरण शक्ति-प्रधान अज्ञान नाम करके प्रकृति का एक अंश है। उस अज्ञानता से ही तमोगुण की उत्पत्ति है। यह अज्ञानज तमः सब प्राणियों को भ्रान्त करता है—आत्महारा करता है तथा प्रमाद, आलस्य और निद्रा द्वारा आबद्ध करता है।

[यह हुई प्रकृतिजात तमोगुण की बात। परन्तु शुद्धतमः जो है, वह प्रकृतिकी विश्राम भूमिका है, जिसे कैवल्य स्थिति कहते हैं। वह केवल, मुक्ति वा ब्राह्मी-स्थिति है। प्राकृतिक क्रिया वहां नहीं पहुंचती] ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ ९ ॥

अन्वयः। हे भारत! सत्त्वं सुखे सञ्जयति (संश्लेषयति), रजः कर्मणि सञ्जयति; तमः तु ज्ञानं आवृत्य (आच्छाद्य) प्रमादे उत (अपि) सञ्जयति ॥ ९ ॥

अनुवाद। हे भारत! सत्त्वगुण सुखमें तथा रजोगुण कर्ममें संयोजित करता है; और तमोगुण ज्ञानको आवृत करके प्रमाद में ही संयोजित करता है ॥ ९ ॥

व्याख्या। सत्त्वगुण प्रकाशशील है और एक जगह बैठकर सबको प्रकाशित करता है। जिन सबको प्रकाश करता है वे सब बाध्य हो करके प्रकाशक के वशीभूत होते हैं, इसलिये प्रभुता आपही आप आती है। इस प्रकारकी अवस्था भोगको ही प्राकृतिक सुख कहते हैं। इस सुखके साथ सत्त्वगुण मिलन करा देता है। रजोगुण क्रियाशील है, कार्य करने के लिये प्रेरणा करता है; वह एक जगह पर स्थायी नहीं है। इस गुणकी क्रिया

केवल चञ्चलता है। यह गुण कर्मके साथ मिलन करता है। और तमोगुण (अज्ञानता), कर्म और प्रकाशकका जो ज्ञान है, उसको छिपा रखकर उचित काजके विपरीत करवाता है; जिसमें अमंगल हो उसीके साथ मिलन करता है। जैसे स्वस्थ शरीरमें मादक द्रव्य प्रवेश कराकर अज्ञान (बेहोश) होकर पड़ा रहना; इत्यादि कर्मोंको ही प्रमाद कहते हैं। हे भारत ! शुद्ध तमोगुणकी जो कैवल्य स्थिति है, वह इस प्राकृतिक तमोगुणमें नहीं है ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

अन्वयः। हे भारत ! सत्त्वं (सत्त्वाख्यो गुणः) रजस्तमश्च (उभावपि) अभिभूय (तिरस्कृत्य) भवति (उद्भवति, स्वकार्ये सुख-ज्ञानादौ सञ्जयतीत्यर्थ); रजः (रजोगुणः) सत्त्वं तमश्च एव (उभावपि) अभिभूय भवति (स्वकार्ये तृष्णासंगादौ सञ्जयति), तथा तमः (तम आख्यो गुणः) सत्त्वं रजश्च (उभावपि गुणौ) अभिभूय भवति (स्वकार्ये प्रमादालस्यादौ सञ्जयतीत्यर्थः। ॥ १० ॥

अनुवाद। हे भारत ! सत्त्वगुण रज और तमोगुण दोनों को अभिभूत करके उद्भूत होता है (सुख ज्ञानादिमें संयोजनरूप स्वकार्य करता है), रजोगुण सत्त्व और तमोगुण दोनोंको अभिभूत करके उद्भूत होता है (तृष्णा संगादिमें संयोजनरूप स्वकार्य करता है), और तमोगुण सत्त्व और रजोगुण दोनोंको अभिभूत करके उद्भूत होता है (प्रमाद आलस्यादिमें संयोजनरूप स्वकार्य करता है) ॥ १० ॥

व्याख्या। हे भारत! यह जो तीनों गुण की बात कही हुई है, यह सब युगपत् उदय होकरके एक कालमें कोई कुछ कार्य कर नहीं सकते। जब सत्त्व का प्राधान्य होता है, तब रजः और तमः दोनों ही दबे रहते हैं। फिर रजोके प्रकाश-समयमें सत्त्व और तमः अभिभूत रहते हैं। तैसे तमो की क्रिया कालमें रज और सत्त्व विश्राम भोग करते हैं॥ १०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥११॥

अन्वयः। यदा अस्मिन् देहे सर्वद्वारेषु (श्रोत्रादिषु सर्वेष्वपि द्वारेषु) ज्ञानं (शब्दादिज्ञानात्मकः) प्रकाशः उपजायते, तदा उत सत्त्वं विवृद्धं विद्यात् (जानीयात्)॥ ११॥

अनुवाद। जब इस देहके समुदय द्वार में ज्ञानात्मक प्रकाश उत्पन्न हो, तबही जानना सत्त्वगुण विवृद्ध हुआ है॥ ११॥

व्याख्या। दश इन्द्रियोंका दश कार्य हैं, परन्तु विषय पाँच हैं। बार बार भोग करके प्राकृतिक शरीरमें इनका किसी एकका भी तृप्ति साधन नहीं होता। जितना भोग किया जाय उतनी ही भोग-लालसा की वृद्धि होती है। इस प्रकार भोग करते चलनेसे शतकोटी ब्रह्म-कल्पमें भी भोग-लालसा की शान्ति न हो करके वृद्धि

ही होती चलेगी। इससे तो आवागमन निवारण नहीं होगा। अतएव इन सबसे अत्यन्त निवृत्ति बिना मृत्युके हाथसे अव्याहति पानेका दूसरा उपाय नहीं है।

ज्ञानेन्द्रियोंका काम ग्रहण है, कर्मेन्द्रियोंका काज त्याग है। ये सब जितने दिन रहेंगे यह काजही करते रहेंगे। एक बार जिसको भोग किया है फिर जितनी बार उसको भोग करूंगा, प्रथम भोगके रस बिना दूसरी नवीनता उसमें नहीं है। तब यह उच्छिष्ट भोजन करके काल काटने से मतलब ही क्या? यह ज्ञान जब हृदयको सम्यक् रूपसे अधिकार करेगा, तबही सत्त्वगुण का अधिकार है, जानना। सर्वद्वार शब्द अन्तःकरणको समझाता है॥ ११॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ १२॥

अन्वयः। हे भरतर्षभ! लोभः (धनाद्यागमे बहुधा जायमानेऽपि यः पुनः पुनः वर्द्धमानोऽभिलाषः) प्रवृत्तिः (भोगेच्छा) कर्मणां आरम्भः (भोगेच्छा साधने उद्यमः) अशमः (इदं कृत्वेदं करिष्यामीत्यादिसङ्कल्पविकल्पानुपरमः) स्पृहा (दृष्टमात्रेषु वस्तुषु जिघृक्षा) एतानि (लिङ्गानि) रजसि विवृद्धे (सति) जायन्ते॥ १२॥

अनुवाद। हे भरतर्षभ! लोभ, प्रवृत्ति, कर्म समूह का आरम्भ,

अशम तथा स्पृहा, यह सब चिन्ह रजोगुण की वृद्धि होनेसे उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

व्याख्या। बहुत धनादि होनेसे भी और अधिक पानेके लिये जो लालसा बढ़ती रहती है, उसीका नाम लोभ है। विषय भोग करने वाली इच्छा का नाम प्रवृत्ति है। इच्छा पूरण करनेके लिये उद्यम करने का नाम कर्मारम्भ है। यह करूंगा, वह करूंगा, इस प्रकार कोई किसीसे मन की तृप्ति न होनेसे जो अशान्ति भोग होती है, उसी का नाम अशम है। पदार्थ देखते मात्र ही लेने की इच्छा होने का नाम स्पृहा है। जब मनमें इन सब वृत्तियां का उदय हो, तब ही जानना होगा कि रजोगुण की वृद्धि हुई है ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

अन्वयः। हे कुरुनन्दन ! अप्रकाशः (विवेकभ्रंशः) अप्रवृत्तिः च (अनुद्यमः) प्रमादः (कर्त्तव्यार्थानुसन्धानराहित्यं) मोहः (मिथ्याभिनिवेशः) एव च, एतानि तमसि विवृद्धे सति जायन्ते ॥ १३ ॥

अनुवाद। हे कुरुनन्दन ! अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह यह सब चिन्ह तमोगुणकी वृद्धि होनेसे उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या। काम काज करने की शक्ति सामर्थ्य सब

अन्वयः । सुकृतस्य (सात्त्विकस्य) कर्मणः सात्त्विकं (सत्त्व-प्रधानं) निर्मलं (प्रकाशबहुलं) फलं (सुखमित्यर्थः) आहुः (शिष्टाः), रजसस्तु (राजसस्य कर्मणः) दुःखं फलं आहुः, तमसः (तामसस्य कर्मणः) अज्ञानं (मूढ़त्वं) फलं आहुः ॥ १६ ॥

अनुवाद । शिष्ट गण कहे हैं कि, सात्त्विक कर्म का फल सत्त्व प्रधान तथा निर्मल, राजस कर्म का फल दुःख और तामस कर्म का फल अज्ञानता (मुढ़त्व) है ॥ १६

व्याख्या । सुकृत सात्त्विक कर्म का फल निर्मलत्व प्राप्ति (सुखलाभ) है । राजस कर्म का फल दुःख प्राप्ति (मनुष्य-लोकमें भला बुरा का झगड़ा) और तामसिक कर्म का फल अज्ञानता है अर्थात् आहार-निद्रा मैथुन-भय का प्रवाह चलाना । यह प्रवाह नीच जातीय मनुष्यसे लेकर स्थावर पर्यन्त है ॥ १६ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

अन्वयः । सत्त्वात् ज्ञानं संजायते (अतः सात्त्विकस्य कर्मणः प्रकाशबहुलं सुखं फलं भवति), रजसः लोभः एव च संजायते (तस्य च दुःखहेतुत्वात् तत्पूर्वकस्य कर्मणः दुःखं फलं भवति), तमसः प्रमाद मोहौ भवतः अज्ञानमेव च भवति (अतः तामसस्य कर्मणः अज्ञानमात्रं फलं भवतीति युक्तमेवेत्यर्थः) ॥ १७ ॥

अनुवाद । सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है । रजोगुणसे केवल

लोभोत्पन्न होता है और तमोगुणसे प्रमाद, मोह तथा अज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १७ ॥

व्याख्या। सत्त्वगुणका प्रकाश होनेसे "मैं" को समझा देता है। यह "मैं" क्या है, उसे जाननेका नामही ज्ञान प्राप्ति है। रजोगुणमें पराए द्रव्य को किसी प्रकारसे अपना कर लेने की लालसा बढ़ती है। तामसिक अवस्था ही प्रमाद, मोह और अज्ञानता की लीलाभूमि है ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

अन्वयः। सत्त्वस्थाः (सत्त्ववृत्ति प्रधानाः) ऊर्ध्वं गच्छन्ति (उत्तरोत्तरं ऊर्ध्वं सत्यलोकपर्यन्तान् लोकान् प्राप्नुवन्ति) राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति, जघन्यगुणवृत्तिस्थाः (तमोगुणस्य वृत्तौ प्रमादमोहादौ स्थिताः) तामसाः अधः गच्छन्ति ॥ १८ ॥

अनुवाद। सत्त्ववृत्ति प्रधान सात्त्विकगण ऊर्ध्व दिशामें गमन करते हैं, रजः प्रधान मनुष्यगण मध्यभागमें रहते हैं; और प्रमाद मोहादि तमोगुण की वृत्तिमें रहनेवाले तामसी जन अधोदिशामें जाते हैं ॥ १८ ॥

व्याख्या। सत्त्वगुण की सेवा करने वाले साधकगण ऊर्ध्वगति (स्वर्गके निम्नस्तरसे आदि लेके विष्णु दैवतके गोलकादि स्थानभोग, ऐसे कि परब्रह्ममें लय पर्यन्त) प्राप्त होते हैं। इसका लीलाक्षेत्र आज्ञा चक्रसे

प्रारम्भ होकर ऊंची दिशा में है । रजोगुणमें रहनेसे वासनाके बशमें रह करके काम काज करना पड़ता है । इसलिये रजोगुण साधनेवाले मनुष्यगण न ऊंचे न नीचे मध्य भागके लोकमें (कर्मभूमि मनुष्य-लोकमें) रह करके जन्ममृत्युके अधीन हो करके आवागमन करते रहते हैं । इसका लीलाक्षेत्र अनाहत चक्र है ।

जघन कहते हैं कटिदेश की सम्मुख दिशा के निम्न स्थानको । तमोगुण की लीलाक्षेत्र कामपुरचक्र होनेसे इसको जघन्य कहते हैं । मूर्त्तिमान काम और रति इस चक्रमें निवास करते हैं । यह रति और काम मिलित वृत्तियां जिसके अन्तः-करणमें खेलती रहती हैं, उसको जघन्यगुणवृत्तिस्थ कहते हैं । इसका लक्ष्य ऊर्ध्व दिशामें न रह करके अधो दिशामें रहता है, इसलिये अधोगतिको प्राप्त होता है । (१म अः १म श्लोककी व्याख्या देखो) ॥ १८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नते ॥ २० ॥

अन्वयः । यदा द्रष्टा (विवेकी भूत्वा) गुणेभ्यः (बुद्ध्याद्याकार-परिणतेभ्यः) अन्यं कर्त्तारं न अनुपश्यति, गुणेभ्यश्च परं व्यतिरिक्तं

तत्साक्षिणमात्मानं) वेत्ति, (तदा) सः (जीवः) मद्भावं (ब्रह्मत्वं) अधिगच्छति (प्राप्नोति) देही देहसमुद्भवान् (देहोत्पत्तिबीजभूतान्) एतान् त्रीन् गुणान् अतीत्य जन्ममृत्युजरादुःखैः विमुक्तः सन् अमृतं अश्नुते (परमानन्दं प्राप्नोति) ॥ १९ ॥ २० ॥

अनुवाद। जब जीव द्रष्टा होकरके सब गुण बिना दूसरे किसीको कर्त्ता रूपसे दर्शन नहीं करते और गुण समूहके अतीत तत्साक्षी स्वरूप आत्माको जान लेते हैं, तब वे (जीव) मद्भाव (ब्रह्मत्व) प्राप्त होते हैं। देही देहोत्पत्तिका बीज स्वरूप इन तीन गुणोंको अतिक्रम करके जन्म, मृत्यु, जरा दुःखसे विमुक्त हो करके परमानन्दको प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥ २० ॥

व्याख्या। जो देख आये इससे समझा गया कि वह तीन गुण ही कार्य, कारण और विषय बनकर के रूप बदलाते हुए बहुरूपीका खेल खेलता है। बालू, मट्टी, पत्थर आदिमें निर्जीवका और मानुष, पशु, पक्षी आदिमें सजीवका दृश्य दिखलाकर एक जगत् खड़ा करके झगड़ा करता है। इस झगड़ेका कर्त्ता भी उन तीन गुण बिना और कोई नहीं है। दृढ़ अभ्यासके बलसे जो विद्वान इन तीन गुणोंको ही उस समस्त अवस्था और उस अवस्था समूहका स्रष्टा कर्त्ता रूपसे प्रत्यक्ष करते हैं तथा गुणोंसे अतीत साक्षीस्वरूप आत्मा को जानते हैं, वे पुरुषही उन गुण-व्यापारोंका साक्षी हो करके "मैं" का स्वरूप लाभ करते हैं, अर्थात्

मेरे वासुदेव-भाव ("वासुदेवः सर्वमिति" इस अपरोक्ष ज्ञान) को प्राप्त होते हैं । किस प्रकारसे वासुदेवत्व प्राप्त होते हैं ?—कि उन तीन गुणोंके बनाए हुए स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरमें उस विद्वानको उस परिचित गुण समूह और छिपाकर रख नहीं सकते । उनके सामने उन तीन गुणोंका टूटा हुआ इन्द्रजाल और जुड़ नहीं सकता । देह ही उत्पन्न हो करके जन्म, मृत्यु, जरा दुःख भोग करवाता है । परन्तु उस देहके उत्पन्न होनेका कारण नष्ट हो जानेसे, कार्य फिर प्रकाश नहीं होता । भोगाधार के अभावसे (देह-ज्ञान न रहनेसे) जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखके जो अनुत्थान है, उसीको त्रिगुणातीत स्वरूप प्राप्ति तथा देहीका अमरत्व लाभ वा मुक्ति कहते हैं, वही होता भी है ॥ १९ ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच ।

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते ॥२१॥

अन्वयः । अर्जुनः उवाच । हे प्रभो ! (देही) कैः लिङ्गैः (कीदृशैरात्म-चिह्नैः) एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः (अतिक्रान्तः) भवति ? किमाचारः (कः अस्य आचारः) ? कथं (केन उपायेन) एतान् त्रीन् गुणान् अति-वर्त्तते (अतीत्य वर्त्तते) ? ॥ २१ ॥

अनुवाद। अर्जुन कहते हैं। हे प्रभो! देही कौन कौन चिह्न द्वारा इन तीन गुणोंसे अतीत होते हैं! वह पुरुष किस प्रकार आचार विशिष्ट होते हैं?—कौन उपायसे इन तीन गुणोंको अतिक्रम करके अवस्थान करते हैं? ॥ २१ ॥

व्याख्या। गुणकर्म-विकारके वशसे चलने फिरनेमें अभ्यस्त साधक गुणातीत अवस्थाका चाल चलन स्थिति और देह धारण करके अमृत भोग यह सब कैसा है, जाननेके लिये अव्यवहित पूर्वका निजबोधरूप अवस्था को लक्ष्य करके कहते हैं कि—हे प्रभो! कैसे उन तीन गुणोंको अतिक्रम करना होता है? किस लक्षणसे गुणातीत महात्मन् को पहिचाना जाता है? और उन महात्माओंके आचार व्यवहार किस प्रकार हैं, वही तुम मुझसे कहो ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच।

प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्त्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेंगते ॥ २३ ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्योमित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

अन्वयः । श्रीभगवान् उवाच । हे पाण्डव ! (यः) प्रकाशं च (सत्त्वकार्यं) प्रवृत्तिं च (रजःकार्यं) मोहं च (तमःकार्यं) एव— (एतानि कार्याणि यथायथ) संप्रवृत्तानि सन्ति (स्वतः प्रवृत्तानि सन्ति) न (दुःखबुद्ध्या) द्वेष्टि, निवृत्तानि च सन्ति न (सुख-बुद्ध्या) कांक्षति; यः उदासीनवत् (साक्षितया) आसीनः (स्थितः) सन् गुणैः (गुणकार्यैः सुखदुःखादिभिः) न विचाल्यते, (अपि तु) यः गुणाः (स्वकार्येषु) वर्त्तन्ते इत्येवं (मत्वा) अवतिष्ठति न ईङ्गते (न चलति); यः समदुःखसुखः, स्वस्थः (आत्मनि स्थितः) सम-लोष्टाश्मकाञ्चनः, तुल्यप्रियाप्रियः धीरः (धीमान्), तुल्यनिन्दात्म-संस्तुतिः, मानापमानयोः तुल्यः, मित्रारिपक्षयोः तुल्यः, सर्वारम्भ-परित्यागी, सः गुणातीतः उच्यते ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

अनुवाद । श्रीभगवान कहते हैं । प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह इन सब गुणकार्यके संप्रवृत्त होनेसे (तत्तावत्के प्रति) जो साधक द्वेष नहीं करते; और निवृत्त रहनेसे भी (तत्तावत्के प्रति) आकांक्षा नहीं करते, जो साधक उदासीनवत् आसीन रह करके गुणसमूहके कार्य द्वारा विचलित नहीं होते, (अपि तु) गुणसमूह अपने अपने कार्यमें ही हैं, इस प्रकार समझ करके स्थिर भावमें अवस्थित रहते हैं, चञ्चल नहीं होते, सुख दुःखमें जिस साधक को समान ज्ञान, जो साधक स्वस्थ (आत्मामें स्थित), लोष्ट, अश्म और काञ्चनमें जिस साधकका

समान ज्ञान, प्रिय और अप्रिय जिनके लिये बराबर है, जो धीर, जिनका निन्दा और प्रशंसामें तुल्य ज्ञान, मान और अपमानमें जो साधक तुल्यभावापन्न, मित्र और अरिपक्षमें भी जिनका समान ज्ञान हैं, और जो साधक सर्व प्रकार उद्यम परित्यागी हैं, वेही साधक गुणातीत कह करके उक्त होते हैं ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

व्याख्या। हे पाण्डव! यह जो सत्त्व का कार्य प्रकाश, रजो का प्रवृत्ति और तमो का मोह है, इनमें जो साधक अनुराग वा विराग नहीं करते; गुण भी गुण है और गुणोंके कार्यसमूह भी रूपान्तरित गुण हैं, इस प्रकार समझ करके गुणोंके द्रष्टा हो करके जो साधक स्वस्वरूप प्राप्त होनेके लिये प्रवृत्ति का त्याग और कष्ट तथा मूढ़त्वका लोप करनेके लिये निवृत्तिकी आकांक्षा करें, उन्हींको गुणातीत कहते हैं।

जो ऊंचेमें बैठा है उसको जैसे नीचेमें बैठ करके कोई छू नहीं सकते, तैसे ही गुण और गुणोंके कार्यसे पृथक् हो करके जो साधक गुण और गुणोंके कार्य द्वारा बाधा बिघ्न बोध न करें, जो साधक स्वस्थ अर्थात् सदाकाल स्वस्वरूपमें स्थित हैं; सुख, दुःख, लोष्ट (मिट्टीका टुकड़ा), अश्म (पत्थरका टुकड़ा) काञ्चनादिमें भिन्न ज्ञान जिनका मिट गया है; प्रिय और अप्रिय कह करके कोई वृत्ति जिनके अन्तःकरणमें उदय नहीं होती; जिनको निन्दा स्तुति,

मान अपमान, शत्रु मित्रमें भेद बोध नहीं है, जिस साधक में सर्व प्रकार प्रारम्भ का ही परित्याग हो चुका (जो किसी प्रकारके काम काज का प्रारम्भ ही नहीं करते), उन्हीं को गुणातीत कहते हैं ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥
ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

अन्वयः । यः मां च (परमेश्वरं) अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते, सः एतान् गुणान् समतीत्य (सम्यगतिक्रम्य) ब्रह्मभूयाय (मोक्षाय) कल्पते (समर्थो भवति); हि (यस्मात्) अहं ब्रह्मणः प्रतिष्टा (प्रतिमा घनीभूतं ब्रह्मैवाहं), तथा अव्ययस्य (नित्यस्य) अमृतस्य च (मोक्षस्य) शाश्वतस्य धर्मस्य च, ऐकान्तिकस्य (अखण्डितस्य) सुखस्य च (प्रतिष्ठा अहं परमानन्दरूपत्वात्) ॥ २६ ॥ २७ ॥

अनुवाद । जो साधक मेरी ही अनन्य भक्तियोग द्वारा सेवा करते हैं, वे इन समस्त गुणोंको सम्यक् अतिक्रम करके ब्रह्मस्वरूप लाभ करनेमें समर्थ होते हैं, क्योंकि मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा (प्रतिमा), तथा अव्यय का और अमृतका, शाश्वतधर्म का और ऐकान्तिक सुखका भी प्रतिष्ठा हूं ॥ २६ ॥ २७ ॥

व्याख्या। यह जो "मैं" है, जो मैं केवल अकेला हूँ,

जिसमें कोई संयोग वा वियोगरूप व्यभिचार का छाप लगाया नहीं जा सकता, ऐसे "मैं" को गुरूपदिष्ट मतसे अव्यभिचारी रखके, व्यभिचार शून्य हो करके जो साधक मिल जाने की चेष्टा करते हैं, वे साधक समस्त गुणोंको अतिक्रम करके ब्रह्म शब्दका जो अर्थ है वही हो जाते हैं। वह ब्रह्म ऐसा है:--जो केवल है ही है, जिसका कोई परिणाम नहीं, जो अव्यय, जो चिरन्तन, जो धर्म, जो अत्यन्त सुख वही (ब्रह्म) है।

"ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहं" इस वचन का अर्थ है कि मैं ब्रह्म की प्रतिमा, अर्थात् घनीभूत ब्रह्म ही मैं वा कूटस्थ चैतन्य हूं; जैसे घनीभूत प्रकाश को सूर्यमण्डल कहते हैं। तेज वा ताप अदृश्य, परन्तु सर्वव्यापी है, कम वा अधिक परिमाणसे (सूक्ष्म वा अति महीन हो करके) सर्व पदार्थोंमें वर्त्तमान है। वही तेज एक स्थान में जमते जमते—उष्णता बढ़ते बढ़ते क्रम अनुसार जैसे जम करके घन हो करके ज्योतिर्मयरूप धारण करके अग्निशिखा नाम लेते हैं, तैसे सर्वव्यापी अतिसूक्ष्म अदृश्य चैतन्यसत्त्वा (ब्रह्म-पदार्थ) कूटमें घन हो कर प्रकाश रूप धारण कर "अहं नाम ग्रहण करते हैं। इसलिये इस "अहं" वा "मैं" को घनचैतन्य कहते हैं। इस कारण करके ही अरूप ब्रह्म की प्रतिष्ठा (प्रतिमा मूर्त्ति वा रूप) है "अहं"—मैं। ब्रह्म अव्यय-

स्वरूप, अमृतस्वरूप शाश्वत धर्मस्वरूप और ऐकान्तिक सुखस्वरूप है। परन्तु "अहं" ब्रह्म की प्रतिमा हूं। इसलिये परमानन्दरूप यह "अहं"—कूटस्थ-चैतन्य उत्तम-पुरुष इन सबकी ही प्रतिष्ठा है ॥ २६ ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुन संवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम
चतुर्दशोऽध्यायः ।

पञ्चदशोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

अन्वयः । ऊर्ध्वमूलं (अव्यक्तमायाशक्तिमत् ब्रह्म ऊर्ध्वं तन्मूलमस्येति) अधःशाखं (महदहंकारतन्मात्रादयः शाखा इवास्याधो भवन्तीति) अश्वत्थं (क्षणप्रध्वंसिनं संसारवृक्षं) अव्ययं प्राहुः (अनादिकालप्रवृत्तत्वात् प्रवाहरूपेणाविच्छेदाच्च), छन्दांसि (वेदाः) यस्य (संसारवृक्षस्य) पर्णानि (पर्णस्थानीयाः); यः तं (एवम्भूतमश्वत्थं) वेद, स एव वेदवित् (वेदार्थवित्) ॥ १ ॥

अनुवाद । ऊर्ध्वमूल तथा अधःशाख अश्वत्थको अव्यय कहते हैं, समूह छन्द जिसका पत्र स्वरूप है; उस अश्वत्थको जो जानते हैं, वेही वेदार्थवित् हैं ॥ १ ॥

व्याख्या । १४ अध्याय २७ श्लोक में जो "ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहं" वचन कहा हुआ है, वह अहं किस प्रकार का है ? इस शरीर को अश्वत्थ वृक्ष सजाय करके जिससे क्षुद्रबुद्धि जीव उस अहं शब्दका मर्मार्थ शीघ्र जान सकें; निजबोध विचारसे ऐसी चेष्टा होती है।

संसार एक वृक्षस्वरूप है। यह वृक्ष जीवमय है।

इसलिये संसार का नाम जीवजगत् है। अव्यक्त माया-शक्तिमत् ब्रह्म ही संसार का मूल-कारण है। इस मूल-कारणसे कार्यविस्तार प्रारम्भ होते हुए महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा प्रभृति कार्योंकी विविध शाखा उत्पन्न हुई हैं। वही देव, असुर, गन्धर्व, किन्नर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग प्रभृति नाना प्रकार जीवोंके अधिष्ठान है। अतएव हिरण्यगर्भादि यावतीय जीव संसार-वृक्ष की शाखास्थानीय हैं। इन सब जीवोंके शरीरका ऊर्ध्व स्थान मस्तक है; उस मस्तकमें ब्रह्मरन्ध्रही उस मायामत् ब्रह्मका स्थान है। उसीसे ही कार्य-विस्तार प्रारम्भ होकरके महत्तत्त्व अहंकार, तन्मात्रा इत्यादि रूपसे उत्पन्न २४ तत्त्व क्रम अनुसार सप्त स्वर्ग और सप्त पाताल समन्वित तथा हस्त-पद-अंगुली विशिष्ट स्थूल आकार में परिणत हो करके शाखा स्वरूप से अधोदिशामें विस्तृत हुआ है। इसलिये संसारको (जीवशरीरको) ऊर्ध्वमूल तथा अधःशाख कहते हैं। जीव निरन्तर परिणामशील है। अभी आज जीते हैं, कल रहेंगे कि नहीं इसका कोई ठौर ठिकाना नहीं है। इस कारण संसारको "अश्वत्थ" (आने वाले प्रभात काल पर्यन्त जिसकी स्थितिका निश्चय नहीं) अर्थात् क्षण-विध्वंसी कहते हैं। यह जीव-

शरीर सर्वदा ध्वंस होते रहनेसे भी, सदा काल जन्म लेता रहता है, इसलिये इसका और व्यय नहीं—क्षय भी नहीं है। जैसे नदी जलका प्रवाह है। नदीमें थोड़ा सा जल आया, तत्क्षणात् वह समुद्रकी ओर चला गया, उसके स्थानमें तत्क्षणात् फिर उतना जल आ पहुंचा वह भी चला गया, फिर आया, इसी तरह जलके अविछिन्न आने जानेसे नदीका स्रोत (प्रवाह) अखण्ड रहता है, निपटता नहीं; किन्तु अवश्य वही जल उसी स्थान पर नहीं रहता परन्तु नदीका जल प्रवाहाकारमें अव्यय—अक्षय—अनन्त हो करके रहता है। उसी तरह जीव-जगत् भी जीवके प्रवाहसे अव्यय—अक्षय—अनन्त है। इस कारणसे इस संसारको "अव्यय" कहा जाता है। सब छन्द इस वृक्षके पत्र स्वरूप हैं। छन्द है वेद अर्थात् जाननेकी जो कुछ क्रिया। जाननेके विषय दो हैं:—कर्म और ज्ञान। भूतभावके उद्भव करनेवाले विसर्गका नाम कर्म है (८म अः देखो)। अर्थात् प्राकृतिक २४ तत्त्वोंके अनुलोम और प्रतिलोम प्रकरणमें भीतर बाहर जितने प्रकारके मिश्र अमिश्र क्रिया हो सकें, वे सबही कर्म हैं। इसलिये कर्मही विज्ञान है। और प्राकृतिक तत्त्व तथा आत्मतत्त्वका स्वरूप और सम्बन्ध बोध होना ज्ञान है। इस कर्म और ज्ञानको जिससे जाना जाता है, वही वेद

हैं । वेद त्रैगुण्यविषय और ऋक्, यजु, साम, अथर्वन् इन चार अंशोंमें विभक्त है (२य अः ४५ श्लोककी व्याख्या देखो) । वेद इन त्रिगुणमय कर्म और ज्ञानसे संसारको छाह रक्खा है। इसलिये वेद संसार वृक्षके पत्र-स्वरूप है। पत्र वृक्षकी शोभा और सजीवताका परिचायक है; कर्म और ज्ञान भी उसीतरह संसारकी शोभा तथा जीवके जीवत्वका निदर्शक है । पत्र वृक्षकी रक्षाके लिये और छायाकारक है; सूर्यतापसे उत्तप्त प्राणीगण उसी छायेमें आकर शान्ति लेते हैं; परन्तु पत्रोंके आवरण से महाकाशकी गाढ़ नीलिमाकी मनोमुग्ध करने-वाली अनन्त-विस्तृत अखण्ड महिमा ढंकी रहती है। उसी तरह वेद भी कर्म और ज्ञानरूप छायासे संसारका अस्तित्व बना रखता है तथा जीव उस कर्म और ज्ञानके आश्रयमें आ करके त्रिताप-ज्वालासे शान्त होते हैं; परन्तु वेद त्रैगुण्यविषय होनेसे उस वेदके आश्रयमें रहनेसे निस्त्रैगुण्य अवस्थाका विमल आनन्द नहीं मिलता—अनन्त अव्यक्त महिमामें मन प्राण लय नहीं होता, त्रिगुणके भीतर प्राकृतिक अधिकारमें ज्ञान और कर्मकी क्रियामें आत्महारा हो करके रहना होता है। जो भाग्यवान साधक सद्गुरुकी कृपासे आत्मज्ञान लाभ करके ज्ञानदृष्टि द्वारा उक्त रूप मूल-शाखा-पत्रयुक्त

संसार-वृक्षको (देहको) जान लिये--यथार्थ रूपसे प्रत्यक्ष कर लिये, वेही वेदार्थवित् हैं * ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्यशाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

अन्वयः। तस्य (संसारवृक्षस्य) शाखाः (शाखास्थानीयाः हिरण्यगर्भादयः जीवाः) अधश्चोर्ध्वं प्रसृताः (जीवानां मध्ये ये दुष्कृतिनः ते अधः पश्वादियोनिषु विस्तारं गताः सुकृतिनश्चोर्ध्वं देवादियोनिषु प्रसृताः), गुणप्रवृद्धाः (उपादानभूतैः सत्त्वरजस्तमोभिः गुणैः स्थूलीकृताः), विषयप्रवालाः (विषयाः रूपादयः प्रवालाः पल्लव-स्थानीया यासां ताः) मूलानि अधश्च (च शब्दादूर्ध्वं च) अनुसन्ततानि (विरूढानि, मुख्यं मूलमीश्वर एव इमानि त्वन्तरालानि मूलानि तत्तद्भोगवासनालक्षणानि), मनुष्यलोके कर्मानुबन्धीनि (कर्म एव अनुबन्धी उत्तरभावी येषां तानि)॥ २ ॥

अनुवाद। उसी संसार-वृक्ष की शाखा समूह अधो और ऊर्ध्व दिशामें विस्तृत हैं, गुणत्रय द्वारा प्रवर्द्धित तथा विषयरूप पल्लव-संयुक्त

---

* स्वयं भगवान ही वेदवित् हैं, क्योंकि पश्चात् १५श श्लोकमें है "वेदविदेव चाहं"। किन्तु साधक भी क्रमोन्नतिसे जिस प्रकार क्षेत्रज्ञ पद लाभ करते हैं, उसी प्रकार वेदवित् होते हैं। (७९२ पृ० पादटीका देखो)।

हैं, मूल सब अधोदिशामें भी विरूढ़ और मनुष्यलोकमें कर्मानुबन्धी (धर्माधर्मलक्षण कर्मके उत्पादक) हैं ॥ २ ॥

व्याख्या । वह जो अधःशाखा हाथ और पग इत्यादि पूर्व श्लोकमें कही गयी हैं, यह सबही कर्मकरी शक्तिको लक्ष्य करके कही हुई हैं । यह कर्म दो प्रकारके हैं, भला और बुरा । भला सब ऊर्ध्वगति और बुरा सब अधोगति लिये । भली गति जो लोग लिये, वह लोग मूलाधारसे क्रम अनुसार इस जगत्की सृष्टिकरी शक्तिको अपने कब्जेमें लाकर अबाध-आज्ञा पाके ब्रह्मा सज बैठे । साधनही इसका मूल है । और जो लोग अधोगति लिये, वे सब आज्ञाचक्रसे प्रारम्भ करके नीचे दिशामें मनुष्यसे स्थावर पर्यन्त हुए । यह जो होना है, सब सत्त्व रजः तमः तीन गुणकी महिमासे है । वासना समूह इसका मूल है । जिस प्रकार गुणकी वृद्धि, उसी प्रकार विषय का ग्रहण होता है । साधक ! बाहरमें जो यह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धको भोग करते हो, वह सबभी विषय हैं । फिर सुषुम्नाके भीतर ब्रह्मनाड़ीका आश्रय करके जब तुम सहस्रारमें श्रीगुरुपदमें मिलनेके लिये जाते हो, उस ब्रह्मनाड़ीके भीतर भी तुमको शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध भोग करके जाना होता है । ब्रह्मनाड़ीके विषय समूह ब्रह्मज्ञान दे करके ब्रह्ममें मिला देता है, और

बाहरके सब (विषय) जिसमें कर्मबन्धन हो ऐसे अणुको आश्रय कराके मनुष्य-लोकसे अवीचि नरक पर्यन्त भोग कराता है ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढ़मूल-
मसंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्त्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

अन्वयः । इह (संसारे) अस्य (संसारवृक्षस्य) न तथा (ऊर्ध्व-मूलत्वादिप्रकारेण) रूपं, न अन्तः (अवसानं) न च आदिः, न च संप्रतिष्ठा (स्थितिः) उपलभ्यते; सुविरूढ़मूलं (अत्यन्तबद्धमूलं) एनं अश्वत्थं असंगशस्त्रेण (असंगः अहंममतात्यागः तेन शस्त्रेण) दृढ़ेन (सम्यग्विचारेण) छित्त्वा (पृथक् कृत्वा) ततः (पश्चात्) यस्मिन् (पदे) गताः (प्रविष्टाः) भूयः (पुनः संसाराय) न निव-र्त्तन्ति (नावर्त्तन्ते) तत्पदं परिमार्गितव्यं (अन्वेष्टव्यं); यतः (यस्मात् पुरुषात्) पुराणी प्रवृत्तिः (चिरन्तनी संसारप्रवृत्तिः) प्रसृता

(विस्तृता) तं एव च आद्यं पुरुषं प्रपद्ये (शरणं व्रजामि इत्येवमेकान्त-भक्त्या अन्वेष्टव्यमित्यर्थः) ॥ ३ ॥ ४ ॥

अनुवाद। इस लोकमें इस संसार-वृक्ष का न उस प्रकारका (ऊर्ध्वमूलत्वादि प्रकार) रूप, न अन्त, न आदि, न स्थिति उपलब्धि होती है; अत्यन्त बद्धमूल इस अश्वत्थ को असंग रूप शस्त्रद्वारा दृढ़ रूपसे छेदन करनेके पश्चात् जिस पदमें गमन करने वाले साधकगण पुनराय लौट नहीं आते, उसी पद का अन्वेषण करना होगा, जहांसे पुराणी संसारप्रवृत्ति विस्तृत हुई है, उसी आद्य पुरुष की शरण लेता हूं, (इस प्रकार एकान्त भक्ति द्वारा अन्वेषण करना होगा) ॥३॥४॥

व्याख्या। यह जो कल्पना का संसार अश्वत्थ वृक्ष बनाया गया, वह जैसे आकाश में मेघ से गढ़ा हुआ नगर सदृश असत्य है। मेघ के परिवर्त्तन से नगराकार नष्ट होजानेसे भी अन्तःकरण में पूर्वदृष्ट नगरका जो छाप लग चुके, वहछाप जैसे और मिटाया नहीं जासकता, बहुकालके बाद प्रयोजन अनुसार स्मृतिके सहारेसे अन्तःकरण जैसे उस नगरको अपने क्षेत्र में फिर दिखला देता है, परन्तु तब (उस समय) उस नगर के रूपका कोई चिह्न भी आँखके सम्मुख शरीरके बाहर विद्यमान नहीं रहता है, मनका खेल मनके भीतर मनही मन में जैसे सब देख चुके; तैसे उस काल्पित संसार अश्वत्थवृक्षका कोइ रूप नहीं, केवल कल्पनाही

कल्पना है। इसलिये इसका प्रथम, शेष अथवा मध्यभाग निर्देश किया नहीं जा सकता। जो आदौ नहीं है, उसका मध्यभाग और शेष क्या? तथापि यह जो अश्वत्थ वृक्ष बनाया गया है, उस मन-गढ़न्त वृक्षकी छाप अन्तःकरण ने ले चुका; कालान्तरमें चाहे इस जन्ममें होय, चाहे शतान्ते होय, कभी न कभी स्मृतिके सहारासे उसको फिर उदय करावेगा। दिन जितना अधिक वीतेगा, उतनाही यह कल्पना अन्तःकरण क्षेत्रमें गभीरसे गभीरतर होती रहेगी। तदनुसार इसकी शक्ति भी वृद्धि होती रहेगी। दृढ़ अभ्यासके द्वारा परा वैराग्यके सहायता से उपेक्षा करते करते जब इस संसारके ऊपर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिमें भी मिलनकी इच्छा न उठेगी, तबही वह सुदृढ़मूल काल्पनिक स्मृतिका खण्डन होवेगा। उस स्मृतिको खण्डन करनेका उवाय भी वही परा-वैराग्य वा उपेक्षा है।

वह परा वैराग्य आज्ञाचक्रके ऊपरसे प्रारम्भ होता है। साधक! तुम देखो, संसारकी जो कुछ लीला आज्ञाचक्र पर्यन्त पड़ी रहगयी। इस बेर तुम आज्ञाचक्र के ऊपर उठे हो; अब तुम निष्क्रिय हो। यह देखो तुम्हारा स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर और नहीं है। और तुम प्रकृतिके गर्भके विम्ब नहीं हो। प्रशान्त असीम जलराशिमें

बूंदभर तेल फेंक देनेसे सब जलके ऊपरको छाह लेने के लिये तेलका अणुसमूह जैसा दौड़ता है, तैसे तुम अब असीम विस्तारमें कैसे मिल जाते हो उसे देखो। यह देखो, विशुद्ध पारद राशिसे भी अधिक क्या एक अपूर्व ज्योति तुम्हारे सामने है। हरि! हरि! वह देखो! वह ज्योति और कुछ भी नहीं है, तुमहीसे ज्योति बाहर निकलके तुम्हारे पश्चात् दिशामें प्रवाहाकारसे दौड़ता है। ज्योतिकी सीमा नहीं, कहांसे निकलती है, तुमभी उसे कहनेकी इच्छा नहीं रखते। परन्तु तुम घोर नव-घन सदृश गाढ़तम, अवोधगम्य, ज्ञान और विचारके अतीत क्या एक असीम होने चले। वह असीम ही विष्णु-रूप है। विष्णु कहते हैं व्यापक-चैतन्य आत्माको। और वह जो असीम होते जाना है, वही वैष्णवी मार्ग है। विष्णु में तुम मिलकर विष्णुत्व ले लेते हो इसलिये तुम वैष्णव हो। विष्णुका जो उपासक वही वैष्णव है। अब और एक अपूर्व शोभा देखो। उस नवीन नीरदोपम चैतन्यघनसे नीचे दिशामें महत् प्रकाशकी ज्योति दौड़ती है। यही प्रकृति और पुरुषका संयोग है इसके ठीक सन्धिमें अब तुम हो। अच्छी तरह देखकर (प्रत्यक्ष कर) समझ लो। उस ज्योतिने तुम्हारी जितनी जगह आक्रम कर लिया, उतनाही उसका अधिकार है। और उस अधिकारके

भीतर जितना तुम हो तुम्हारा उतनाही उसके संगीका अर्थ प्रकाश करता है। क्या अपूर्व शोभा है यह रोशनी—अन्धकारका एकत्र समावेश ! विपरीत गतिसे जो धारा प्रवाह बहता है, वह सृष्टिमुखी वृत्ति नामसे चिरन्तनी मायाका प्रसारण है। और तुम जो संसारसे निवृत्तिको लेकर उठ आये, यही उस प्रवाहकी दक्षिण गति है, इसलिये इस गतिका नाम राधा है। धाराके विपरीत ही "राधा" है। और यह गति आकरके तुम में मिल करके "मैं" हो जाती है; यही कृष्ण है। इस लिये साधकगण कहते हैं—"वामे ताड़ितचार्व्वंगी राधा दक्षे सुश्यामलं। कृष्णं कमलपत्राक्षं राधाकृष्णं भजाम्यहं॥" यह जो पद है, यह जो "मैं" पद है, इस "मैं" में आ पड़नेसे अर्थात् संसारी-शरीरका शेष निःश्वास त्याग करके इस "मैं" में आ पहुंचनेसे और पुनः संसार-गति नहीं होती। तुमही यह अनादि पुरुष "मैं" हो, जिस में से वह देखो पुराणी महामाया प्रवृत्तिकी प्रसारण करती है। यह पथ ही मुमुक्षु साधकोंके अन्वेषण योग्य है ॥ ३ ॥ ४॥

निर्मानमोहा जितसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

अन्वयः । निर्मानमोहाः (मानमोहवर्जिताः) जितसंगदोषाः (जितः पुत्रादिसंगरूपो दोषो यैस्ते) अध्यात्मनित्याः (परमात्मस्वरूपालोचने तत्पराः) विनिवृत्तकामाः (विशेषेण निवृत्तः कामो येभ्यस्ते) सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः (सुखदुःखसंज्ञानि शीतोष्णादीनि द्वन्द्वानि तैर्विमुक्ताः) अतएव अमूढाः (निवृत्ताविद्याः सन्तः) तत् अव्ययं पदं गच्छन्ति ॥ ५ ॥

अनुवाद । जो साधकगण मान तथा मोह वर्जित हुए हैं, जो लोग पुत्रादि संग रूप दोषको जय किये हैं, जो लोग परमात्म स्वरूप आलोचनमें तत्पर हैं, जिनकी कामनाने विशेष रूप निवृत्ति पायी है, जो लोग सुख दुःख नाम करके द्वन्द्वसे विमुक्त हुए हैं, वे सब अमूढ़ (अविद्या परिशून्य) हो करके उसी अव्यय पदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या । "क्रिययोरन्तरं युक्त विश्रामो मानमुच्यते।"—एक क्रिया की समाप्ति हुई, भविष्यत्में और एककी आशा है, इन दोनोंके बीचमें जो विश्राम, वही मान है; और विश्वजगत्की समस्त क्रियाके शेषमें जो विश्राम है उसीको "निर्मान" कहते हैं ।

मैं को छोड़कर और किसीमें "मैं" त्व स्थापन करके जो अज्ञानतामें मतवाला होके रहना, वही मोह है ।"मम माता मम पिता ममेयं गृहिणी गृहं । एतदन्यं ममत्वं यत्

स मोह इति कीर्त्तितः ॥ " और सत्य "मैं" में रहनेका नाम "निर्मोह" है।

मैं को छोड़ करके दूसरे और किसीके साथ मिलने की इच्छा भी संगदोष है। यह इच्छा अन्तःकरणसे एकदम मिटा करके जो स्थिति, वही "जितसंगदोष" अवस्था है।

सबको छोड़ करके बुद्धि जब केवल आत्मा को लेकरके विभोर रहती है, उस अवस्था को "अध्यात्म-नित्य" कहते हैं।

"मैं" बिना और किसीकी प्राप्ति लालसाका नाम काम है। और समस्त प्राप्ति-इच्छा लय होनेके पश्चात् जो ब्राह्मीस्थिति, वही "विनिवृत्तकाम" अवस्था है।

परस्पर विरुद्ध दोनोंका नाम द्वन्द्व है, जैसे शीत-उष्ण सुख-दुःख, राग-द्वेष इत्यादि। इन सबके अत्यन्त निवृत्ति का नाम "द्वन्द्वविमुक्ति" अवस्था है।

यह समस्त अवस्था जिनमें अविच्छेद प्रकाश रहता है, वे साधक अमूढ़ नाम पाते हैं। और वह अमूढ़ ही अव्यय तत्पदको लाभ करते हैं ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

अन्वयः। तत् (पदं सूर्यः) न भासयते (प्रकाशयति), शशाङ्कः न

भासयते, पावकः न भासयते; यत् गत्वा (प्राप्य) न निवर्त्तन्ते (योगिनः इत्यर्थः), तत् मम परमं धाम (स्वरूपं) ॥ ६ ॥

अनुवाद । उस तत्पदको सूर्य प्रकाश कर नहीं सकता, चन्द्र प्रकाश कर नहीं सकता, अग्नि भी प्रकाश कर नहीं सकता, जहां जानेसे योगीगण और प्रत्यावर्त्तन नहीं करते वही हमारा परम धाम (स्वरूप) है॥ ६॥

व्याख्या। सूर्य महान् ज्योतिसमष्टि होने पर भी उस तद्विष्णुके परमपदको अपनी ज्योतिसे प्रकाश नहीं कर सकता, चन्द्र भी कर नहीं सकता, अग्नि भी नहीं कर सकती; क्योंकि इन तीनोंमें किसीमें भी उस तत्पदमें पहुंचने वाली शक्ति नहीं है। परन्तु यह विष्णुका परमपद ही अपने तेजः प्रभावसे उन तीनों ज्योतिष्कों को प्रकाश कर रहा है। इस तद्विष्णुका परमपदको प्राप्त होनेसे संसारमें फिर पुनरावृत्ति नहीं होती, यही "मैं" का परमधाम (विश्राम स्थान) है ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७॥

अन्वयः । मम (परमात्मनः) एव अंशः जीवलोके (संसार) सनातनः (पुरातनः) जीवभूतः (भोक्ता कर्त्तेति प्रसिद्धः) सन् प्रकृतिस्थानि (प्रकृतौ स्वस्थाने कर्ण शष्कुल्यादौ स्थितानि) मनः षष्ठानि मनः षष्ठः येषां तानि इन्द्रियाणि (श्रोत्रादीनि (कर्षति) आकर्षति) ॥ ७ ॥

अनुवाद। जीवलोकमें हमाराही अंश सनातन जीव स्वरूप हो करके प्रकृतिस्थित मन और श्रोत्रादि पञ्च इन्द्रियोंको आकर्षण करता है॥ ७॥

व्याख्या। जब जीवकी चिरन्तन क्रिया आवागमन है, तब जीव परमधाममें जानेसे फिर क्यों न लौट आवेगा? यह बात समझानेके लिये श्री भगवान कहते हैं कि, जीव हमाराही अंश, तथा हमाराही मायाभ्रमसे भिन्नभावापन्न हो रहा है; मायाका भ्रम जितने दिन रहेगा, उतने दिन आवागमन चलेगा; असंगरूप शस्त्रसे मायाभ्रम का मूल छेद करते मात्रही भिन्नभाव मिट जाता है, मेरा अंश "मैं" मेंही मिल जाता है और आने जाने नहीं होता।

इस भावको दृष्टान्त दे करके समझाया जाता है कि—जैसे एकही सूर्यरश्मि जलतरंगके ऊपर पड़ करके असंख्य जलसूर्य होता है, तैसे एक परमात्माका प्राकृतिक तरंगमें प्रतिफलित होनेसे इस असंख्य जीव रूपकी सृष्टि हुई है। वह जलसूर्य जैसे जलके वशसे नाचते रहते हैं, तैसे जीव प्रकृतिके वशसे मनः षष्ठ इन्द्रिय युक्त हो करके कर्म करता रहता है। फिर जैसे जलतरंग मिटजानेके पश्चात् बहु बिम्ब आपही आप लोप हो जाते हैं और जल सूख जानेसे सूर्यका बिम्ब सूर्यमें मिल जाता है, और फिर लौट नहीं आता, तैसे प्राकृ-

तिक तरंग मिटजानेसे जीवका बहुभाव भी मिटकर एकभाव आता है, और प्रकृतिके लय होनेसें जीवरूप बिम्ब उसी परमात्मामें मिल जाता है और पुनरावर्त्तन नहीं करता ।

अब बात यह है कि जो अवधिरहित महान है उस का अंश किस प्रकारसे होता है ? तुम "केवल-राम" हो; परन्तु रासधारीकी रामलीलामें जब तुम हनुमान बनकर अभिनय करते हो, तब तुम्हारे देखनेवाले बन्धु बान्धव और तुम अपने केवल-रामत्वको अन्तःकरणमें न लेकरके जैसे हनुमान और हनुमानका दर्शन कथन श्रवण करनेका सुख अनुभव करते हैं और करते हो, यह भी तैसेही है। जैसे घरकी दीवार तोड़नेसे घरके भीतरवाला खण्डित आकाश बोध नष्ट हो करके एक महाकाशका बोध होता है, तैसे । आकाशवत् मैं अखण्ड जैसे, मैं चिरकाल तैसे ही हूं । प्रकृतिके तीनों गुण, ज्ञानेन्द्रिय और मनके साथ मिल करके इन्द्रधनुषाकार सदृश "मैं "में नाना प्रकार आकार दिखला देता है । इस कारण करके अखण्ड "मैं" का खण्ड साजसे ब्रह्माण्डमें जीवका मेला होता है। थोड़ा समय पहिले यही तुम "मैं" रहे थे, फिर अब वही "तुम" मैं हुए, तथापि कुछ भी अदलबदल नहीं हुआ; यही समझ लेओ और क्या ! ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

अन्वयः। ईश्वरः (देहादीनां स्वामी जीवः) यत् (यदा) शरीरं (शरीरान्तरं) अवाप्नोति यत् च अपि (शरीरं) उत्क्रामति (त्यजति) तदा आशयात् (स्वस्थानात् कुसुमादेः सकाशात्) गन्धान् गृहीत्वा वायुः इव एतानि (मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि) गृहीत्वा संयाति (गच्छति) ॥८॥

अनुवाद। ईश्वर (देहका स्वामी जीव) जब शरीर ग्रहण करता है और शरीर त्याग करता है, तब कुसुमादि आशयसे वायु जैसे गन्ध ग्रहण करके ले जाता है, तैसे मनःषष्ठ इन्द्रियोंको ग्रहण करके ले जाता है ॥ ८ ॥

व्याख्या। कहां फूल सो जानते नहीं, परन्तु वायु जैसे गन्ध लाकर नाक भराकर मतवाला कर देता है, तैसे एक शरीरके अन्त होने पश्चात् वह शरीरकृत सञ्चित कर्म राशिके साथ उन गुणत्रय, इन्द्रिय और मन को लेते हुए, देहेन्द्रियोंके अधिष्ठाता ईश्वर (जीव) दूसरे शरीरमें प्रवेश करते हैं ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

अन्वयः। अयं (देहस्वामी जीवः) श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणं एव च (एतानि पञ्च) मनश्च (षष्ठ) अधिष्ठाय (आश्रित्य) विषयान् (शब्दादीन्) उपसेवते (उपभुंक्ते) ॥ ९ ॥

अनुवाद । वह ईश्वर (जीव) कर्ण, चक्षु, त्वक्, जिह्वा और नासिका तथा मनको आश्रय करके विषय समूह उपभोग करते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या । साधक ! तुम्हारी पहलेवाली बद्धावस्था में तुम अपनी दृष्टि फेंककर और एक बार देखो । वह जो तुमने परित्यक्त देह छोड़कर नवीन देह लिया, इसमें तुम्हारे त्वम्त्व में कुछभी परिवर्त्तन न हुआ । फिर प्रकृति, प्रकृति-विकृति वा गुणों में भी कोई अदल बदल नहीं है; परन्तु परिवर्त्तन केवल त्रि और पञ्चीकरण में होता है। जितने जितने करणकी अधिकता होती है, तदनुसार अज्ञानताके गाढ़ आलिङ्गन में तुम विभोर हो जाते हो। वह देखो तुम्हारे नवीन देहमें नवीन बलसे बलीयान कर्ण, चक्षु, नासिका, जिह्वा और त्वक् को आश्रय करके मन पूर्वापेक्षा कितने तेजसे विषय का उपभोग कर रहा है । श्रवण, दर्शन, स्पर्शन, रसन और घ्राणेन्द्रियोंके आश्रय लेकर मन शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन सब विषयका उपभोग किस प्रकारसे करता है ? जैसे बच्चेके बालोंमें जटा; धीरे धीरे जटाका मैला निकाल लेनेसे जैसा बाल था तैसाही रहता है, मैला निकल जानेसे बाल की क्षति वा वृद्धि कुछ भी नहीं होती तुम्हारी भी वही दशा है। प्राकृतिक क्रियाको हटा देनेसे तुम जो निर्लिप्त वही निर्लिप्त रहोगे ॥ ९ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

अन्वयः । उत्क्रामन्तं (देहाद्देहान्तरं गच्छन्तं) वा (अथवा) स्थितं (देहे तिष्ठन्तं) अपि भुञ्जानं (विषयान् उपलभमानं) वा गुणान्वितं (इन्द्रियादि युक्तं) [एवम्भूतमप्येनं जीवं] विमूढाः न अनुपश्यन्ति, ज्ञानचक्षुषः पश्यन्ति ॥ १० ॥

अनुवाद । देहसे देहान्तरमें जानेवाला, देहमें रहनेवाला, विषयभोग में प्रवृत्त अथवा गुणान्वित (इन्द्रियादियुक्त) देहीको विमूढ़गण देख नहीं सकते परन्तु ज्ञानचक्षुयुक्त मनुष्यगण ही देखते हैं ॥ १० ॥

व्याख्या । यह जो गुणान्वित जीवका एक देहसे दूसरे देहमें गमन, देहमें स्थिति और विषयभोग है, विमूढ़-गण (भोगातुर लोग) उसे देख नहीं सकते । जिनकी ज्ञानचक्षु की दृष्टि खुल गयी है, वे सबही देखते हैं । इसका साक्षी तुम हो ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

अन्वयः । यतन्तः (ध्यानादिभिः प्रयतमानाः) योगिनः च एनं (आत्मानं देहिनं) आत्मनि (देहे) अवस्थितं पश्यन्ति यतन्तः (शास्त्राभ्यासादिभिर्यत्नं कुर्वाणाः) अपि अकृतात्मानः (अविशुद्ध-चित्ताः) अचेतसः (मन्दमतयः) एनं न पश्यन्ति ॥ ११ ॥

अनुवाद । प्रयतमान योगीगण ही आत्माको देहमें अवस्थित देखते हैं, फिर प्रयतमान होनेसे भी अविशुद्धचित्त तथा मन्दमति मनुष्यगण इसको (आत्माको) देख नहीं सकते ॥ ११ ॥

व्याख्या । जीवका यह शरीर त्याग, शरीर ग्रहण, स्थिति और विषय भोग, यतन (साधन) करके योगीजन अपनेमें आप रहकर अपनेको प्रत्यक्ष करते हैं ; परन्तु संसारी अविवेकी जन (अकृतात्मा लोग) सिर पटक करके मरनेसे भी आत्माको देख नहीं सकते; अर्थात् जिनका चित्तशुद्ध न हुआ, इस कारण मति भी स्थिर न हुई, वह लोग शास्त्राभ्यासादि द्वारा यत्न चेष्टा करनेसे भी, उन सबकी अन्तर्दृष्टि नहीं खुलती इस करके, वह लोग सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्माका व्यापार कुछ भी दर्शन करने नहीं पाते ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

अन्वयः । आदित्यगतं यत् तेजः अखिलं जगत् भासयते (प्रकाशयति), चन्द्रमसि यत् (तेजोऽवभासकं वर्त्तते), अग्नौ च यत् (तेजो वर्त्तते) तत् तेजः मामकं (मदीयं) विद्धि (जानीहि) ॥ १२ ॥

अनुवाद । आदित्यगत जो तेज अखिल जगत्को प्रकाश करता है, चन्द्रमें जो तेज रहता है, और अग्निमें भी जो तेज रहता है, वह तेज मेरा ही है जानना ॥ १२ ॥

व्याख्या। साधक! तुमसे (४ र्थ श्लोकमें) वह जो ज्योति-प्रवाह बाहर होकरके जगत्को प्रकाश करता है, अहो! तुम जैसे विश्वव्यापक हो, देखो देखो, तुम्हारा वह महाप्रकाश भी तैसे विश्वव्यापी है। मिट्टी, वृक्ष, पत्थरोंके अस्वच्छताके हेतुसे वे सब तुम्हारी उस ज्योति को खिला नहीं सकते; परन्तु तुम्हारी वह ज्योति, उन सबके भीतर बाहर ऐसी कोई जगह नहीं है जहां वर्त्तमान नहीं है। तुम जैसे विष्णु हो, तुम्हारी ज्योति भी तैसे विश्वकोषमें व्याप्त हो रही है। चन्द्र, सूर्य, अग्निकी स्वच्छताके लिये उन सबके शरीरमें तुम्हारी ज्योति खिल उठी है। इस कारणसे तुम जगत्के जीवोंके भ्रम नाशके लिये जैसे कहते हो—"वह जो आदित्य का तेज (आदित्यानामहं विष्णुः) समस्त जगत्को जो प्रभासित करता है, वह जो चन्द्र और अग्निका तेज, वह तेज मेरा ही है जानो"। हरि! हरि! क्या परिपूर्णत्व है!॥१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३॥

अन्वयः। अहं ओजसा (बलेन) गां (पृथिवीं) आविश्य च अधिष्ठाय च भूतानि (चराचराणि) धारयामि, रसात्मकः (रसमयः) सोमो भूत्वा च सर्वाः औषधीः पुष्णामि (संवर्द्धयामि)॥ १३॥

अनुवाद। मैं ओजः शक्तिसे पृथिवीके भीतर प्रवेश करके भूत समूहको धारण करता हूं। और रसमय चन्द्र हो करक सर्व ओषधी की परिपुष्टि साधन करता हूं॥ १३॥

व्याख्या। सूक्ष्म ही स्थूलको धारण कर रहा है। जो जितना अधिक इन्द्रियग्राह्य है वह उतना ही स्थूल है। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक् इन पाँचों इन्द्रियोंसे पृथिवीका ग्रहण होता है, इसलिये पृथिवी स्थूल है। जल, चक्षु-कर्ण-जिह्वा-त्वक् इन चार इन्द्रियोंसे ग्रहणयोग्य है, इस करके पृथ्वीसे सूक्ष्म है। फिर तेज, चक्षु-कर्ण-त्वक् इन तीन इन्द्रियोंके ग्राह्य है इसलिये तेज जलसे सूक्ष्म है। इस प्रकारसे वायु, कर्ण-त्वक् इन दो इन्द्रियोंके ग्राह्य होनेसे तेजसे भी सूक्ष्म हैं। और आकाश केवल मात्र कर्णेन्द्रियग्राह्य है इस करके वायुसे भी सूक्ष्म है। मन कोई इन्द्रियग्राह्य नहीं है, इसलिये मन आकाशसे भी सूक्ष्म है (बुद्धि, चित्त और अहंकार यह तीनों ही मन की अवस्थान्तर मात्र हैं) इससे समझा गया कि मन सूक्ष्म है, और आकाशादि पञ्चभूत वा पाञ्चभौतिक जो कुछ है वे सब स्थूल हैं। यह मन ही उन पञ्चभूतोंको धारण करके रहते हैं, क्योंकि मन न रहनेसे उन सबका अस्तित्व नहीं रहता। इसलिये कहा गया कि, सूक्ष्म ही स्थूलको धारण करके रहते हैं। फिर "मैं" की तुलनामें मन भी स्थूल है; कारण यह है कि, मन इन्द्रियोंके ग्राह्य न होनेसे भी मनको अनुभव

किया जा सकता है; परन्तु "मैं" को अनुभव भी किया नहीं जा सकता (जो अनुभव करने जाता है, सो भी "मैं" हो जाता है)। अतएव मैं सूक्ष्मातिसूक्ष्म हूं। जो जितना सूक्ष्म है उसकी ओजः उतनी अधिक है। पृथ्वीसे जल दशगुण सूक्ष्म है। सुतरां जलकी व्यापकता शक्ति पृथ्वीसे दशगुणी अधिक है। इस प्रकार "मैं" से सूक्ष्म कोई भी नहीं है, इस करके "मैं" की व्यापकता शक्ति सब से अधिक है; इसलिये मैं सबके भीतर बाहर व्याप्त हूं; ऐसे रहने ही को धारण करके रहना कहते हैं। अतएव मैं सबको अपनी शक्तिसे धारण कर रहा हूं, केवल यही बात नहीं, फिर सर्वरसात्मक सोम (चन्द्र) रूपसे अपना रसाणु प्रवेश कराके धान्य, यव, तिल, गेहूं आदि ओषधी (जिनको खाकर जीव क्षुधा-व्याधिसे बचता है) की पुष्टि भी मैं करता हूं ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

अन्वयः । अहं वैश्वानरः (जठराग्निः) भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः (देहान्तः प्रविश्य) प्राणापानसमायुक्तः (प्राणापानाभ्यां संयुक्तः) चतुर्विधं (भक्ष्यं, पेयं, लेह्यं, चोष्यं चेति चतुःप्रकारं) अन्नं पचामि ॥ १४ ॥

अनुवाद । मैं प्राणियोंके देहके भीतर वैश्वानर रूपसे प्रवेश करके

प्राण और अपानके साथ संयुक्त हो करके चतुर्विध अन्न को परिपाक करता हूं ॥ १४ ॥

व्याख्या । भगवान प्राणि-जठरमें वैश्वानर अग्नि (जठराग्नि) रूप धरके विराजमान हैं । वह अग्नि अपने उद्दीपक प्राण और अपानके साथ मिल करके, चर्व्य—जिसे चबायके खाया जाता है, चोष्य—जिसे चूस के खाया जाता है, लेह्य—जिसे लेहन (चाट) करके खाया जाता है, पेय—जिसे पीके खाया जाता है, इन चार प्रकार के खाद्य द्रव्यको परिपाक करते हैं । इसलिये यह वैश्वानर अग्नि प्राणीमात्रके देहके आश्रय है । वह अग्नि देहमें सर्वत्र ताप-संचालन करके जीवनीशक्ति की रक्षा करती है । अग्नि विकृत होनेसे देह भी विकृत होताहै, और अग्नि का देह को छोड़ देनेसे देह भी मृत होता है । योगीगण सदाकाल "प्राणापानौ समौ कृत्वा" इस वैश्वानरके तृप्ति साधनके लिये अग्निहोत्र पालन करते हैं ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो ।
वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

अन्वयः । अहं सर्वस्य च (प्राणिजातस्य) हृदि (बुद्धौ) सन्नि-

विष्टः, (अतः) मत्तः [एव प्राणिमात्रस्य] स्मृतिः ज्ञानं अपोहनं च (तयोः ज्ञानस्मृत्यो अपगमनं च) भवतीत्यर्थः; सर्वैं वेदैश्च अहमेव (परमात्मा) वेद्यः (वेदितव्यः), अहमेव वेदान्तकृत् (वेदान्तार्थ-सम्प्रदायकृत्) वेदवित् च (वेदार्थवित् च) ॥ १५ ॥

अनुवाद । मैं सब प्राणियोंके हृदयमें सम्यक् रूपसे निविष्ट हूं, हमसे ही (प्राणिमात्र की) स्मृति, ज्ञान और (इन दोनों का) अपगम होता है; सब वेदमें मैं ही वेद्य (जानने का वस्तु), वेदान्तार्थ सम्प्रदायकृत्, और वेदार्थवित् हूं ॥ १५ ॥

व्याख्या । सर्व कहनेसे जिन सबको समझावेगा, उन सबकी दो अवस्थायें हैं । एक संघात और दूसरी विलय । इन दोनों अवस्थाओंको विवेक और विचारद्वारा तन्न तन्न करके चले आते आते जहां वह तन्न और न लगेगा, उसी को ठीक मध्य स्थान वा हृदय कहते हैं । "यतो निर्याति विषयो यस्मिन् चैव प्रलीयते । हृदयं तत् विजानीयात् मनसः स्थितिकारणम् ॥" जहांसे विषय निकलता है, जहां जाकरके विषय प्रलीन को प्राप्त होता है, उसीको हृदय कहते हैं, वह हृदय मनका स्थिति-कारण है । सबका स्थितिका स्थान मैं बिना और कोई नहीं है । सब अस्थिर है केवल मैं ही स्थिर हूं । जो "मैं" में आपड़ता है, वही स्थिर होता है । जलसे मिला हुआ दूध सदृश मैं उस सर्वके हृदयमें सन्निविष्ट हूं । मुझको ही आश्रय करके भाग्यवान लोग

पूर्वमें जो ब्रह्म थे, पश्चात् जीव बन कर खेलनेके लिये घोर श्रान्त हो करके फिर उसी पहले वाली ब्रह्मावस्था के स्मरणके लिये स्मृति और "अहं ब्रह्मास्मि"—मैं ही ब्रह्म हूं, यह ज्ञान प्राप्त हो करके मुक्ति पाते हैं। फिर दुराचारी पापी लोग मायाके घेरमें उस स्मृति और ज्ञानको नष्ट कर देते हैं। यह दोनों हमारे ही ऊपर होता है, इसलिये स्मृति और ज्ञानका उत्थान-अपोहन भी हम हीमें होता है, कहा गया। यही सर्व लोग साम, ऋक्, यजु, अथर्वण् अर्थात् कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड द्वारा जानने की वस्तु मुझ को जानते हैं। इसलिये विवर्त्त-वादका शेष फल और सब ज्ञानका शेष फल यह दोनों ही मैं हूं॥ १५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१६॥

अन्वयः। क्षरश्च अक्षरश्च इमौ द्वौ पुरुषौ लोके (प्रसिद्धौ); सर्वाणि भूतानि (ब्रह्मादिस्थावरान्तानि शरीराणि) क्षरः पुरुषः, कूटस्थः (चेतनो भोक्ता) अक्षरः पुरुषः उच्यते॥ १६॥

अनुवाद। क्षर और अक्षर यह दोनों पुरुष लोकमें प्रसिद्ध है; समुदय भूतगण क्षर पुरुष और कूटस्थ अक्षर पुरुष कह करके कहलाते हैं॥१६॥

व्याख्या। जैसे एक गृहस्थमेंसे एक मूर्त्ति निमन्त्रणमें

जानेसे वहांके सब किसी को ही जाना मंजूर होता है; तैंसे एकमात्र भगवान विष्णुमें पुरुष उपाधिका स्पर्श होनेसे विश्वका जो कोई द्रव्य (ऐसा कि काठी मूठी तक) को भी पुरुष कहनेसे, मिथ्या कहना नहीं होता। जैसे ज्योतिषकी धातु है। एक प्रकार ब्रह्मासे आदि लेके स्थावरान्त समस्त भूत है "क्षर" अर्थात् नाशमान पुरुष। और एक साक्षात् कूट वञ्चना-जाल राशि स्वरूपा, जहांसे अनन्त संसार बीजका क्षरण होता है, वही माया है।—जिस मायाने अनजान भावसे चैतन्य को अपने गर्भमें भर लिया, तथापि चैतन्य को गर्भमें लेने का ज्ञान उसमें नहीं है, उठाया हुआ समुद्र-लवणाम्बु सदृश रहता है,(मायाका ही प्रकाश है, परन्तु क्रिया नहीं इसलिये कूटस्थ-पुरुष संज्ञा है)। ऐसी माया ही अक्षर पुरुष है (८ म अः "कूटस्थ" देखो)। सूर्यसे निरन्तर रश्मिके क्षरण होनेसे भी सूर्य जैसे अक्षर ही रहते हैं माया का संसार-बीज क्षरण भी उसी प्रकार है। इन दोनों को ही सोपाधिक पुरुष कहते हैं॥ १६ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

अन्वयः। तु (किन्तु) उत्तमः (उत्कृष्टतमः) पुरुषः अन्यः (आभ्यां क्षराक्षराभ्यां अत्यन्तविलक्षणः) परमात्मा (परमश्चासौ आत्मा

चेति, आत्मत्वेन क्षरादचेतनाद्विलक्षणः परमत्वेनाक्षराच्च भोक्तुर्विलक्षण इत्यर्थः) इति उदाहृतः (उक्तः श्रुतिभिः), यः ईश्वरः (ईशनशीलः) अव्ययश्च (निर्विकार एव सन्) लोकत्रयं आविश्य बिभर्त्ति (पालयति) ॥ १७ ॥

अनुवाद । परन्तु उत्तम पुरुष (क्षर और अक्षरसे) भिन्न (पृथक्), तथा परमात्मा नाम करके अभिहित है,— जो ईश्वर और अव्यय तथा लोकत्रयमें प्रवेश करके पालन करते हैं ॥ १७ ॥

व्याख्या । उत्-तम पुरुष । उच्चतम, पुरुषमें जिनसे और कोई ऊंचा नहीं है । पुरुष प्रभृति नाम वा रूपके भीतर जो नहीं है, तथापि पुरुषोंके ऊपर रहनेके लिये जगत्में लोग जिनको पुरुषोत्तम कहते हैं । जो उस उपाधि-ग्रस्त दोनों पुरुषसे विलक्षण भिन्न (पृथक् है), जो सर्व-भूतमें चैतन्यस्वरूप प्रत्यगात्मा (परमात्मा) है, जो पृथ्वी अन्तरीक्ष और स्वर्गको आक्रम करके रहते हुए भी अविद्याकृत देहादि पञ्चकोषके अतीत है, जो अपने चैतन्य, बल और शक्तिसे विश्वको धारण करके अव्यय, नियन्ता हो कर रहता है, उसीको उत्तम पुरुष कहते हैं। "असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम् ।" ॥ १७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१८॥

अन्वयः। यस्मात् अहं क्षरं (जड़वर्गं) अतीतः (अतिक्रान्तः) अक्षरादपि (चेतनवर्गादपि) च उत्तमः (उत्कृष्टतम ऊर्ध्वतमो वा), अतः लोके वेदे च पुरुषोत्तमः इति प्रथितः (प्रख्यातः) अस्मि ॥ १८ ॥

अनुवाद। क्योंकि मैं क्षरोंके अतीत तथा अक्षरसे भी उत्तम हूं, इसलिये लोक-जगत्में तथा वेदमें पुरुषोत्तम कह करके प्रख्यात हुआ हूं ॥ १८ ॥

व्याख्या। मैं उस मायामय भूतादि अश्वत्थ वृक्ष-रूप क्षर पुरुष (संसार) को अतिक्रम करके और उस संसार-वृक्ष का वीज स्वरूप अक्षर कूटस्थ को भी नीचे फेंकते हुए ऊंचे रहनेके सदृश रहता हूं, इसलिये लोक-जगत्में और वेदमें उन दोनों पुरुषोंके ऊपर रहनेके कारण मुझको पुरुषोत्तम नामसे घोषणा करते हैं ॥१८॥

यो मामेवमसंमूढ़ो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

अन्वयः। हे भारत ! यः एवं (यथोक्तप्रकारेण) असंमूढ़ः (निश्चितमतिः सन्) मां पुरुषोत्तमं जानाति, सः सर्ववित् सर्वभावेन (सर्वप्रकारेण) मां भजति ॥ १९ ॥

अनुवाद। हे भारत ! यथोक्त प्रकारसे असंमूढ़ हो करके जो मुझ को पुरुषोत्तम कह करके जानते हैं, वे सर्ववित् हो करके सर्व प्रकारसे मुझ को भजते हैं ॥ १९ ॥

व्याख्या। हे भारत! जो भाग्यवान साधक साधन-शक्तिसे माया मोह का भ्रम काट कर इनको (पुरुषोत्तम) को प्रत्यक्ष करते हैं अर्थात् माया-व्यापार का जाल फाड़ चिर फेंककर इस "मैं" में आ पड़ते हैं, वे सर्वविद् हो करके अर्थात् जिस को सब जानने का जानना कहते हैं उसे ही जान करके "मैं" के भजनमें डूब जाते हैं; अर्थात् सर्व भावमें ही वे साधक अपनेमें इस मैं बिना और कुछ भी देखने नहीं पाते॥ १९॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥२०॥

अन्वयः। हे अनघ! इति (अनेन संक्षेपप्रकारेण) मया इदं गुह्यतमं (अत्यन्तं रहस्यं) शास्त्रं उक्तं; हे भारत! (योऽपि कोऽपि) एतत् (मदुक्तं शास्त्रं) बुद्ध्वा बुद्धिमान् (सम्यक् ज्ञानी) च (तथा) कृतकृत्यः स्यात्॥ २०॥

अनुवाद। हे अनघ! इस प्रकार संक्षेप से मैंने यह गुह्यतम शास्त्र कहा। हे भारत! इसे समझनेके पश्चात् (जो कोई समझे) सम्यक् ज्ञानी और कृतकृत्य होता है॥ २०॥

व्याख्या। हे निष्पाप! जिससे और गोपनीय कुछ भी नहीं, स्वयं माया भी जिनके प्रकाशसे प्रकाशित है; परन्तु जिसको प्रकाश करने की शक्ति नहीं रखती, उसी

ब्रह्म-संवादको मैंने तुमसे वाणी विलास सदृश कथन क्रमसे इस अध्यायमें कहा है। इस संवादमें बुद्धिमान लोग बुद्धिका प्रयोग करके कृतकृत्य होते हैं अर्थात् सब प्रकार करणके पश्चात् जो चिर विश्राम ब्राह्मीस्थिति है, उसेही पाते हैं, और उनके लिये कर्त्तव्यका अर्थ प्रयोग करनेका अवसर नहीं आता ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम
पञ्चदशोऽध्यायः।

षोड़शोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

अन्वयः । हे भारत ! अभयं (भयाभावः) सत्त्वसंशुद्धिः (चित्तस्य सुप्रसन्नता), ज्ञानयोगव्यवस्थितिः (आत्मज्ञानोपाये परिनिष्ठा), दानं (यथाशक्ति संविभागोऽन्नादीनां), दमश्च (बाह्येन्द्रियसंयमः), यज्ञश्च (श्रौतोऽग्निहोत्रादि स्मार्त्तश्च देवयज्ञादिः), स्वाध्यायः (ऋग्वेदाद्यध्ययनं), तपः (शारीरादिः), आर्जवं (अवक्रता); अहिंसा (परपीड़ावर्जनं), सत्यं (यथादृष्टार्थभाषणं), अक्रोधः (ताड़ितस्यापि चित्ते क्रोधानुत्पत्तिः), त्यागः (औदास्यं), शान्तिः (अन्तःकरणस्योपशमः), अपैशुनं (परोक्षे परदोषप्रकाशनं पैशुनं तद्वर्जनं), भूतेषु (दीनेषु) दया, अलोलुप्त्वं (लोभाभावः), मार्दवं (मृदुत्वं), ह्री (अकार्यप्रवृत्तौ लोकलज्जा), अचापलं (व्यर्थक्रियाराहित्यं) (तेजः) (प्रागल्भ्यं), क्षमा (परिभवादिषूत्पद्यमानेषु क्रोधप्रतिबन्धः), धृतिः (दुःखादिभि-

रवसादे चित्तस्य स्थिरीकरणं), शौचं (बाह्याभ्यन्तरशुद्धिः), अद्रोहः (जिघांसाराहित्यं), नातिमानिता (आत्मन्यतिपूज्यत्वाभिमानाभावः) —एतानि षड्विंशति प्रकाराणि दैवीं सम्पदं अभिजातस्य भवन्ति (देवयोग्यां सात्त्विकीं सम्पदमभिलक्ष्य तदाभिमुख्येन जातस्य भावि-कल्याणस्य पुंसो भवन्तीत्यर्थः ' ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

अनुवाद। हे भारत! अभय, चित्तकी सुप्रसन्नता, ज्ञानयोगमें अवस्थिति, दान, दम, यज्ञ, वेदाध्ययन, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन्य, सर्वभूतमें दया, अलोलुपता, मृदुता लज्जा, चपलताविहीनता, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, अद्रोह और अति-मानशून्यता—यह सब दैवी सम्पद अभिमुख में जात मनुष्यों को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

व्याख्या। पूर्वाध्यायके शेष श्लोकमें जो "एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत" कहा हुआ है, यहां उसीका परिष्कृति दिखाई जाती है। अर्थात् ९म अध्यायके १२श श्लोकमें जो राक्षसी और आसुरी प्रकृतिकी कथा है, उससे मोहन और भवबन्धन होता है। और उस अध्यायके १३श श्लोकमें कथित दैवी प्रकृतिसे मुक्ति मिलती है। उस दैवी और आसुरी प्रकृति का आकार कैसा है? वही कहा जाता है।

"अभयं"—कहते हैं निर्भयको। भय केवल मरने का है। जीव जब साधन-शक्ति से जान लेते हैं कि "मैं पुरुषोत्तम हूं" तब फिर उनको मृत्युभय नहीं

रहता। जब अन्तःकरण में सम्यक् प्रकारसे परवञ्चनादि माया-विकारके अनुत्थानके लिये केवल शुद्ध भावका व्यवहार होता है, तबही "सत्त्वसंशुद्धि" अवस्था कही जाती है (१४ अः २य श्लोक)। "ज्ञान"। ज्ञेय वस्तुको समझ लेनेके बाद जो तुष्णीम्भाव (विश्राम अवस्था) होता है वही ज्ञान है (९ अः १म श्लोक, १३ अः ७मसे ११श श्लोक और १४ अः ६ष्ठ श्लोक देखो)। चित्तवृत्तिनिरोधके जो बाद स्थिति है उसे "योग" कहते हैं। इन दोनोंमें निष्ठाका नाम "अवस्थिति" है। इस कारण करके ज्ञानमें और योगमें निष्ठा का नाम "ज्ञानयोगव्यवस्थिति" कहा है। न्यायार्जित धनको सत्पात्रमें अर्पण करनेका नाम "दान" है (१०अः ५म श्लोक)। "दम"--बहिर्वृत्तिका निरोध। "यज्ञ"--श्रुति और स्मृति कथित क्रियायाग। वेदादिके अर्थ परिज्ञानका नाम "स्वाध्याय" है। "तपः"--क्रिया विशेष के द्वारा अन्तःकरणको सत्पथमें चलाना। "आर्जव"--सरलता।

"अहिंसा"--जाग्रतावस्था, स्वप्नावस्था और सुषुप्तिमें अन्तःकरणके भीतर प्राणी-पीड़न वृत्ति का अभाव (१० अः ५म श्लोक)। "सत्य"--अनृत-वर्जन। परकृत अनिष्टसे उसका अनिष्ट करने की इच्छा

अन्तःकरणमें न उठने को "अक्रोध" कहते हैं। "त्याग"—वैराग्य। प्राकृतिक क्रिया की अत्यन्त निवृत्तिमें जो विश्राम, वही "शान्ति" है। "अपैशुनं"—पराई निन्दा-वर्जन। जीव का कल्याण करने का नाम "दया" है। "अलोलुपता"—लालसा राहित्य। "मार्दव"—कुटिलता-शुन्य अवस्था। बुरे काम काज की वृत्ति मनमें उदय होते मात्र आप ही आप उसकी प्रतिषेधक वृत्ति मनमें उठ करके जो अवगुण्ठन भाव आता है, उसी को "ह्री" वा लज्जा कहते हैं। प्रयोजनसे अधिक चञ्चलता न दिखलाने का नाम "अचपलता" है।

"तेजः"—प्रताप; प्राण जाय सो भी कबूल, परन्तु अधिक्षेपादि की (निन्दादि की) असहन, अर्थात् निन्दा सहन करना होगा, ऐसा कोई काम काज प्राणान्त होनेसे भी न करना (ऐसा दृढ़ता)। "क्षमा"—प्रतिफल देने की शक्ति रहनेसे भी परकृतअनिष्टमें उपेक्षा करना। "धृति"—धारणावती शक्ति। "शौच"—मनकी स्थिरता (१३ अः ७म श्लोक)। "अद्रोह"—पर-जिघांसाभाववर्जन। "नातिमानिता"—मैं जैसा अधिकारी हूं, दूसरेके पास उससे अधिक बड़ाईके लिये आकांक्षा न रखना।

यह सब वृत्ति जिस भाग्यवानके अन्तःकरणमें सदा विद्यमान हैं, हे भारत! उन्हींको दैवीसम्पद अभिमुखमें जात कहते हैं ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

अन्वयः। दम्भः (धर्मध्वजित्वं), दर्पः (धनजनविद्यादिनिमित्तं चित्तस्यौत्सुक्यं), अभिमानश्च (आत्मन्यतिपूज्यत्वं), क्रोधः, पारुष्यं (निष्ठुरत्वं) अज्ञानं (अविवेकः) च एव—एतानि आसुरीं सम्पदं (असुराणां राक्षसानां च या सम्पत्तिस्तां) अभिजातस्य (अभिलक्ष्य जातस्य) भवन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अनुवाद। दम्भ, दर्प अभिमान, क्रोध निष्ठुरता और अविवेक यह सब आसुरी सम्पद अभिमुख में जात मनुष्यका होता है ॥ ४ ॥

व्याख्या। "दम्भ"—अपने सम्मान की लालसा में धार्मिकता दिखलाना वा दूसरे को वञ्चना करनेके लिये काम काज का अनुष्ठान करना। "दर्प"—अहंकार का भाव दिखलाना। "अभिमान"—धन, विद्या, कुल, आत्मीय आदिके सम्बन्धमें अत्यल्प दुःख, क्षोभ, अनादर वा अपमान बोध होनेसे अत्यधिक भाव दिखलाना। कामना प्रतिहत होनेसे अन्तःकरणमें जिस वृत्ति का उदय हो उसीको "क्रोध" कहते हैं। "पारुष्य"—

रूढ़ता (कर्कशता)। जो जैसा है उसके विपरीत बोधन का नाम "अज्ञानता" है। हे अर्जुन! आसुरी सम्पद अभिमुखमें जात अन्तःकरणमें यही सब रहता है ॥ ४ ॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

अन्वयः। दैवी सम्पद् विमोक्षाय आसुरी (सम्पद्) निबन्धाय मता। हे पाण्डव! माशुचः (शोकं मा कार्षीं), यतस्त्वं दैवीं सम्पदं अभिजातः असि ॥ ५ ॥

अनुवाद। दैवी सम्पद् मोक्षके निमित्त और आसुरी सम्पद बन्धन के निमित्त है। हे पाण्डव! शोक न करना, तुम दैवी सम्पद अभिमुखमें जन्म लिये हो ॥ ५ ॥

व्याख्या। दैवी-सम्पद्-जात जीव मुक्तिको पाते हैं। और आसुरी-सम्पद्-जात जीव बन्धनमें फंसते हैं। इस समय साधकके अन्तःकरणमें "मैं कौन सम्पद्में जात हूं" यह प्रश्न उठनेसे साधक आपही आप आत्मबोध से अपने प्रश्नका उत्तर देते हैं; हे पाण्डव! शोक करने का कोई प्रयोजन नहीं है। (इस स्थानमें अर्जुनका प्रथम अध्यायवाला विषाद अब दूर हुआ)। तुम दैवी-सम्पद्-जात हो, अतएव तुम्हारी मुक्ति अनिवार्य है ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

अन्वयः । हे पार्थ ! अस्मिन् लोके द्वौ (द्विप्रकारौ) भूतसर्गौ (भूतानां मनुष्याणां सर्गौ स्वभावौ) —दैवः आसुरश्च एव । दैवः (दैवसर्गः) विस्तरशः (अभयं सत्त्वसंशुद्धिरित्यादिना विस्तरप्रकारैः प्रोक्तः (कथितः) आसुरं मे (मम वचनादुच्यमानं) शृणु (अवधारय) ॥ ६॥

अनुवाद । हे पार्थ ! इस जगत्में दो प्रकारका भूतसर्ग है,—दैव और आसुर । दैव विस्तर रूपसे कहा हुआ है, (अब) आसुर मुझसे श्रवण करो ॥ ६ ॥

व्याख्या । इस लोक-जगत्में जितने प्रकारके भूत (प्राणी) हैं, उन सबका दो प्रकारका सर्ग (स्वभाव) है। एक दैवी स्वभाव और दूसरा आसुरी स्वभाव है। ९म अध्यायका १२ वां श्लोककी राक्षसी और आसुरी दोनों प्रकृतिको ही यहां एक बातमें आसुरी सर्ग वा स्वभाव कहा हुआ है । मनुष्यका इन दोनों सर्गकोही सम्पद कह करके वर्णन किया गया है । दैवीसम्पद विमुक्तिका कारण है, इसीलिये उपादेय और ग्रहणयोग्य है और आसुरीसम्पद निबन्धका कारण है, अतएव हेय और त्याज्य है । जो सम्पद दैवी तथा ग्रहणीय है, जिसके रहने से मनुष्य देव-स्वभाव सम्पन्न होते हैं, उसे विस्तार रूपसे सारी गीतामें ही कहा हुआ है, अर्थात् २य अध्यायमें

स्थितप्रज्ञके लक्षणमें, १२ अध्यायमें भक्तके लक्षणमें, १३ वां में ज्ञानके वर्णनमें, १४ वां में गुणातीत पुरुषके लक्षणमें और १८ शके १–३य श्लोकमें समझा दिया गया है। और जो सम्पद आसुरी है जिसके रहनेसे मनुष्य असुर-स्वभाव सम्पन्न तथा राक्षस स्वभाव सम्पन्न होता है, इसलिये जो त्याज्य हैं उन सबको जानना चाहिये। अतएव अब भगवान उन सबका ही वर्णन करते हैं ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

अन्वयः। आसुराः (असुरस्वभावाः) जनाः [धर्मे] प्रवृत्तिं [अधर्मात्] निवृत्तिं च न विदुः (न जानन्ति), अतः तेषु न शौचं न आचारः न च अपि सत्यं विद्यते ॥ ७ ॥

अनुवाद। असुर-स्वभाव-सम्पन्न लोग प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानते, (इसलिये) उन सबके भीतर शौच नहीं, आचार नहीं और सत्य भी नहीं रहता ॥ ७ ॥

व्याख्या। पुरुषोत्तम वा पुनः ब्रह्मत्वको प्राप्त होनेके लिये जो साधन-निष्ठा, उसी को प्रवृत्ति (प्र = सर्वतो-भाव+वृत्ति) कहते हैं। और ब्रह्मत्व प्राप्त होनेके पश्चात् जो सनातन विश्राम, वही निवृत्ति है। जब किसी वृत्तिके उदय होने का कारण पर्यन्त नष्ट हो जाता है वही निवृत्ति

अवस्था है। आसुरी सम्पद्-जात अन्तःकरणमें इन दोनों का ही अभाव है। प्रवृत्ति और निवृति किसको कहते हैं, इसे वह लोग जानते ही नहीं। "शौच"—१३ अः ८म श्लोककी व्याख्या देखो। "आचार"—स्नान आचमनादि व्यवहार। "उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेत् शौचमादितः। आचारमग्निकार्यञ्च सन्ध्योपासनमेव च॥" "सत्य"—परहित। आसुरी अन्तःकरणमें शौच, आचार, सत्य—इन तीनोंका ही स्थान नहीं है॥ ७॥

असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥ ८॥

अन्वयः। ते (आसुराः जनाः) जगत् असत्यं (नास्ति सत्यं वेद-पुराणादिप्रमाणं यस्मिन् तादृशं) अप्रतिष्ठं (नास्ति धर्माधर्मरूपा प्रतिष्ठा व्यवस्थाहेतुर्यस्य तत्) अनीश्वरं (नास्तीश्वरः कर्त्ता व्यवस्थापकश्च यस्य तादृशं) अपरस्परसम्भूतं (अपरस्परतः अन्योन्यतः स्त्रीपुंसयो-र्मिथुनात् सम्भूतं) किमन्यत् कामहैतुकम् (कारणमस्य नास्त्यन्यत् किञ्चित् किन्तु स्त्रीपुंसयोरुभयोः काम एव प्रवाहरूपेण हेतुरस्येत्यर्थः) आहुः॥ ८॥

अनुवाद। वे लोग कहते हैं कि, जगत् असत्य, अप्रतिष्ठ, अनीश्वर और अपरस्पर-सम्भूत है; इसका दूसरा और कोई कारण नहीं है, यह कामहेतुक है॥ ८॥

व्याख्या। होता है, रहता है, जाता है, जिस प्रकार

देखता हूं, यह ऐसा ही है। धर्माधर्म कह करके कोई कुछ नहीं। सत्य और ईश्वर भी कोई नहीं है। स्त्री पुं मैथुनमें काम-केलिसे जगत् की उत्पत्ति मात्र है। शरीरका यत्न और भोग करना ही जगत्में सार्थकता है। आसुरी अन्तःकरण की इस प्रकार ही धारणा है॥ ८॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥

अन्वयः। नष्टात्मानः अल्पबुद्धयः (ते आसुराः जनाः) एतां दृष्टिं अवष्टभ्य (आश्रित्य) उग्रकर्माणः जगतः अहिताः (शत्रवः भूत्वा) क्षयाय प्रभवन्ति॥ ९॥

अनुवाद। नष्टात्मा अल्पबुद्धिशाली वह सब असुर-स्वभाव सम्पन्न लोग इस प्रकार दृष्टिका आश्रय करके उग्रकर्मा तथा जगत्के शत्रु हो करके क्षयके निमित्त उद्भूत होते हैं॥ ९॥

व्याख्या। वही असुर-स्वभावसम्पन्न लोग 'नष्टात्मा' अर्थात् वह सब सत्त्व प्रभाववर्जित रजस्तम गुण करके आवद्ध रहनेसे उन लोगोंके चित्तमें आत्मा का अनन्त अव्यय भाव प्रकाश नहीं होता, वे सब स्वभाव-भ्रष्ट हैं, इसलिये वे सब अल्पबुद्धि होते हैं। जो चीज भोग करनेसे एक दम क्षय हो जाय, वही अल्प है, जो कभी क्षय न होय, वही अनन्त है। आत्मा की तुलनामें यह

देह अल्प है। वह लोग "मैं आत्मा हूं" यह भाव हृदयमें नहीं ले सकते; "देह ही मैं हूं" यह धारणा करके देहके सुख-सेवा में ही व्यापृत (रत) होते हैं। यह देहाभिमान उन लोगों में पूर्णमात्रामें रहनेसे वह सब "अल्पबुद्धि" हैं। इस अल्पबुद्धि प्रयुक्त वह लोग "यह जगत् स्त्री पुरुष संसर्ग से उत्पन्न, काम ही इसका कारण है, इसके अतिरिक्त इसका और कोई दूसरा कारण नहीं है"—इस प्रकार सिद्धान्त दृष्टि का आश्रय करके, अर्थात् इस प्रकार नजरसे जगत् को देखता रहता है। इस प्रकार स्वभावभ्रष्ट अल्पबुद्धि तथा काम-परायण होनेसे वे लोग परलोक और साधनको नहीं मानते, इसलिये वे लोग नाना प्रकारके उग्र हिंसात्मक कर्ममें प्रवृत्त होते हैं और जगत्का (प्राणिसाधारणका) अहिताचरण करते हैं। इस कारण करके वे लोग केवल जगत्के क्षयके निमित्त ही जैसे प्रादुर्भूत होते है। मृत्यु ही जगत् का क्षय है। अर्थात् वे लोग जन्म लेकर बार बार मरते ही रहते हैं; जन्म-मृत्यु रूप क्षयोदयको ही वे लोग भोग करते रहते हैं; इससे वे लोग कभी निष्कृति नहीं पाते। (पश्चात् १९। २० श्लोक देखो) ॥ ९ ॥

कामसाश्रित्य दुष्पूरं
दम्भमानमदान्विताः ।

मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्
प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

अन्वयः। (ते) दुष्पूरं (पूरयितुमशक्यं) कामं आश्रित्य दम्भमानमदान्विताः सन्तः मोहात् असद्ग्राहान् गृहीत्वा (अनेन मन्त्रेणैतां देवतामाराध्य महानिधीन् साधयाम इत्यादीन् दुराग्रहान् मोहमात्रेण स्वीकृत्य) अशुचिव्रताः सन्तः (अशुचीनि मद्यमांसादिविषयानि व्रताणि येषां ते) प्रवर्त्तन्ते ॥ १० ॥

अनुवाद। (वे लोग) दुष्पूरणीय काम को आश्रय करके दम्भ, मान और मदयुक्त हो करके मोहवशतः (इस मन्त्रसे इस देवता की आराधना करके महानिधि समूहको प्राप्त होऊंगा इत्यादि प्रकार) दुराग्रह समूहका अवलम्बन करके (मद्य मांसादि विषयक) अशुचिव्रतपरायण हो करके (क्षुद्र देवताओंकी आराधनादिमें) प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

व्याख्या। "असद्ग्राह"=जो सब आग्रह वा इच्छा असत् अर्थात् अशुभकर है, मुक्तिमार्ग का प्रतिबन्धक स्वरूप है, जैसे फलाना मन्त्र सिद्ध करके स्तम्भन वशीकरण, उच्चाटन प्रभृति सीखूंगा, फलाना देवता की अराधना करके प्रचूर अर्थ सञ्चय करूंगा, सर्वज्ञ होऊंगा, असाध्य साधन करूंगा; इत्यादि प्रकार की अनित्य सुख की चेष्टा है।

"अशुचिव्रताः"—जिन सबका व्रत अशुचि है। व्रत=नियम। किसी विषयमें सिद्धि लाभ करना हो तो आहार व्यवहारादिमें जिस नियमका पालन करने

होता है, वही व्रत है। जिस प्रकार आहार व्यवहार द्वारा शरीरमें सत्त्वगुण की वृद्धि हो, हृदयमें शान्त तेज का सञ्चार हो, मन शुद्ध हो करके चञ्चलता (संकल्प विकल्प) को त्याग करे और सद् वस्तुको लक्ष्य करनेके लिये समर्थवान हो, वही शुचि व्रत है। जैसे सात्त्विक आहार, सात्त्विक व्यवहार इत्यादि। और जिस प्रकार आहार व्यवहारसे रज और तमोगुण बढ़ता है, मनमें चञ्चलता और मत्तता आती है, अहंकार बढ़ता है, सद्वस्तु लक्ष्य करने की शक्ति नहीं रहती, वे सब अशुचि व्रत हैं, जैसे राजसिक और तामसिक आहार व्यवहार इत्यादि।

दुष्पूरणीय आकांक्षा को आश्रय करके (जैसे भूत, यक्ष, नायिकादि साधन करके इन्द्रियका भोग चरितार्थ करनेके लिये वासना) दम्भ-मान-मद मोहित अविवेकियोंके ग्रहणीय जो अशुभ हैं, उन्हेंही ले लेते हैं। और मदिरा, मांस आदि सेवनरूप अशुचि व्रतमें दीक्षित होते हैं ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदितिनिश्चिताः ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥

अन्वयः। प्रलयान्तां (प्रलयोमरणमेवान्तो यस्यास्तां) अपरिमेयां (परिमातुमशक्यां) चिन्तां उपाश्रिताः (नित्यचिन्तापरा इत्यर्थः) कामोपभोगपरमाः (कामाः शब्दादयस्तदुपभोग एव परमो येषां ते) एतावदिति निश्चिताः (कामोपभोग एव परमः पुरुषार्थो नान्यदस्तीति कृतनिश्चयाः) आशापाशशतैः (आशा एव पाशास्तेषां शतैः) बद्धाः (इतस्ततः आकृष्यमाणाः) कामक्रोधपरायणाः (कामक्रोधौ परमयमाश्रयो येषां ते) कामभोगार्थं अन्यायेन (चौर्यादिना) अर्थसञ्चयान् (अर्थानां संचयान् राशीन्) ईहन्ते (इच्छन्ति) ॥ ११ ॥ १२ ॥

अनुवाद। मरण कालपर्यन्त स्थायी अपरिमेय चिन्ता का आश्रय करके कामोपभोग परायण हो करके, कामोपभोग ही परम पुरुषार्थ है, इस प्रकार कृतनिश्चय हो करके हजारों आशापाश करके आबद्ध काम-क्रोध-परायण ऐसे सब आसुरिक लोग काम भोगके लिये अन्याय पूर्वक बहुत बहुत अर्थ संचय करने की इच्छा रखते हैं ॥ ११ ॥ १२ ॥

व्याख्या। साधनसे देवता को वशीभूत करके आकाशमें नगर बना करके जलमें, स्थलमें अन्तरीक्षमें तथा भूगर्भमें प्रवेश करके इन्द्रिय-भोगके चरम करण करूंगा, इस प्रकार अपरिमेय चिन्ता को हृदयमें पोषण करते हुए मरणान्त दिन पर्यन्त इसी चेष्टामें ही काल व्यतीत करते हैं। वे उस आशापाशमें जड़ित हो करके (बारंबार विफलतामें) काम क्रोधके आश्रय लेकर कामभोग

की प्रयोजन लालसामें परस्वापहरणमें (पराये धन को हरण करनेके लिये) वञ्चनादि अधर्म कार्यमें प्रवृत्त होते हैं ॥ ११ ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥ १४ ॥
आढ्योभिजनवानस्मि कोऽन्योस्ति सदृशोमया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

अन्वयः । अद्य मया इदं लब्धं, इदं मनोरथं (मनस्तुष्टिकरं) प्राप्स्ये, इदं धनं अस्ति, पुनः अपि मे इदं (धनं) भविष्यति, असौ शत्रुः मया हतः, अपरान् (शत्रून्) अपि च हनिष्ये, अहं ईश्वरः, अहं भोगी, अहं सिद्धः (कृतकृत्यः) बलवान् सुखी आढ्यः (धनादिसम्पन्नः) अभिजनवान् (कुलीनः) अस्मि, मया सदृशः अन्यः कः अस्ति ? (अहं) यक्ष्ये (यागेनापि अन्यानभिभविष्यामि) दास्यामि मोदिष्ये (हर्षं प्राप्स्यामि)—इति (एवम्प्रकारेण) अज्ञानविमोहिताः (अविवेकभावापन्नाः) अनेकचित्तविभ्रान्ताः (अनेकषु मनोरथेषु प्रवृत्तं चित्तं अनेकचित्तं तेन विभ्रान्ताः विक्षिप्ताः) मोहजालसमावृताः (मोहमयेन जालेन समावृताः)

कामभोगेषु प्रसक्ताः (अभिनिविष्टाः) सन्तः अशुचौ नरके पतन्ति ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

अनुवाद। आज हमें यह (मनोरथ) लाभ हुआ, यह मनोरथ पाऊंगा; यह धन मेरा है, फिर मेरे इतना धन होगा; हमसे यह शत्रु मारे गये, दूसरे शत्रुओं को भी मारूंगा; मैं ईश्वर हूं, मैं भोगी हूं; मैं सिद्ध, बलवान, सुखी, धनादिसम्पन्न और कुलीन हूं; मेरे सदृश दूसरा कौन है? मैं याग करूंगा, दान करूंगा, आनन्द पाऊंगा।—इस प्रकारकी अज्ञानतासे विमोहित वे सब आसुरिक लोग अनेक विषयों में प्रवृत्तचित्त द्वारा विक्षिप्त, मोहजाल से समावृत और कामभोग में आसक्त हो करके अशुचि नरक में पतित होते हैं ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

व्याख्या। आज हमने इतना (धन) पाया, इससे फलाना मनोरथ पूर्ण करूंगा। इतना (धन) हमारा है, भविष्यत् में और इतना पाऊंगा तब ही मेरा नाम धनवान होगा। फलाने शत्रू को मैं मार चुका और फलाने को मारूंगा। मैं ईश्वर, मैं भोगी, मैं सिद्ध पुरुष, मै बलवान, मै सुखी, धनवान और ज्ञानवान हूं, मेरे समान और कौन है? मैं याग यज्ञ रासधारियों की लीलामें इतना खर्च कर सकता हूं! जो इस प्रकार अज्ञानता से विमोहित हैं और भी बहुत प्रकारके चित्तविभ्रम से (चिन्तादि में पड़करके) आवृत, तथा कामभोग-लालसा में आसक्त हो करके कभी जो अपना होनेवाला नहीं, उसको भी अपना निश्चय करके उसके प्रणय में डूबकर

प्रतिक्षण में उस उस प्रकार चिन्ता में मग्न रहते हैं, इन सबके गाढ़ अभ्यासके लिये मृत्युकाल में कामाकारा वृत्तिके उदय होनेसे ("या मतिः सा गतिर्भवेत्") अशुचि नरक में (आहार-निद्रा-मैथुन-भय-सुलभ योनिमें) पतित होते हैं (जन्म लेते है)। यह सब वृत्तिही चित्तकी निम्नस्तरमें संसार-नरक भोगका खेल है ॥ १३ ॥ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अन्वयः। आत्मसम्भाविताः (आत्मनैव सम्भाविताः पूज्यतां नीताः न तु साधुभिः) स्तब्धाः (अनम्राः) धनमानमदान्विताः (धनेन यो मानो मदश्च ताभ्यां समन्विताः) सन्तः ते (आसुराःजनाः) दम्भेन (धर्मध्वजितया) नामयज्ञैः (नाममात्रैः यज्ञैः) अविधिपूर्वकं यजन्ते ॥ १७ ॥

अनुवाद। आपही आप पूज्यता को प्राप्त, अनम्र तथा धनजनित मान और मदयुक्त हो करके वे लोग दम्भके साथ नाम मात्र यज्ञ द्वारा अविधिपूर्वक यजन करते हैं ॥ १७ ॥

व्याख्या। वे सब आसुर लोग मानते हैं कि सर्व-गुणान्वित मेरे विना और किसीने भी आज तक जन्म नहीं लिया। धनकी गर्मीसे वह लोग गुरुको भी नहीं मानते, किसीके सामने सिर झुकाने नहीं चाहते।

यज्ञका प्रारम्भ करते हैं, परन्तु लोगों को दिखलाकर अपना नाम बढ़ानेके लिये; श्रद्धा सहकार नहीं करते। अहंकारके वश उन सबका यज्ञ विधिपूर्वक नहीं होता। यज्ञका विहित अङ्ग जो सात्त्विकता है, उसे नष्ट करके नाम मात्रके लिये वृथा यज्ञ-कर्त्ता बनते हैं ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

अन्वयः। (यतः) अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः सन्तः अभ्यसूयकाः (सन्मार्गवर्त्तिनां गुणेषु दोषारोपकाः ते आसुराः जनाः) आत्मपरदेहेषु (आत्मदेहे परदेहेषु चिदंशेन स्थितं) मां प्रद्विषन्तः [यजन्त इति पूर्वेण सम्बन्धः] ॥ १८ ॥

अनुवादः। (क्योंकि) अहंकार, बल, दर्प, काम क्रोधका आश्रय करके पराये गुणमें दोषको आरोपित करनेवाले वे सब असुर लोग आत्मदेहमें तथा परदेहमें मुझको द्वेष करके (यजन करते रहते हैं) ॥१८॥

व्याख्या। इन सब आसुरिक स्वभावके लोग आप गुणहीन मूर्ख हो करके भी विद्वान और गुणियोंकी मर्यादा अपने में ले करके विद्वान और गुणी बन कर, सन्मार्ग-वर्त्तियों के गुणमें दोषका आरोप करते रहते हैं, तथा घोर अविद्याके प्रकाश अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध का आश्रय करके सर्व अनर्थके मूल होते हैं। ऐसे

कि इस जगत् में जितने स्त्री, पुरुष, जीव, जानवर, पैदा हुए हैं, सब उन लोगोंके ही भोग-सुख-चाकरीके लिये सृष्ट हुए हैं ऐसा मानते हैं। एक ही चिदंश जो "मैं" रूपसे उन लोगोंके अपने देहमें तथा पराएके देहमें है, वे लोग उसे नहीं मानते, हृदय में धारणा भी नहीं कर सकते। अतएव वे लोग अपने देहमें तथा पराएके देहमें स्थित प्रकृत "मैं" का द्वेष करते रहते हैं। क्योंकि यह सब असुरप्रकृतिके लोग अपने देहको ही "मैं" मानते हैं, देहके ऊपरही उन लोगोंकी "मैंत्व" बुद्धि प्रयुक्त होती है; देह छोड़ करके स्वतन्त्र जो एक आत्मा है, वही जो एकमात्र "मैं" शब्द वाच्य और सर्व देहमें समान भावसे विराजमान है, उसे छोड़ करके यह देह (जो दहन होता है) "मैं" शब्द वाच्य नहीं हो सकता, वे लोग उस वचनको धारणामें भी नहीं ला सकते। इसलिये वे लोग जो कुछ काम काज करते हैं, उसीमें ही "मैं कर्त्ता, मैं भोक्ता" इस प्रकारकी धारणासे उन लोगोंके अपने देहमें स्थित उसी यथार्थ "मैं" को द्वेष करना होता है, और अपनीही भोग्यवस्तु समझके प्राणी वध और प्राणी पीड़नादि द्वारा पराए देहमें भी उसी "मैं" को द्वेष करना होता है। इस कारणसे उन सबकी यजन क्रिया अविधिपूर्वक होती है, विधिपूर्वक नहीं होती ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

अन्वयः। अहं [मां] द्विषतः तान् क्रूरान् अशुभान् नराधमान् संसारेषु (जन्ममृत्युमार्गेषु) आसुरीषु एव (अतिक्रूरासु व्याघ्रसर्पादि-योनिषु) अजस्रं (अनवरतं) क्षिपामि (तेषां पापकर्मणां तादृशं फलं ददामीत्यर्थः) ॥ १९ ॥

अनुवाद। मुझको द्वेष करनेवाले उन सब क्रूर अशुभ नराधमों को मैं संसारकी आसुरी योनिमें ही निरन्तर फेंकता रहता हूं ॥ १९ ॥

व्याख्या। "अहं"=कूटस्थ चैतन्य वा अक्षर पुरुष। यह अहं ही सर्वक्षेत्रमें क्षेत्रज्ञ है। यह पुरुष ही सर्वभूत में सम है; इनका कोई द्वेष्य नहीं और प्रिय भी नहीं है। (९म अः २९ श्लोक)। यही पुरुष कर्मफल-विधाता है; जिसका जैसा कर्म है उसको वैसा फल देते हैं—केशाग्र का कोटि भागैक भागभी इधर उधर नहीं होता। यही पुरुष " सर्वस्य हृदि सन्निविष्टः " है; इन्हींसे ही स्मृति, ज्ञान और इन दोनों का विलयभी होता है (१५ श अः १५ श श्लोक); और यह पुरुष ही सर्वनियन्ता ईश्वर रूपसे स्वकीय स्वभावज कर्म में निबद्ध जीवको तत्तत्कर्म में भ्रमण करवाते हैं (१८ अः ६०। ६१ श्लोक)। जीव जिस काजका प्रारम्भ करता है, जीवको उसी

कर्म में उसके पूर्वकृत कर्मफलके अनुसार शुभ अशुभ फल देनेके लिये उसकी बुद्धिवृत्तिको तदनुरूपसे चलाते हैं। तैसे प्रयाण-कालमें भी जीवको उसके कर्म अनुसार गति देनेके लिये उसके मनमें तदनुरूप भावका स्मरण करा देते हैं। जीव जिस भाव को स्मरण करके मरता है, पश्चात् जन्ममें उसी भावकोही प्राप्त होता है। मृत्युकालमें आत्मभाव स्मरण होनेसे ही प्राकृतिक अधिकारसे मुक्त होता है; नहीं तो प्रकृतिके गर्भके भीतर जन्म-मृत्यु-प्रवाहमें चक्कर खाता रहता है। इसी प्रकारसे कर्मफल विधान करनाही अन्तर्यामी ईश्वरका कार्य है।

अब बात यह है कि असुर-स्वभाव वाले लोग देहात्माभिमान सम्पन्न, आत्मद्वेषी, क्रूरमति तथा अशुभ-कारी होते हैं। इसलिये प्रयाण-कालमें भगवान उन सबके मनमें देहभावका स्मरण करा देते हैं। इसलिये उन सबको जन्ममृत्युसंकूल संसारमार्गमें देह धारण करना होता है, वे सब पुनः आत्मद्वेषी क्रूरमति और अशुभकारी होते हैं। बार बार इस प्रकार होते रहनेसे उन सबका क्रम अधोगति दिशामें जाता रहता है। वे सब अत्मद्रोही भीषण प्रकृतिके मनुष्यसे क्रम अनुसार व्याघ्र सर्प प्रभृति आसुरी योनिमें पड़ते रहते हैं। इस प्रकारसे वे लोग अपना अपना कर्मफल आप भोगते रहते हैं॥ १९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ २०॥

अन्वयः। हे कौन्तेय ! (ते) मूढ़ाः जन्मनि जन्मनि आसुरीं योनिं आपन्नाः मां अप्राप्य एव ततः (तस्मादपि) अधमां गतिं (कृमि-कीटादिगतिं) यान्ति॥ २०॥

अनुवाद। हे कौन्तेय! वे (सब) मूढ़गण जन्म जन्म आसुरी योनि को प्राप्त हो कर, मुझको न पाके उससे भी अधम गतिको प्राप्त होते हैं॥ २०॥

व्याख्या। हे कौन्तेय! आसुरी योनिगत वे मूढ़जन मुझको प्राप्त न होकर हमसे अतीव दूरमें जाकरके मेरी ज्योतिके अन्तरालमें तमोबहुल नीच जन्म लेते लेते निस्तरंग अवीचि-नरकके कीट हो करके रहते हैं। उन सबको फिर "मैं"त्व पानेका उपाय नहीं रहता॥ २०॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामःक्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥२१॥

अन्वयः। कामः क्रोधः तथा लोभः इति इदं त्रिविधं नरकस्य द्वारं अतएव आत्मनः नाशनं (नीचयोनिप्रापकं), तस्मात् एतत्त्रयं [सर्वात्मना] त्यजेत्॥ २१॥

अनुवाद। काम, क्रोध और लोभ यह तीन प्रकारके नरकके दर्वाजें हैं

तथा आत्माके नाशक (नीच योनि प्रापक) हैं; इसलिये इन तीनोंको सर्वथा परित्याग करना चाहिये ॥ २१ ॥

व्याख्या । "नरक"—(न = नास्ति, रं = प्रकाश, कं=मस्तक) मस्तकमें आत्मज्योतिका प्रकाश जिस अवस्था में नहीं रहता वही नरक है; अर्थात् अज्ञानता वा विवेक-हीन अवस्था ही नरक है । यह जो नरक है इसके द्वार तीन हैं एक काम, दूसरा क्रोध, और तीसरा लोभ । इस काम, क्रोध और लोभके वश होनेसे ही उस नरक अवस्थाकी प्राप्ति होती है और आत्माका नाश होता है अर्थात् आत्म-ज्ञान ढंक जानेसे जीवात्मा की अधोगति होती है, नीच योनि प्राप्ति होती है । अतएव यह तीनों वृत्तियां मुमुक्षुओं के लिये त्याज्य हैं ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

अन्वयः । हे कौन्तेय ! तमोद्वारैः (तमसो नरकस्य द्वारभूतैः) एतैः त्रिभिः (कामादिभिः) विमुक्तो नरः आत्मनः श्रेयः (तपोयोगादिकं श्रेयःसाधनं) आचरति ततश्च परां गतिं याति (मोक्षं प्राप्नोति) ॥२२॥

अनुवाद । हे कौन्तेय ! नरकके द्वार स्वरूप इन तीनोंसे विमुक्त होनेसे ही मनुष्य अपना श्रेयः (कल्याण) आचरण करता है, परागति भी प्राप्त होती है ॥ २२ ॥

व्याख्या। हे कौन्तेय! काम, क्रोध और लोभ, इन तीनोंके विशेष रूपसे छुट जानेसे ही प्राकृतिक तमो का दर्वाजा अतिक्रम हो जाता है। तब सुषुम्नामें प्रवेशाधिकार प्राप्त होनेसे अविरोधी आत्मज्योतिका प्रकाश होता है, और आत्मयोगके आचरण करनेके लिये साधक निःश्रेयस जो परागति है, उसे ही पाता है; ब्रह्ममें मिल करके ब्रह्मत्व लेता है। फिर आने जानेका कोई काम नहीं रहता॥ २२॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः। *
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥२३॥

अन्वयः। यः शास्त्रविधिं (वेदविहितं धर्मं) उत्सृज्य (त्यक्त्वा) कामचारतः (यथेष्टं) वर्त्तते, सः सिद्धिं (तत्त्वज्ञानं) न अवाप्नोति, न च सुखं (उपशमं) न च परां गतिं (मोक्षं) अवाप्नोति॥ २३॥

अनुवाद। शास्त्र विधि परित्याग करके, जो स्वेच्छाचारी होते हैं, वे सिद्धिको नहीं पाते, सुख नहीं पाते और परागतिको भी प्राप्त नहीं होते॥ २३॥

व्याख्या। शास्त्र अर्थमें वेद, और विधि अर्थमें नियम है। वेदविहित धर्म वा नियमको शास्त्र-विधि कहते हैं। मूलाधारादि सहस्रार पर्यन्त क्रम अनु-

*"कामकारतः" इति पाठान्तरं कामप्रयुक्तः सन् इत्यर्थः॥२३॥

सार भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यं इन सप्त व्याहृति स्थानके ज्ञानको वेद कहते हैं (२ अः ४५ श्लोक व्याख्या देखो)। इस वेद वा ज्ञानमें जीवकी आत्मोन्नति साधन होती है। इसलिये शास्त्रविधिका अर्थ आत्मोन्नति सम्बन्धीय वेदके नियम है। वेद ब्रह्माजीके मुख कमलसे उच्चारित हुए हैं; ब्रह्मदेवका वाक्य ही शास्त्र है। सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा मूलाधार कमलमें ही साधकके नयन गोचरमें आते हैं। सृष्टिके बाद ही सहयज्ञ प्रजागणके ऊपर उनका (ब्रह्माका) प्रथम अनुशासन वाक्य है कि—"देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथः। इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः। तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः।" ३य अः ११। १२ श्लोक। इस वाक्यमें जीवकी सहज-यज्ञकी कथाही कही हुई है। यह सहज यज्ञ अर्थात् प्राणायाम क्रिया उस श्लोककी व्याख्यामें समझाया हुआ है। यह वाक्य ही आत्मोन्नति सम्बन्धीय नियम हैं; यही शास्त्रविधि है।

शास्त्रविधि शब्दका और भी एक अर्थ है। जो शासन करता है, उसीको शास्त्र कहते हैं। इस शरीरका शासन-कर्त्ता वायु है। वायुसे ही शरीरकी क्रिया चल रही है, वायु थोड़ी सी इधर उधर होनेसे फिर

शरीर नहीं ठहरता। इसलिये शरीरमें वायु ही शास्त्र है। वायु प्राण-रूपसे जीवकी जीवन रक्षा करता है; यह वायु सम और सूक्ष्म हो करके क्रिया करनेसे जीव को ज्ञान देता है—ब्रह्मत्व देता है, और विकृत होनेसे पागल बनाता है—संसार का कीट करता है*। इसलिये शरीरका शासक इस वायु को अपना आयत्त करनेसे ही जीवकी आत्मोन्नति होती है। अतएव इस वायु-क्रियाके सम्बन्धमें जो नियम है वही शास्त्रविधि है; अर्थात् प्राणायाम वा प्राणयज्ञ सम्बन्धीय नियमको ही शास्त्रविधि कहते हैं। यह नियम ब्रह्माजीके उस अनुशासन वाक्य बिना और कुछ भी नहीं है। इस कारणसे शास्त्रविधि शब्दका अर्थ जो कुछ हो, उसका फल एकही है, सहयज्ञ वा प्राणक्रिया का नियम ही शास्त्रविधि है। ब्रह्माजीके मुखसे निकला हुआ यह वेद का विधान है।

वेदके त्रैगुण्य विषय होनेके कारण भगवान अर्जुन को निस्त्रैगुण्य होनेके लिये उपदेश दिये हैं (२ य अः ४५ श्लोक)। उस उपदेशमें श्रीभगवानने वेद-विधि की अवहेलना करना नहीं कहा है। वेद-विधि ही

* मनुष्य मात्रही वायुग्रस्त हैं। जिसकी जैसी वायु, वह तैसेही काज करता है; जैसे किसीका साधु होनेके लिये वायु, किसीका बदमाश होना लिये वायु इत्यादि प्रकार हैं। इस वायुको ही मनका झक वा प्रवृत्ति कहते हैं॥ २३॥

निस्त्रैगुण्य होने का एकमात्र उपाय है। अंधियारे घर के भीतर अभिलषित चीज देख लेनेके लिये एकमात्र उपाय जैसे दीप ही है, तैसे निस्त्रैगुण्य होनेके लिये जो एकमात्र उपाय है वह वेद-विधि है। अभीष्ट चीज मिलनेके पश्चात् फिर जैसे उस उजले का प्रयोजन नहीं रहता, तैसे निस्त्रैगुण्य होनेके पश्चात् फिर उस वेद-विधिसे प्रयोजन नहीं रहता। इसलिये प्रथम साधनमें शास्त्र-विधि त्याग करके जो स्वेच्छाचारी होते हैं, वे भ्रान्त हैं, उनको सिद्धि, सुख, परागति कुछ भी प्राप्ति नहीं होती। षट्चक्र की क्रिया ही वेद का कर्म-काण्ड और सहस्रार-क्रिया ही ज्ञानकाण्ड हैं। इन दोनों काण्डको साधन द्वारा अतिक्रम न करनेसे गुणातीत निस्त्रै-गुण्य पद नहीं मिलता। घोड़े को लांघकर घास खाया नहीं जाता।

३य अः ११।१२वां श्लोककी व्याख्यामें प्राणक्रियाके नियमकी व्याख्या की हुई है। यहां संक्षेपसे केवल इतनाही कहनेसे होगा कि शरीरके भीतर वायु खींचनेके समय अर्थात् प्रश्वास ग्रहण करनेके समय बाहरवाले आकाशकी विमल वायुको नासारन्ध्र और गलगह्वर देके वायुपथसे मूलधारमें लाकर उस वायुके साथ साथ गुरूपदिष्ट चित्त-पथमें उठकर शक्ति समूहको प्रबोध देते हुए परम शिवमें

कुलकुण्डलिनीको मिला करके फिर विपरीत क्रियामें निःश्वास त्यागके साथ उस वायुको बहिराकाशमें स्थापन करनेको शास्त्रविहित कर्म कहते हैं। इस क्रियाकी संख्या अहोरात्रमें २१६०० बार है। इस विधिसिद्ध क्रियाको परित्याग करके कामाकारा वृत्ति लेके स्वेच्छाचारी हो करके प्रश्वास और निःश्वासका अपव्यवहार जो लोग करते हैं, वे लोग सिद्धि (प्राप्तिकी प्राप्ति), सुख (ब्रह्मानन्द), परागति (ब्रह्ममें लय) कुछभी नहीं पाते ॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥२४॥

अन्वयः। तस्मात् कार्याकार्यव्यवस्थितौ (कर्त्तव्याकर्त्तव्यव्यवस्थायां) ते (तव) शास्त्रं (श्रुत्यादिकमेव) प्रमाणं (ज्ञानसाधनं); इह (कर्माधिकारभूमौ) शास्त्रविधानोक्तं कर्म ज्ञात्वा कर्त्तुं अर्हसि ॥२४॥

अनुवाद। उसी कारणसे कार्य तथा अकार्य व्यवस्था सम्बन्धमें शास्त्रही तुम्हारा प्रमाण है; इस शास्त्र विधानोक्त कर्मको जान करके उसे (साधन) करनेके लिये योग्य हो जाओ ॥ २४ ॥

व्याख्या। पूर्व श्लोककी व्याख्यामें शास्त्र शब्दकी व्याख्या किया हुआ है। इस श्लोकमें कहा जाता है कि, कार्याकार्य निरूपणमें शास्त्रही प्रमाण है। इस लिये विशेष करके शास्त्रका परिचय देना आवश्यक है। शास्त्रका परिचय पानेसे ही साधक इस श्लोकका गूढ़भाव हृदयङ्गम कर सकेंगे।

पूर्व व्याख्यामें कहा हुआ है कि, वायु शरीरको शासनमें रक्खे है,—पञ्चप्राण रूपसे शारीरिक समस्त क्रिया चलाते हैं; इसलिये शरीरमें वायुही शास्त्र है। यह गीतामें है कि "वायुः सर्वत्रगो महान्" (९म अः ६ष्ठ श्लोक)। इन्द्रिय वृत्तिसमूह तथा मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तकी क्रिया भी वायुक्रियाके वशमें चालित है। इस शरीरमें वायुका शरणापन्न तथा सहचर होनेसे अर्थात् वायुके वशमें क्रिया करते हुए भक्ति-विनम्र हृदय द्वारा क्रम अनुसार वायुको सम और सूक्ष्म करके आयत्ताधीन करलेने से सर्वशास्त्रवेत्ता तथा सर्वज्ञ हुआ जा सकता है, विभूतिभूषण हो करके ब्रह्मत्व लाभ भी किया जा सकता है। प्रश्नोपनिषदका ३य सूत्रमें है "प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति" अर्थात् प्राणवायुरूप अग्निही इस शरीर में जाग्रत गुरु है। इस वायुकी क्रियाका नामही ब्रह्मविद्या है। कारण कि वायुही ब्रह्म है। तैत्तिरीय उपनिषद्में है—"नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्ष ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु।"

वायुका दो गुण है, शब्द और स्पर्श। गुरुगण कहते हैं कि, यदि वायु सूक्ष्म नाड़ीपथमें चालित होय तो, सप्तत्वचा शीतल बोध होती हैं, अव्यक्त स्पर्श सुखसे मनमें आनन्द सञ्चार होता है, और भीतर नाना प्रकारके

शब्दोंका उत्थान होता है; वह सब शब्द क्रम अनुसार नादमें परिणत होता है तथा नादसे अनेक प्रकारकी वाक्यलहरी प्रवाहित होती है। उस वाक्यलहरीमें चित्तको संयत करनेसे श्रुति, स्मृति प्रभृति समग्र ज्ञानविषय सुननेमें आ जाता है। यह समस्त ज्ञान शास्त्ररूपी वायुके द्वाराही उत्पन्न होता है, और उसी ज्ञानसेही संसार चलता है इस कारण उस श्रुति स्मृतिको भी शास्त्र कहते हैं। दयावान् आर्यऋषिगण उन्हीं ज्ञान समूहको शास्त्र नाम देकरके भिन्न भिन्न ग्रन्थाकारमें लिपिबद्ध कर गये हैं*। केवल सुननेमें आता है, ऐसा नहीं परन्तु उस नाद के भीतरसे एक ज्योति खिल उठती है, उस ज्योतिसे भूत भविष्यत्का व्यापार दर्शनमें आता है। इस कारण करके वायु साधकको सर्वज्ञ और सर्वदर्शी करता है, साधकके ज्ञानको भी शासनमें रखता है।

यह शास्त्रका परिचय हुआ। यह वायुरूपी शास्त्र कार्याकार्य व्यवस्थामें किस प्रकारके प्रमाण है, उसे अब देखना चाहिये। निश्चयका हेतुको प्रमाण कहते हैं। श्रीमत् शंकराचार्य स्वामी कहे हैं कि, प्रमाण

* इसलिये व्यवस्था है कि, जो साधक जिस व्रतका अनुष्ठान करेंगे वह साधक उसी सम्बन्धीय शास्त्रका अभ्यास करेंगे; ऐसा होनेसेही साधक अपने ज्ञातव्य अनुष्ठेय विषयको जान सकेंगे। "यत् यत् शास्त्रं समभ्यसेत् तत्तत् व्रतं समाचरेत्॥ २४॥

अर्थमें ज्ञान, साधन है। कोइ एक विषय कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य, उसे जानना हो—निश्चय करना हो तो, शास्त्रही उस निश्चयका हेतु होता है। कारण कि, शास्त्र अर्थात् शरीरका शासक वायुही बुद्धिक्षेत्रमें संयत हो करके बुद्धिको सचेष्ट करके विकशित करके कर्त्तव्या-कर्त्तव्यका निरूपण कर देता है। जो लोग साधन-मार्गमें किञ्चिदपि अग्रसर हुए हैं, सो सब साधक वायुकी यह आश्चर्यजनक क्रिया समझ सकेंगे। देखा जाता है कि अस्मदादिके अन्तःकरणमें जाग्रत अवस्थामें साधारणतः जो सब भाव प्रकाश पाता है, आसन करके बैठकर क्रिया करनेके समय वायु सूक्ष्मपथमें थोड़ासा प्रवेश करते मात्रही वे सब भाव और अन्तःकरणमें स्थिर भावसे नहीं रहते। ऐसा भी होता है कि, मन उदास होजाता है, कुछ भी अच्छा नहीं लगता, एक जगहपर रहनेकी इच्छा नहीं करती, ऐसी अवस्थामें यदि शरीरकी वायुगति घुमाय देओ, वायुके ऊपर मन फेंकके वायुको कूटस्थकी दिशामें चला देओ तो, वायुकी गति घुमनेके साथही साथ मनकी पूर्व अवस्थाका परिवर्त्तन हो जाता है। ज्यों ही वायुका सूक्ष्मपथमें चलना प्रारम्भ होता है, त्योंही मनमें एक आश्चर्यजनक परिवर्त्तन होता है; मन बहुव्यापी हो जाता है; कितने कालका

कितने प्रकारका भला बुरा भाव सब एकट्ठे हो कर मनके भीतर उदय होता है; मन जैसे उन सब भावको तब एक बार नवीन करके सोच लेता है। कृत-कर्मके संस्कारका ऐसाही प्रताप है! उसके ऊपर वायु सम हो आनेसे देखनेमें आता है कि, बाहरका भाव और भीतर में प्रवेश नहीं करता, अन्तःकरण भीतर वाले व्यापारमें ही आकृष्ट रहता है। (इस विषयको अति बालक साधक भी अनुभवसे समझते हैं)। केवल यही नहीं। वायु जब सूक्ष्म होता है—वायुको जहां इच्छा हो लेजाया जा सकता है, संयत किया भी जा सकता है, तब देखनेमें आता है कि वायु स्थानविशेषमें अन्तःकरणके भीतर विशेष विशेष भावका उदय करा देता है। ऐसे कि, मनमें कोई कुछ जाननेका प्रबल इच्छा रहनेसे, वायु उसी इच्छाके साथ एकीभूत हो करके चैतन्यमय हो जाता है और मनको लक्ष्यस्थलमें स्थिर धीर भावसे अटका कर, कोई जैसे कुछ कहगये, इस प्रकार अशरीरी वाणीसे मनके भीतर जो जाननेका विषय था, उसे कह देता है। वही वाणी कहना तथा मनकी वह वाणी सुनना ठीक जैसे विद्युत् चमक के सदृश काज हो जाता है। उस वाणीको सुनते मात्र मन परितृप्त हो जाता है, समझनेमें कुछ भी बाकी रहना या कुछ भी सन्देह रहना, ऐसा कुछ भी नहीं रहता। मन उस

विषयमें एकदम निःसन्देह स्थिरनिश्चय हो जाता है। उस वाणीकी ऐसीही शक्ति है! अतएव कार्याकार्य व्यवस्था वा कर्त्तव्याकर्त्तव्य निरूपण करना हो तो, साधक! तुम वायुरूपी शास्त्रका आश्रय लो; शास्त्रही तुमको प्रमाण कर देगा, निश्चय रूपसे कह देगा, कौन कर्त्तव्य और कौन अकर्त्तव्य है *। वायुरूपी शास्त्र ब्रह्मपथको परिष्कार रूपसे दिखला करके तुम्हें ब्रह्माण्डका ज्ञान दे देगा।

कार्याकार्य व्यवस्थामें शास्त्रही जो प्रमाण वा निश्चयका हेतु है उसे निर्द्धारण करनेका और भी एक

* जिस प्रकार शास्त्रज्ञ न होनेसे शास्त्र (पोथियां) खोल करके कोई एक विषय प्रमाण किया वा मीमांसा किया नहीं जा सकता, तब शास्त्रज्ञ अध्यापकके पास जा करके शास्त्रका प्रमाण जान कर समझ लेना पड़ता है; उसी प्रकार साधक जितने दिन शास्त्रज्ञ न होसकते, अर्थात् वायुरूपी शास्त्र को जानकर बूझकर अपने आयत्तमें ला नहीं सकते हैं, उतने दिन साधक प्राण खुल करके अपने अन्तरके भीतर अपने जाननेका विषय देख लेकरके निःसन्देह हो नहीं सकते, उतने दिन गुरुवाक्यही उनका शास्त्र है,—गुरुवाक्यही उनके लिये कार्याकार्य व्यवस्थामें प्रमाण स्वरूप है। गुरुके मुखका वचन और अन्तर की वही अशरीरी वाणी एक बिना दो नहीं है; उस अशरीरी वाणीको भी गुरुवाक्य कह करके जानना। क्योंकि वह वायुकी ही क्रिया है; वायुही गुरु है। अग्नि द्विजातिका गुरु है, इसलिये उपनिषद् में प्राण समूहको अग्नि कहके वर्णन किया है—"प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति"। जगत् भी प्राणमय है—"प्राणोहि भगवानीशः प्राणोविष्णुः पितामहः। प्राणेन धार्यते लोकः सर्वं प्राणमयं जगत्॥"

उपाय है। रजः सत्त्व तमः यह तीन गुण और क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम इन पांचों तत्त्वोंकी क्रिया शरीरके भीतर सब समय एकरस बराबर समान नहीं रहती। एक एक समय एक एक गुण और एक एक तत्त्वकी क्रिया प्रबल रहती है। प्रत्येक गुण और तत्त्व कर्मका भिन्न भिन्न फल उत्पन्न करता है। कोई कार्य करनेके समय उस कार्यका फलाफल पहिले जान ले कर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निरूपण करना हो तो, शरीरमें उस समय कौन गुण और कौन तत्त्वकी क्रिया चलती है, उसे देखनेसे ही जाना जा सकता है। प्रत्येक गुण और प्रत्येक तत्त्वका अलग २ रंग है, उसीको देख करके ही शरीरमें कौन गुण और कौन तत्त्वकी क्रिया चल रही है सो समझमें आता है। रजः, सत्त्व, तमः यह तीन गुण त्रिकोणाकारमें तीन विन्दुके रूपसे लक्ष्यमें आते हैं। रजो-विन्दु उस त्रिकोणके वाम दिशाके कोण में लक्ष्य होता है, उसका नाम वामा और रंग लाल (रक्तवत्) है। सत्व-विन्दु उर्ध्व दिशाके कोणमें दृष्ट होता है, उसका नाम ज्येष्ठा और उस का रंग शुभ्र (ज्योत्स्नावत्) है। तमो-विन्दु दक्षिण दिशाके कोणमें दृष्ट होता है, उसका नाम रौद्री और रंग काला (दलिताञ्जनवत्) है। क्षितिका रंग हरिद्रावर्ण, अपका रंग

फीका सब्ज, तेजका रंग लाल (ज्वलन्त अंगारवत्), मरुत्का रंग जंगाल (धूम्र रंग भी वायु तत्त्वमें दिखाई पड़ता है), और व्योमका रंग आसमानी (आकाश सदृश नीला) है। वायुही इन सब रंगोंको कूटस्थमें प्रकाश कर देता है। गुरूपदिष्ट नियमसे वायुको खींच करके कूटस्थके ऊपर लक्ष्य करनेसे ही शरीरमें उस वक्त जो गुण प्रबल है उसका विन्दु और जिस तत्त्वकी क्रिया चल रही है उसका रंग देखनेमें आता है। इसे देख करके ही योगीगण कर्मका फलाफल जान करके कर्त्तव्याकर्त्तव्यका स्थिर करते हैं। क्षितिका रंग देखनेसे समझना होगा कि कर्ममें आशु फल मिल जावेगा, शुभजनक, निरापद है इत्यादि। अप्का रंग देखनेसे समझना होगा कि, फल मिलना संदेहजनक है। तेजका रंग देखनेसे समझना होगा कि कर्ममें सिद्धि लाभ नहीं होगा, फल नहीं मिलेगा। मरुत्का रंग देखनेसे समझना होगा कि शुभ हो सकता है, परन्तु ऐसा होनेसे भी वह स्थायी न होगा। व्योमका रंग देखनेसे समझना होगा कि फल फलेगा; परन्तु बिलम्ब करके। तीन गुणके वह जो तीन विन्दु त्रिकोणाकारमें दर्शन देते हैं, उनके भीतर जिस गुणकी प्रबलता होगी उसी गुणका विन्दु स्पष्ट होकर उज्ज्वल होगा। शरीरमें

रजोगुणका प्रकाश जब देखोगे, तब कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये, धर्म लाभ होवेगा; कारण कि वामा धर्मदायिनी शक्ति है। सत्त्वगुणका प्रकाश जब देखोगे तब केवल अर्थके लिये कर्म करोगे, उसका फल भी मिल जावेगा, इसको छोड़ करके और दूसरे कोई कर्म न करना, कारण कि ज्येष्ठा अर्थदायिनी शक्ति है। और तमोगुण का प्रकाश जब देखोगे, उस समय काम्य कर्मके उद्देशमें यात्रा करनेसे अभीष्ट सिद्धि होगा, क्योंकि रौद्री काम-सिद्धिदायिनी शक्ति है। यह तीन विन्दु मिल करके एक होनेसे उस त्रिकोणके केन्द्रस्थलमें श्रीविन्दु प्रत्यक्ष होता है, वह विन्दु मुक्तिदायिनी शक्ति है। साधक एकमात्र वायुकी सहायतासे यह सब तत्त्व दर्शन करते हैं और उन सबका फल जान करके उससे कर्त्तव्या-कर्त्तव्य स्थिर कर ले सकते हैं। अतएव कार्याकार्य व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। साधन में गुरुमुखसे वायु-क्रियाका अनेक प्रकारका रहस्य जाना जाता है; उन सबको व्यक्त करना अनावश्यक है।

इस श्लोकके प्रथमार्द्धका अर्थ समझाया गया। अब शेषार्द्ध का अर्थ समझना होगा। शास्त्र आयत्त होनेसे ही ज्ञान लाभ होता है। कौशल द्वारा वायुक्रियाको आयत्त करना ही आत्मोन्नतिका एकमात्र उपाय है।

वायुक्रियाको स्वायत्त करनेके सम्बन्धमें प्राणायामादि रूप जो जो नियम हैं, उन्हींको शास्त्रविधान कहते हैं। और अधिकारी भेद करके (साधकका साधन की उन्नतिके क्रम अनुसारमें, शरीर-मन शुद्धिके लिये एकके बाद एक करके जो सब क्रिया अनुष्ठान करनेकी व्यवस्था है, उसीको शास्त्रविधानोक्त कर्म कहते हैं। श्रीमत् स्वामी शंकराचार्य जी कहे हैं "इह इति अधिकारभूमिप्रदर्शनार्थं" अर्थात् इस श्लोकमें "इह" शब्द साधककी अधिकारभूमि को प्रदर्शन करानेके लिये व्यवहृत हुआ है। इस अधिकार-भूमि का विभिन्न-स्तर है इसलिये शास्त्रविधानमें विभिन्न प्रकार कर्म का अनुष्ठान करनेकी व्यवस्था है। जो साधक जैसी अधिकार-भूमिमें खड़ा होगा, उसको तदनुरूप क्रिया करनी होगी। नहीं तो वह भ्रष्ट होजायगा। पूर्व श्लोकमें कहा हुआ है कि, "देवान् भावयतानेन" इत्यादि कोही शास्त्रविधि कहते हैं। उस विधिको पालन करनेका साधारण नियम है "असक्तोह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः" अर्थात् अनासक्त हो करके कर्मका आचरण करना। परन्तु साधक जैसे जैसे साधनफलसे ऊंचेसे ऊंचे क्षेत्रमें उठते रहेंगे, उसके साथही साथ उनकी उन्नतिके पथ का कण्टक समूह (शत्रुभावापन्न वृत्तियां) प्रत्यक्ष होते

रहेंगे। प्रतिकूल वृत्तिको देखतेही उसका विनाश साधन न करनेसे फिर उठा नहीं जा सकता, उन्नतिमें विघ्न पड़ता है। तब साधक जिस अधिकार-भूमिमें पहुंचे हैं उसी भूमि का अनुष्ठेय कर्म को विशेष रूपसे जानकर उनको उसी कर्मका अनुष्ठान करके शत्रु-विनाश करना होगा। अधिकार-भूमिके उचित कर्मको लक्ष्य करकेही श्रीभगवान् १८श अः में कहे हैं "सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्"। इसका अर्थ यथा-स्थानमें व्याख्या की जावेगी।

"देवान् भावयतानेन" इत्यादि यह जो आदि शास्त्रविधि है, इस विधि पालन में विघ्न उपस्थित होनेसे ही उसे दूर करनेके लिये कुछ विधान हैं। यथासमयमें उन सब विधानको परिज्ञात हो करके तदनुरूप कर्म करना पड़ता है। गुरुदेवही उसे जना देते हैं। साधक असक्त हो करके साधारण नियम से क्रिया करते हुए भीतर प्रवेश करनेका अधिकार लाभ करनेसे श्रीगुरुदेवके पास एकके बाद एक, द्वितीय क्रिया, तृतीय क्रिया, चतुर्थ क्रिया प्रभृति विविध क्रिया और उसके साथ साधनकी विशेष प्रकार की सुविधा के लिये ईड़ापिंगला-शोधन क्रिया, ग्रन्थिभेद क्रिया प्रभृति नानाविध क्रिया ज्ञात हो करके उन सबका अभ्यास

करते हैं। उसमें विघ्न विनाश हो करके आत्मोन्नतिके साथही साथ भिन्न भिन्न प्रकारकी विभूति लाभ होती रहती है। उन सब क्रियाके अनुष्ठान करनेके नियममें किंचित् विशेषत्व है। कारण उन सब क्रियामें गुरूपदेश मतसे श्वासके ऊपर चेष्टाका प्रयोग करना होता है, श्वास को क्रम अनुसार दीर्घ करना होता है, वायु धीरे धीरे आपिच बहुत जोरसे खींचना फेंकना होता है; निश्वास प्रश्वासकी मध्यवर्त्ती स्थिति कालको बढ़ाना पड़ता है, श्वास को कभी कण्ठसे कभी तालुसे खींचना फेंकना होता है। इन समस्त क्रियामें अभ्यस्त होनेसे नाड़ीपथ समूह परिष्कार हो करके साधन-मार्ग निष्कण्टक होता है और मृत्युकालमें मृत्यु-यन्त्रणा से अधीर हो करके आत्मच्युत होनेकी सम्भावना भी दूर होती है।

अब देखना चाहिये कि, गीतावर्णित साधक अर्जुन किस प्रकार अधिकारभूमिमें वर्त्तमान है। अर्जुन साधनमें क्षत्रियचूड़ामणि, अब युद्धके लिये रथारूढ़ हो करके धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें शत्रुओंके सम्मुखीन होकर धनुः उत्तोलन किये ही थे; परन्तु शस्त्रसम्पात् प्रारम्भ होनेहीके समय "अहं ममेति" संसार-मोहमें मोहित हो करके शोकाकुल होनेसे शर सहित धनुः को परित्याग

करके राजस वृत्ति को भी त्याग करके तमोगुण (प्राकृतिक तमो) के आकर्षणमें पड़ करके किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हुए हैं। इसलिये सत्त्वगुणमूर्त्ति श्रीभगवान् आत्मज्ञानालोक से उनका मोह दूर करते हैं, कहते हैं कि "इह शास्त्रविधानोक्तं कर्म ज्ञात्वा कर्त्तुं अर्हसि"; "सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्"। अर्थात् तुम क्षत्रिय हो, तुममें सत्त्वमिश्रित रजोगुण प्रधान है; क्षत्रियोंकी लीलाभूमि समर-क्षेत्रमें तुम समरार्थ आगत हो। तुम यह जो अधिकार-भूमिकामें दण्डायमान हो, इसमें तुम्हारा स्वभावज कर्म है "शौर्य्य, तेज, धृति, दाक्ष्य, युद्धमें अपलायन, दान और ईश्वरभाव"। यही शास्त्रविधानोक्त कर्म है। इस कर्म के बिना तुम्हारा और कोई दूसरा श्रेयः नहीं है। यदि तुम अपने इस स्वभावज कर्मको त्याग करके अब तमोगुणके आश्रयमें मोहग्रस्त हो जाओ, तो "अधोगच्छन्ति तामसाः" इस वचन अनुसार तुमको अधःपतित होना होगा। अतएव अब शौर्य्य, तेज, धृति इत्यादिका अवलम्बन करके यथानियमसे प्राण-चालन क्रिया करते रहो। सूक्ष्म प्राणरूप शर-सन्धानसे प्रतिकूल वासना वृत्ति समूह को विनष्ट करो॥ २४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम
षोड़शोऽध्यायः।

सप्तदशोऽध्यायः ।

अर्ज्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

अन्वयः । अर्ज्जुनः उवाच । हे कृष्ण ! ये शास्त्रविधिं उत्सृज्य तु (किन्तु) श्रद्धया अन्विताः सन्तः यजन्ते, तेषां निष्ठा (स्थितिः) का (कीदृशी) ? सत्त्वं रजः आह तमः ? (तेषां तादृशी देवपूजादि-प्रवृत्तिः किं सत्त्वसंश्रिता रजःसंश्रिता तमःसंश्रिता वेत्यर्थः) ॥ १ ॥

अनुवाद । अर्ज्जुन कहते हैं । हे कृष्ण ! जो लोग शास्त्रविधि को परित्याग करके, परन्तु श्रद्धासे युक्त हो करके यजन करते हैं, उन सबकी निष्ठा किस प्रकार की है ?—सत्त्व, रजः अथवा क्या तमः है ? ॥१॥

व्याख्या । साधक अब अपने मन ही मनमें विचार का प्रश्न करते हैं ।—ब्रह्ममार्गमें वायु-चालनके साथ ही साथ चुड़ेला, महाकालसे आदि ले करके ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर ऐसे कि सत्त्व-रज-तम-गुणा महाशक्ति पर्य्यन्त असंख्य देव-देवी की मूर्त्ति दर्शनमें आती है । कितने अशरीरी वाणी का (श्रुति का) प्रमाण, इस जन्ममें करने की तो बात ही नहीं—ध्यानमें लाने का भी

अवसर नहीं मिला, ऐसे ऐसे विषय स्मरणमें (स्मृति) आते हैं। बड़े बुड्ढे जिसे दर्शन किए हैं, श्रवण किये हैं, परन्तु मैं ने न कभी देखा न सुना, ऐसी प्राचीन (पुराण) कथा, कितनी गाथा (गायत्री आदि छन्द) भी जाग्रत प्रत्यक्ष प्रमाण देखता हूं। परन्तु इसके एक भी बाहर नहीं है। जब यह सब देखता हूं, सुनता हूं, अनुभव करता हूं, समझता हूं, तब मन जैसे उन विषयोंमें मिलके तन्मयी भावमें रहता है। वह जो श्रद्धान्वित यजन है, इससे शास्त्रविधि (गुरुप्रदर्शित वायु चालनके उपदेश) को उल्लंघन (परित्याग) करा देता है; क्योंकि ब्रह्मनाड़ीके ठीक बीचमें रहने न दे करके इन सबके साथ संस्पर्शदोष लगाता है (५ म अः १० म श्लोक)। यह जो यजन-निष्ठा (देवदेवी की उपासना और तत्तद्विषयमें तन्मयी हो करके रहना) है, यह निष्ठा (श्रद्धा) सत्त्व, रजः, अथवा तमः है? हे कृष्ण! सो तुम मुझसे कहो॥ १॥

श्रीभगवानुवाच।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ २॥

अन्वयः। देहिनां श्रद्धा स्वभावजा (स्वभावः पूर्वसंस्कारस्तस्मा-

ज्जाता), सा (श्रद्धा) सात्त्विकी राजसी च तामसी च इति त्रिविधा एव भवति; तां (इमां त्रिविधां श्रद्धां) शृणु ॥ २ ॥

अनुवाद । देहियों की श्रद्धा स्वभावज है; वह सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की होती हैं; उन्हें श्रवण करो ॥ २ ॥

व्याख्या । निजबोधसे विचार का सिद्धान्त करते हैं । देहियों का आजन्म अभ्याससे जो भला बुरा कर्म्म-संस्कार उत्पन्न होता है, उसीको उन सबका स्वभाव कहते हैं । उस स्वभावके भीतर सत्त्व, रज, तम यह तीनों गुण रहते हैं । जिस गुण को ले करके जो देही जन्म ग्रहण करते हैं, उनकी श्रद्धा भी तदनुसार रूप दिखाती है । यह तीनों प्रकार की श्रद्धा कैसी है उन्हें सुन लो ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्व्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३ ॥

अन्वयः । [ननू श्रद्धा सात्त्विक्येव तथापि रजस्तमोमिश्रितत्वेन सत्त्वस्य त्रैविध्यात् श्रद्धाया अपि त्रैविध्यं घटते इत्याह सत्त्वेति ।] हे भारत ! सर्व्वस्य (विवेकिनोऽविवेकिनो वा लोकस्य) श्रद्धा सत्त्वानुरूपा (सत्त्वतारतम्यानुसारिणी) भवति; अयं पुरुषः (संसारी जीवः) श्रद्धामयः (श्रद्धाविकारः त्रिविधया श्रद्धया विक्रियत इत्यर्थः), यो यच्छ्रद्धः (यादृशी श्रद्धा यस्य) स एव सः (तादृशश्रद्धायुक्तः) ॥ ३ ॥

अनुवाद। हे भारत! सबकी श्रद्धा सत्त्वानुरूपा होती है; यह पुरुष श्रद्धामय है; जो यादशी श्रद्धासे युक्त है वह तादृश होता है॥ ३॥

व्याख्या। हे भारत! पुरुष जिस अवस्थामें रहकरके गुरूपदिष्ट पथमें वायु-चालन नहीं कर सकते, उस अवस्थामें—शास्त्रमें (वायुचालनमें) रहनेसे जो अद्भुत विवेक-ज्ञानका उदय होता है,—वह ज्ञान उनमें नहीं रहता उनमें केवल गुणके वशकरके श्रद्धा (कार्य्यकरी शक्ति) रहती है। सत्त्वगुणकी अधिकतासे सात्त्विकी श्रद्धा, रजोगुणकी अधिकतासे राजसी श्रद्धा और तमोगुणकी अधिकतासे तामसी श्रद्धा प्रकाश पाती है। क्योंकि, पुरुषके अन्तःकरणको जब जो जो गुण अधिकार कर बैठते हैं, पुरुष तब उन्हीं गुणोंका श्रद्धामय होता है॥ ३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥४॥

अन्वयः। सात्त्विकाः (सत्त्वनिष्ठाः) देवान् यजन्ते (पूजयन्ति), राजसाः यक्षरक्षांसि (यक्षान् राक्षसांश्च) यजन्ते, अन्ये तामसाः जनाः प्रेतान् भूतगणान् च (सप्तमातृकादींश्च) यजन्ते॥ ४॥

अनुवाद। सात्त्विक व्यक्तिगण देवतादि की पूजा करते हैं, राजस

व्यक्तिगण यक्षरक्षको पूजते हैं, और अन्यान्य तामस व्यक्तिगण प्रेत और भूतों की पूजा करते हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या। पुरुष सात्त्विकी श्रद्धाके उदय कालमें देव देवीकी, राजस श्रद्धाके उदय होनेसे यक्ष और राक्षसकी, तथा तामसी श्रद्धाकी क्रिया समयमें भूत-प्रेतकी पूजा करते हैं ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
माञ्चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

अन्वयः। दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः (कामोऽभिलाषः राग आसक्तिः बलमाग्रहः एतैरन्विताः) सन्तः ये अचेतसः (अविवेकिनः) जनाः शरीरस्थं भूतग्रामं (करणसमुदायं) अन्तःशरीरस्थं (अन्तर्यामितया देहमध्ये स्थितं) मां च एव कर्षयन्तः (कृशं कुर्व्वन्तः) अशास्त्रविहितं घोरं (प्राणिनामात्मनश्च पीड़ाकरं) तपः तप्यन्ते (कुर्व्वन्ति), तान् आसुरनिश्चयान् (आसुरः अतिक्रूरः निश्चयः येषां तान्) विद्धि ॥ ५ ॥ ६ ॥

अनुवाद। दम्भ और अहंकार संयुक्त तथा अभिलाष, आसक्ति और आग्रहसे युक्त हो करके जो सब अविवेकी विवेकविहीन व्यक्ति-गण शरीरस्थ करणसमूहको एवं शरीर मध्यमें (अन्तर्यामी रूपसे)

स्थित मुझको भी कृश करके अशास्त्रविहित घोर (आत्म तथा प्राणी पीड़ाकर) तपस्या करते हैं, उन सबको आसुरनिश्चय (अतिक्रूरकर्म्मा) करके जानना ॥ ५ ॥ ६ ॥

व्याख्या। दम्भ=कपटता, अहंकार=मैं बड़ा हूं यह ज्ञान, कामराग=संकल्प-सम्भव अनुराग, बल=शक्ति; इन सबको आश्रय करके जो सब अविवेकी पुरुष प्राणायाम न करके श्रुतिस्मृति विगर्हित भयंकर तपका आचरण करते हैं, शरीरको शुष्क करके क्षीण अकर्म्मण्य कर डालते हैं, मैं जो शरीरका अन्तरात्मा हूं, मेरे अनुशासनको नहीं मानते, मुझको भी क्षीण करते हैं, वे सब आसुर-भावापन्न हैं। मुझको भी क्षीण करते हैं इस वचन का अर्थ यह है कि,—वे लोग दाम्भिक और अहंकारी तथा कामनापरायण होनेसे कामनापूरणके लिए वे लोग अपने से जो उपाय स्थिर करते हैं, उसेही किया करते हैं, शास्त्रकी कथा ग्राह्य नहीं करते; मारे अहंकारके निश्चय कर लेते हैं कि, वे सब जो करते हैं, समुझते हैं वही ठीक है उनके सम्मुख और किसीमें सूझ बूझ है ही नहीं। इस प्रकार कामनाके वशमें रह करके मन विषयासक्त होनेसे उन सबका अन्तःकरण विषय-चिन्तासे मलिन होता है, सुतरां उन सबकी प्रतिफलन=प्रतिभा शक्ति नष्ट होती है, बोधशक्ति स्थुल होती है, धारणा विलुप्त होती है, ज्ञानेन्द्रिय समूह सूक्ष्म पदार्थके ग्रहणमें असमर्थ होते हैं। उनके

अन्तःकरण इस प्रकार मलिन हो जानेसे आत्मज्योति फिर उसे आलोकित नहीं कर सकती, वरन् क्रम अनुसार क्षीण होती जाती है * ॥ ५ ॥ ६ ॥

आहारस्त्वपि सर्व्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

अन्वयः । सर्व्वस्य अपि (जनस्य) आहारः तु (अन्नादिः) त्रिविधः प्रियः भवति, तथा यज्ञः तपः दानं (एतानि त्रिविधानि भवन्ति), तेषां इमं (वक्ष्यमाणं) भेदं शृणु ॥ ७ ॥

अनुवाद । सबको आहारभी तीन प्रकारके प्रिय हैं, तद्रूप यज्ञ तप और दान भी (तीन प्रकारका) है; उन सबका भेद अब श्रवण करो ॥ ७ ॥

व्याख्या । यह जो तीन सत्त्वामें तीन प्रकारका

* यथार्थतः आत्मा कदापि क्षीण नहीं होती, आत्मा सदाकाल अक्षय अव्यय है । जैसे कांचके चिमनीके भीतर दीप शिखा जलते रहनेसे चिमनी की स्वच्छता से बाहर साफ ज्योतिका प्रकाश होता है, और चिमनीकी मलिनतासे बाहर की ज्योतिमें मृदुता आती है; चिमनीमें स्याही अधिक जम जावे तो ज्योति बाहर नहीं फैलती; चिमनीके भीतरवाली दीप शिखाकी ज्योति जैसे हीन निस्तेज मालूम होती है; परन्तु दीप शिखा कदापि ज्योतिहीन नहीं होती, वह बराबर चिमनीके भीतर समान जलती रहती है, कांचके आवरणकी स्वच्छता और मलिनतासे आलोक शिखा की ज्योतिका तारतम्य होता है; आत्मामें भी ठीक तैसे, अन्तःकरण वा चित्तकी शुद्धता और अशुद्धतासे आत्म-ज्योति सतेज, निस्तेज अथवा क्षीण अनुभवमें आती है ॥ ५ ॥ ६ ॥

पुरुष कहा हुआ है, सत्वा अनुसार उन सबको आहार, यज्ञ, तप, और दान भी तीन प्रकारके प्रिय होते हैं। उसे मैं कहता हूं, सुनो ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्य-
सुखप्रीतिविवर्द्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा
हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

अन्वयः। आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः (आयुर्जीवनं सत्त्वमुत्साहः बलं शक्तिः आरोग्यं रोगराहित्यं सुखं चित्तप्रसादः प्रीतिरभिरुचिः आयुरादीनां विवर्द्धनाः विशेषेण वृद्धिकराः ते) रस्याः (रसवन्तः) स्निग्धाः (स्नेहयुक्ताः) स्थिराः (देहे सारांशेन चिरकालावस्थायिनः) हृद्याः (दृष्टिमात्रादेव हृदयङ्गमाः) एवम्भूता आहाराः (भक्ष्यभोज्यादयः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

अनुवाद। आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति वृद्धिकारक, रसयुक्त, स्निग्ध, स्थिर और हृद्य आहार सात्त्विकगणोंको प्रिय हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या। आयु=जन्म और मृत्युके बीचमें जो व्यवधान समय है। सत्त्वबल=जो सत्त्व, न्याय, धर्म्म, दया, भक्ति, महत्व पवित्रतादि उत्पन्न करती है वैसी शक्ति। आरोग्य=स्वास्थ्य। सुख=जिसके मिलनेसे और

कुछभी पानेकी इच्छा नहीं रहती। प्रीति=हर्ष। यह सब जिससे बढ़ता है। रस्या=रस शब्दमें शुक्र धातु, उस शुक्रधातुको जो बढ़ाता है उसीका नाम रस्या है; यथा,—दुग्धादि, "सद्य वीर्य्यकरो दुग्धं"। स्निग्धा =जिससे शरीरमें कुछभी गर्मी उत्पन्न नहीं होती, तथा जो शरीरको स्निग्ध रख करके मज्जाको बढ़ाता है; यथा,—घृत, दुधकी मलाई, नवनीत, तण्डुल, यव, तिल इत्यादि। स्थिरा=औषधि, जिसे खानेसे औषधका काम करता है। जैसे स्तन्य दुग्ध, परोरा, परोराकी पत्ती, इक्षु-दण्ड इत्यादि। हृद्या=जिससे बुद्धिकी क्रियाशक्ति (निश्चय-करणी शक्ति) बढ़ती है; यथा,—ब्राह्मीशाक, हिलमो-चिकाशाक, थानकुनिशाक, इत्यादि। और सुमिष्ट फल, इक्षुचीनी, परमान्न=तण्डुल-दुग्ध-घृत-चीनी संयोग करके जो अन्न पकाया जाता है, घृतसिक्त अन्न आदि सत्त्व-गुणके वृद्धिकारक हैं। यह सब खाद्य सत्त्वगुणी लोगोंको प्रिय है॥ ८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ ९॥

अन्वयः। कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः (अतिकटु निम्बादिः, अम्लः, अतिलवणः, अत्युष्णः, अतितीक्ष्णोमरिचादिः, अति-

रुक्षः कङ्कुकोद्रवादिः अतिविदाही सर्षपादिः एवम्विधाः) आहाराः राजसस्य इष्टाः (प्रियाः) दुःखशोकामयप्रदाः (दुःखं तात्कालिक-हृदयसन्तापादि, शोकः पश्चाद्गाविदौर्म्मनस्यं, आमयो रोगः एतान् प्रददति प्रयच्छन्तीति तथा) ॥ ९ ॥

अनुवाद। अतिकटु–अम्ल–लवण–उष्ण–तीक्ष्ण–रूक्ष–विदाही आहार समूह राजस लोगोंको प्रिय हैं, (परन्तु) ये दुःख शोक और रोग=व्याधि को प्रदान करते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या। कटु=तिक्त, निम्ब चिरायता आदि। अम्ल=खट्टा, इमली कच्चा आम आदि। लवण। अत्युष्ण =अतिशय गरम, जैसे चा आदि। तीक्ष्ण=लाल मिर्चा आदि। रुक्ष=भुनाचावल, भुनाचना आदि स्नेहशून्य द्रव्य। विदाही=जिसके खानेसे शरीरके भीतरसे ज्वाला उठती है; जैसे हींग, सर्षप, राई आदि। यह सब रजोगुणी मनुष्योंके प्रिय खाद्य हैं। इससे दुःख, शोक, व्याधि उत्पन्न होती हैं ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूतिपर्य्युषितञ्च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

अन्वय :। यत् यातयामं (यातो यामः प्रहरो यस्य पक्वस्यौदनादेः तत् शैत्यावस्थां प्राप्तमित्यर्थः) गतरसं (निस्पीड़ितसारं) पूति (दुर्गन्धं) पर्य्युषितं (दिनान्तरपक्व) अपिच उच्छिष्टं (अन्यभुक्तावशिष्टं)

अमेध्यं च (अभक्ष्यं च) (तादृशं) भोजनं (भोज्यं) तामसप्रियं (तामसस्य प्रियं)॥ १०॥

अनुवाद। जो यातयाम (एक प्रहर पूर्व्वके रन्धन किया हुआ), निरस, दुर्गन्ध, पर्य्युषित (बासी), तथा उच्छिष्ट और अमेध्य (अभक्ष्य) है, इस प्रकारके भोजनही तामसी मनुष्योंके प्रिय खाद्य हैं॥१०॥

व्याख्या। यातयाम=एक प्रहर काल अतीत हुई रसोई। गतरस=रसहीन सुखा भात, सुखीहुई रोटी आदि। पूति=सड़ाहुआ, दुर्गन्ध विशिष्ट खाद्य; अचार आदि। पर्य्युषित=दूसरे रोजकी पकाई हुई रसोई (बासी)। उच्छिष्ट=भूक्तावशिष्ट (जूठा)। अमेध्य=अपवित्र, दुष्पाच्य। यह समस्त तमोगुणी लोगोंके प्रिय खाद्य हैं। शरीर में जब जो गुण वर्त्तमान रहेगा, तब उसीके अनुसार खाद्यमें रुचि उत्पन्न होगी, जानना॥ १०॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदिष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११॥

अन्वयः। अफलाकांक्षिभिः (फलाकांक्षारहितैः पुरुषैः) यष्टव्यं एव (यज्ञानुष्ठानमेव कार्य्यं नान्यत् फलं साधनीयं) इति (इत्येवं) मनः समाधाय (एकाग्रंकृत्वा) विधिदिष्टः (शास्त्राविहितः) यः यज्ञः इज्यते (अनुष्ठीयते) सः सात्त्विकः (यज्ञः)॥ ११॥

अनुवाद। फलाकांक्षारहित पुरुषगण "यज्ञानुष्ठानही कर्त्तव्य" है

इसप्रकारके भावमें मनको एकाग्र करके शास्त्रविहित जिस यज्ञका अनुष्ठान करते हैं, उसीको सात्त्विक यज्ञ कहते हैं ॥ ११ ॥

व्याख्या। ब्रह्मनाड़ीके भीतर वायु चालन करनेके समय जब समस्त (सर्व्व नाम करके कथित जो कुछ है) मिट जाता है तब ही फलकी आकांक्षा नहीं रहती। इसी को ब्रह्मयज्ञ, अर्थात् ब्रह्माग्निमें मायाकी आहुतिकरणरूप यज्ञ कहते हैं। गुरुका उपदेश चाहिये और वह उपदेशभी शास्त्रसम्मत होना चाहिये, फिर उसका अपने शरीरके भीतर अनुभव प्रत्यक्ष करना चाहिये,—इन तीनोंके एकत्र समावेशको (एकत्र अवस्थानको) विधिदिष्ट कहते हैं। इसी प्रकारसे मनको समाधान करके, अर्थात् मनको मिला करके, जो पुरुषार्थकी चेष्टा की जाती है, उसीको सात्त्विक यज्ञ कहते हैं ॥ ११ ॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

अन्वयः। हे भरतश्रेष्ठ! अपितु फलं अभिसन्धाय (उद्दिश्य) दम्भार्थं एव च (स्वमहत्त्वख्यापनाय) यत् इज्यते तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥ १२ ॥

अनुवाद। हे भरतश्रेष्ठ! परन्तु फलको उद्देश करके स्वमहत्त्व प्रचार करनेके लिये जो यज्ञ अनुष्ठित होता है, उस यज्ञको राजस यज्ञ कहते हैं ॥ १२ ॥

व्याख्या । हे भरतकुलश्रेष्ठ ! फलके ऊपर लक्ष्य करके दम्भके साथ जो यज्ञ किया जाता है, उसको राजस यज्ञ कहते हैं । जैसे मैं वृद्ध हूं, प्रतिष्ठित पण्डित, ब्राह्मण भी हूं; काश्यपके मकानमें ब्राह्मण समूहका निमंत्रण हुआ, सूर्य्यदेव डूबने वाले हैं; समस्त ब्राह्मण हमारी अपेक्षा कर रहे है; परन्तु मैं बड़ी पूजा अनुष्ठान करने वाला हूं, यह कथा लोकमें प्रचार करनेके लिये दर्वाजा बंद करके ठाकुरद्वारेमें बैठ कर हाथके नखसे पांवके नखका मैला साफ कर रहा हूं । ऐसे ऐसे कार्य्य रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

अन्वयः । विधिहीनं (शास्त्रोक्तविधिशून्यं) असृष्टान्नं ब्राह्मणादिभ्यः असृष्टं न निष्पादितं अन्नं यस्मिन् तं) मन्त्रहीनं अदक्षिणं श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते (कथयन्ति शिष्टाः) ॥ १३ ॥

अनुवाद । शास्त्रोक्त विधिशून्य, ब्राह्मणादिको अन्नदान शून्य, मन्त्रविहीन, दक्षिणाविहीन तथा श्रद्धासे भी रहित यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या । जिस यज्ञमें श्रद्धाके साथ भोजनादि तृप्तिकर व्यवस्था नहीं, जिस यज्ञमें मन्त्रादिसे आहुति

नहीं, जिसमें दक्षिणाकी व्यवस्था नहीं, केवलमात्र आतिश-बाजी जलाकर बुड़बकीया गुलमचाना है, वैसे वैसे कार्य्य को तामस यज्ञ कहते हैं ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्ज्जवम् ।
ब्रह्मचर्य्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

अन्वयः । देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचं आर्ज्जवं ब्रह्मचर्य्यं अहिंसा च शारीरं तपः उच्यते ॥ १४ ॥

अनुवाद । देव, द्विज, गुरु और प्राज्ञ पुरुषों की पूजा, शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य्य तथा अहिंसा,—इन सबको शारीरिक तप कहते हैं । १४ ।

व्याख्या । ब्रह्ममार्गसे पिछे हट करके जब देवतोंका गुरुमूर्त्तिका, ऋषियोंकी मूर्त्तिका दर्शन से तन्मयी-भावमें मिल करके रहा जाता है, तब ही देव, गुरु तथा प्राज्ञ पूजन होता है । और जब अपनी मूर्त्तिके दर्शनसे विभोर हो करके मिल जाता हूं, तब ही द्विज-पूजन होता है । उस समयमें स्थूल शरीरका कुछ भी भान नहीं रहता, तथापि आत्ममूर्त्तिमें आसक्ति रहनेके कारण द्विज कहते हैं । एक जन्ममें जिनके दो जन्म होते हैं वे ही द्विज हैं, जैसे रेशमकीट और उस कीटका प्रजापति (पतङ्ग) है । इस अवस्थामें मन एक वस्तु को लेकर बैठ रहता है । वह जो स्थिति है उसीको शौच

कहते हैं। सरलता ही सरलता भासमान रहता है इसलिये आर्ज्जव है। शुक्रधातु शीतल रहनेसे ब्रह्मचर्य्य होता है। उस समय मन पर-पीड़न करेनका उद्वेग नहीं लेता, इसलिये अहिंसा है। इस अवस्थामें सर्व विषयसे साधककी शरीर-पालन क्रिया अक्षुण्ण रहती है, इसलिये इस अवस्थाको शारीरिक तप कहते हैं॥ १४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनञ्चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५॥

अन्वयः। अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत् (श्रोतुः प्रियं हितञ्च परिणामे सुखकरं) स्वाध्यायाभ्यसनं च एव (वेदाभ्यासश्च) वाङ्मयं तपः उच्यते॥ १५॥

अनुवाद। अनुद्वेगकर वाक्य, और जो सत्य प्रिय एवं हितकर है, तथा वेदाभ्यास,—इन सबको वाङ्मय तप कहा जाता है॥ १५॥

व्याख्या। जब सच्ची बात, लोगोंकी प्रिय और हितकर कथा, तथा किसीका उद्वेग न हो ऐसी कथा आप ही आप मुंह से बाहर होती हैं, तब ही संयत-वाक् अवस्था कही जाती है। जब "देह मैं हूं" यह बोध मिटकर सर्वभूतात्मभूतात्मामें (व्यापक चैतन्यमें) मिल कर व्याप्ति लेके बैठ रहता हूं, तबही स्वाध्याय शब्द का अर्थ प्रकाशित होता है। 'स्व' शब्दमें स्वर्ग, स्तर,

वा ईश्वर रूप का नामान्तर, और अध्याय शब्दमें प्राप्तिक व्याप्ति (क्रियाकी परावस्था) है। इन सबके क्रियाकालमें मुंहसे कथा बाहर आनेसे भी अधिक कथा कहनी नहीं होती, इस करके संयतवाक् हुआ जाता है, और व्याप्तावस्था ले करके बैठ रहनेसे कथा कहनेका अवसर नहीं आता इसलिये संयतवाक् हुआ जाता है। इसलिये इस प्रकार अवस्थाको वाङ्मय तप कहते हैं॥ १५॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ १६॥

अन्वयः। मनःप्रसादः (मनसः प्रशान्तिः) सौम्यत्वं (अक्रूरता) मौनं (मुनेर्भावो मननमित्यर्थः) आत्मविनिग्रहः (मनसः विषयेभ्यः प्रत्याहारः) भावसंशुद्धिः (व्यवहारे मायाराहित्यं) इत्येतत् मानसं तपः उच्यते॥ १६॥

अनुवाद। मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव (अक्रूरता), मौन, आत्मविनिग्रह, भावसशुद्धि, इन सबको मानसतप कहा जाता है॥१६॥

व्याख्या। मनःप्रसादः=मनकी उद्वेगहीन प्रसन्न अवस्था। "सौम्यत्वं" अन्तःकरण चतुष्टयका स्थिर भाव में अवस्थान। जिस अवस्थामें (मरण, मूर्च्छा तथा अज्ञानताको आश्रय न करके) कथा कहने की क्रिया प्रकीन रहती है, उसीको "मौन" अवस्था कहते हैं।

आत्मामें स्थिति (अपनेमें आप रहना) "आत्मविनिग्रह"। अन्तःकरणका मायाविकार-भोग कट जाकर जो स्वभावमें अवस्थान है वही "भावसंशुद्धि" अवस्था है। इन सबको मानसिक तप कहते हैं ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

अन्वयः। अफलाकांक्षिभिः (फलाकांक्षाशून्यैः) युक्तैः (एकाग्रचित्तैः) नरैः परया (श्रेष्ठया) श्रद्धया तप्तं (अनुष्ठितं) तत् त्रिविधं तपः सात्त्विकं (सत्त्वनिर्वृत्तं) परिचक्षते (कथयन्ति शिष्टाः) ॥ १७ ॥

अनुवाद। फलकांक्षाशून्य एकाग्रचित्त मनुष्योंसे पराश्रद्धाके साथ अनुष्ठित इस त्रिविध तपको सात्त्विक तप कहते हैं ॥ १७ ॥

व्याख्या। वह जो कायिक, वाचिक, मानसिक तीन प्रकारके तपकी कथा कही हुई है, उसके भीतर फलाकांक्षाको छोड़ करके जो निराश समाधि-स्थितिकी चेष्टा है, उसीको सात्त्विक तप कहते हैं ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

अन्वयः। सत्कारमानपूजार्थं (सत्कारः साधुकारः साधुरयं तपस्वी ब्राह्मणः इत्येवमर्थं, मानो माननं प्रत्युत्थानाभिवादनादिस्तदर्थं, पूजा

पादप्रक्षालनार्चनाशयितृप्तादिस्तदर्थंच) दम्भेन चैव यत् तपः क्रियते, तत् चलं (अनियतं) अध्रुवं (क्षणिकं) तपः इह राजसं प्रोक्तं ॥ १८ ॥

अनुवाद। सत्कार, मान और पूजाके लिये दम्भ पूर्वक जो तप अनुष्ठित होता है, वही अनित्य और क्षणिक तप इस लोकमें राजस कहके उक्त होता है ॥ १८ ॥

व्याख्या। लोक दिखौआ पूजाका आयोजन, उपवासका आड़म्बर, बहुतसे लोग इकट्ठे होकरके शिवरात्रि का अनुष्ठान करते हैं; परन्तु खुद भण्डार घरमें छिपकर पेट भर लेते हैं। चन्दरोजके वास्ते बाहर नाम प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिये इस प्रकार उपवास की जो तपस्या परलोकका हितवर्जित और अनिश्चित है, इस तपस्याको राजस तप कहते हैं ॥ १८ ॥

मूढ़ग्राहेणात्मनो यत् पीड़या क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

अन्वयः। मूढ़ग्राहेण (अविवेककृतेन दुराग्रहेण) आत्मनः पीड़या परस्य (अन्यस्य) उत्सादनार्थं वा (विनाशार्थमभिचाररूपं) यत् तपः क्रियते तत् तामसं उदाहृतम् (कथितं) ॥ १९ ॥

अनुवाद। अविवेककृत दुराग्रह पूर्वक देहादिको पीड़ा देकरके जो तप किया जाता है, किम्बा दूसरेका विनाश साधनार्थ जो तप किया जाता है उसको तामस तप कहते हैं ॥ १९ ॥

व्याख्या । विचारबुद्धिविहीन मूर्ख सदृश फलानेको निर्वंश बिना किये जलग्रहण नहीं करूंगा, यह कह कर अपने शरीरको उपवास द्वारा सुखाकर तापन करना वा अभिचारादि (मारण उच्चाटन प्रभृतिके) प्रयोग करनेका नाम तामस तपस्या है ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

अन्वयः । यत् दानं देशे (पुण्यक्षेत्रे) काले च (संक्रान्तिग्रहणादौ) अनुपकारिणे (प्रत्युपकारासमर्थाय) पात्रे च (आचारनिष्ठाय इत्यर्थः) दातव्यं इति दीयते, तत् दानं सात्त्विकं स्मृतं ॥ २० ॥

अनुवाद । "दान करना उचित है" यह विवेचना करके जो दान पुण्यदेशमें पुण्यकालमें अनुपकारी सत्पात्रको दिया जाता है, उसी दान को सात्त्विक दान कहते हैं ॥ २० ॥

व्याख्या । सत्पात्र (ब्रह्म), देश (योगशास्त्रका विष्णुपद), काल (क्रिया की परावस्था); इन देश काल और अनुपकारी पात्रमें (ब्रह्ममें क्रियाकी सम्भावना नहीं, इसलिये प्रत्युपकार भी नहीं है) जो मायिक असत् अवस्तु की प्रक्षेप-इच्छा (दान) है, उसीको सात्त्विक दान कहते हैं ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

अन्वयः। यत् तु प्रत्युपकारार्थं फलं (स्वर्गादिकं) उद्दिश्य वा पुनः परिक्लिष्टं च (चित्तक्लेशयुक्तं यथा भवत्येवंभूतं) दीयते, तत् दानं राजसं स्मृतं ॥ २१ ॥

अनुवाद। परन्तु जो दान प्रत्युपकार प्राप्तिकी इच्छासे किम्बा फलाकांक्षाके लिये अथवा चित्तके क्लेशके साथ दिया जाता है, उस दानको राजसदान कहा जाता है ॥ २१ ॥

व्याख्या। क्रियाकालमें कच्चे अभ्यासके लिये ब्रह्ममार्गसे भ्रष्ट हो करके देव, ऋषि, पितृगणमें मिल कर समाधि लेनेसे जो आत्मसमर्पण होता है, वह कष्ट का दान है। क्योंकि परिश्रम तो किया ब्रह्ममें लयके लिये, परन्तु आत्मसमर्पण हुआ देव, ऋषि तथा पितृ-लोकमें। इसका फल हुआ स्वर्गादि भोगके बाद पुनः संसारमें प्रवेश; फिर यही दुःख सुख हंसी रोलाई की झगड़ा। इसलिये इस प्रकारके दान को राजस दान कहते हैं ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

अन्वयः । अदेशकाले अपात्रेभ्यश्च यत् दानं दीयते तत् असत्कृतं (सत्कारशून्यं) अवज्ञातं (पात्रतिरस्कारयुक्तं) दानं तामसं उदाहृतम् ॥ २२ ॥

अनुवाद । जो दान अदेशमें, अकालमें और कुपात्रको दिया जाता है, उस सत्कारशून्य पात्रतिरस्कारयुक्त दानको तामस दान कहते हैं।२२।

व्याख्या । जगत्में (अदेशमें) जब बाहर का विषय लेके मतवाला रहता हूं ऐसे समयमें (अकालमें), भोग्य वस्तुमें (अपात्रमें) भोगातुर हो करके (असत्कृत) जो आत्मसमर्पण (आत्माको अवज्ञा करके तदाकारत्व लेना) है, उसको तामस दान कहते हैं ॥ २२ ॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

अन्वयः । ॐ तत् सत् इति त्रिविधो ब्रह्मणः (परमात्मनः) निर्देशः (नाम्ना व्यपदेशः) स्मृतः, तेन (त्रिविधेन ब्रह्मणो निर्देशेन) ब्राह्मणाश्च वेदाश्च यज्ञाश्च पुरा (सृष्ट्यादौ) विहिताः (विधात्रा निर्मिताः सगुणीकृता इति वा) । तस्मात् ब्रह्मवादिनां (वेदवादिनां) विधानोक्ताः (शास्त्रोक्ताः) यज्ञदानतपःक्रियाः सततं ॐ इति उदाहृत्य (उच्चार्य्य) प्रवर्त्तन्ते ॥ २३ ॥ २४ ॥

अनुवाद। ॐ तत् सत् ये तीन प्रकारके ब्रह्मके निर्देश (नाम) कहे गये हैं, उससे ब्राह्मणगण, वेदसमूह तथा सकल यज्ञ पुराकालमें विहित (निर्मित किम्वा सगुणीकृत) हुए हैं। इसलिये सर्वदा ब्रह्मवादियोंके शास्त्रोक्त कर्म यज्ञ दान तपः क्रिया (ओं) इस मन्त्रको उच्चारण करके प्रारम्भ होते हैं ॥ २३ ॥ २४ ॥

व्याख्या। जैसे गो शब्द कहनेसे शृंग, लांगूल, चारों पद, और गलकम्बल (गलेमें लटकता हुआ कम्बलाकृति मांस) युक्त एक पशुकी स्मृति आती है, तैसे ॐ तत् सत् इन तीनोंके प्रत्येक शब्द ही मनमें ब्रह्मभाव लानेका (निर्देशक) बीज (ब्रह्मका नाम) है। इस ॐ तत् सत् द्वारा स्रष्टाने ब्राह्मण, वेद और यज्ञोंको सृष्टिकालमें निर्देश कर दिया है। इसलिये ब्रह्मवादी लोग (जो लोग ब्रह्मको लेकर आलोचना करते हैं) यज्ञ दान तपः क्रियामें प्रवृत्त होनेके समय पवित्रता और पूर्णत्व रक्षाके लिये ॐ शब्द का उच्चारण करके विधानोक्त कार्य्यारम्भ करते हैं ॥ २३ ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः॥२५॥

अन्वयः। तत् इति उदाहृत्य मोक्षकांक्षिभिः फलं अनभिसन्धाय (फलाभिसन्धिमकृत्वा) विविधाः यज्ञतपःक्रियाः दानक्रियाश्च क्रियन्ते। २५ ॥

अनुवाद। "तत्" यह शब्द उच्चारण करके मोक्षाकांक्षिगण फलाभिसन्धि त्याग करके विविध प्रकारके यज्ञ, तप और दानरूप क्रियाका अनुष्ठान करते हैं ॥ २५ ॥

व्याख्या। और जो लोग मुमुक्षु हैं वे लोग तत् शब्द उच्चारण करके फलकी आकांक्षा छोड़ कर केवल मुक्तिके लिये उस प्रकारके यज्ञ, दान, तप और विविध क्रियाका आचरण करते रहते हैं ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्मचैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

अन्वयः। सद्भावे (अस्तित्वे) साधुभावे च (साधुत्वे) सत् इत्येतत् (पदं) प्रयुज्यते; हे पार्थ ! तथा प्रशस्ते (मांगलिके) कर्मणि सच्छब्दः युज्यते। यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः (तात्पर्येणावस्थानं) सत् इति च उच्यते, तदर्थीयं (ईश्वरार्थीयं) कर्म चैव सत् इति अभिधीयते ॥ २६ ॥ २७ ॥

अनुवाद। सत्भावमें और साधुभावमें 'सत्' यह पद प्रयुक्त होता है; हे पार्थ ! प्रशस्त (मांगलिक) कर्ममें भी सत् शब्द युक्त होता है। यज्ञमें, तपस्यामें और दानमें जो स्थिति है वह भी सत् कह करके कथित होती है; तदर्थीय (भगवत् प्रीत्यर्थ अनुष्ठित) कर्म भी सत् कह करके कथित होता है ॥ २६ ॥ २७ ॥

व्याख्या। सत्भाव और साधुभाव, ये दोनों एकही वस्तु हैं; स=क्षीण श्वास, आ=आसक्ति, ध=धृति, और उ=स्थिति; सूक्ष्मश्वासमें आसक्ति देनेसे स्थिति जब धारणा हो जाती है, तबही साधु शब्दका अर्थ खुलता है। इसलिये सद्भाव वा साधुभाव कहनेसे कैवल्य स्थितिको समझाता है। और उस प्रकार स्थितिके लिये जो कर्म (मुक्तिमार्गमें वायु-चालन) है, हे पार्थ! उसे भी सत् नाम देते हैं। उसी तरह यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति होती है, चञ्चलता मात्र नहीं रहती है उसे भी सत् कहते हैं; और उस यज्ञ, तप और दानके लिये जो (ब्रह्ममार्गमें) वायुका चालन होता है वह भी सत् समाजमें सत् शब्दसे अभिहित होता है॥ २६॥ २७॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह॥२८॥

अन्वयः। हे पार्थ! अश्रद्धया हुतं (हवनं), दत्तं (दानं), तपस्तप्तं (निर्वर्त्तितं), यत् च (अन्यदपि) कृतं तत् असत् इति उच्यते, (यतः) तत् न च प्रेत्य (लोकान्तरे न फलति विगुणत्वात्) नो इह (न चास्मिन् लोके फलति अयशस्करत्वात्)॥ २८॥

अनुवाद। हे पार्थ! अश्रद्धासे हुत यज्ञ, प्रदत्त दान, निर्वर्त्तित तपः,

और दूसरे जो कुछ कृत हों वे सब ही असत् कह करके कथित होते हैं (कारण कि) वे (विगुणत्व हेतु) न लोकान्तरमें फल प्रदान करते हैं और (अयशस्करत्व हेतु) न इस लोकमें फल प्रदान करते हैं ॥ २८ ॥

व्याख्या । हे अर्जुन ! जिस होम, दान तपके जड़में ही अविश्वास (जैसे हमारा होम यज्ञमें विश्वास नहीं, परन्तु घरकी स्त्रियोंकी प्रेरणासे मुझको करना पड़ता है, इसप्रकार मनका भाव) है, उसको असत् कहते हैं। वह असत् क्रिया इह और परकालमें (बधिरको सुस्वर सुनाकर सुखी करने के सदृश) भी कोई मंगल नहीं दे सकती ॥ २८ ॥

रजस्तमोमयीं त्यक्त्वा श्रद्धां सत्त्वमयीं श्रितः ।
तत्त्वज्ञानेऽधिकारी स्यादिति सप्तदशे स्थितं ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम
सप्तदशोऽध्यायः ।

अष्टादशोऽध्यायः ।

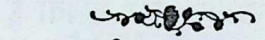

अर्जुन उवाच ।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिसूदन ॥ १ ॥

अन्वयः । अर्जुनः उवाच । भो हृषीकेश (सर्वेन्द्रियनियामक) ! हे महाबाहो ! केशिनिसूदन ! संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं (याथात्म्यं) पृथक् (विवेकेन) वेदितुं इच्छामि ॥ १ ॥

अनुवाद । अर्जुन कहते हैं । हे हृषीकेश ! हे महाबाहो केशिनिसूदन ! मैं संन्यासका और त्यागका तत्त्व पृथक् पृथक् रूपसे जाननेकी इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

व्याख्या । प्रथम अध्यायसे सप्तदश अध्याय पर्यन्त गीता शास्त्रमें जो जो कथा कही हुई हैं, उन्हींकी संक्षिप्त समालोचना वा उपसंहार इस अष्टादश अध्यायमें है । योग शब्दके भीतर दो प्रकारके भाव हैं, एक संन्यास भाव और दूसरा त्याग भाव । सचराचर संन्यासी अथवा त्यागी कहनेसे अन्तःकरण उन दोनोंका अर्थ एक ही करके मान लेता है । यह मान लेना ही सच्चा है, अथवा उसमें और किसी प्रकारका प्रभेद है ? इसे जाननेके लिये साधकके मनमें प्रश्न उठा । हे केशिनि-

सूदन ! केश शब्दमें आवरक, लोम, जो छिपाके रखता है । आवरणशक्तिको केशि कहते हैं; जो आवरण-शक्ति ज्ञानको आच्छादन कर रखती है । केशिनि-सूदन अर्थात् जो स्वप्रकाश है, ज्ञानकी आवरण-शक्तिका विनाशक है । प्रश्न अज्ञानता जनित होता है; उसी अज्ञानताके नाशके लिये केशिनिसूदन कह करके सम्बोधन किया हुआ है; अर्थात् दैत्यहारी । दैत्य कहते हैं व्यभिचारी क्षत्रियको । क्रिया-अवस्थाही साधक की क्षत्रिय अवस्था है । "क्षतात् त्रायते इति क्षत्रियः" । क्षत असम्पूर्णताको कहते हैं । इस असम्पूर्णत्वसे जो त्राण पा करके परिपूर्णत्व लेने की चेष्टा करते हैं, उन्हींको क्षत्रिय कहते हैं । इस क्षत्रिय-अवस्थामें अर्थात् क्रियाकालमें प्रश्न उठनेसे क्रियामें व्यभिचार आ पहुंचा । उस व्यभिचार के विनाशके लिये साधक विष्णुके शरणागत हुए, अर्थात् निजबोधमें लक्ष्य किए । सुतरां इन्द्रिय समूह संयत होगए, और फिर साधकको अपने वशमें नहीं ला सके । इस कारणसे हृषीकेश शब्दका व्यवहार किया हुआ है । हृषीकेश—हृषीका=इन्द्रिय समूह+ईश=नियन्ता । इस अवस्थामें संन्यास और त्यागका मर्म्मार्थ समझनेकी चेष्टा होती है । हे महाबाहो ! (जाननेका जो कुछ है, सो समस्त ही निजबोधका आयत्ताधीन है, इसलिये महाबाहु

शब्द व्यवहार हुआ है) तुम मुझको संन्यास और त्यागका सार तत्त्व (पृथकता) समझा दो ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

अन्वयः । श्रीभगवान् उवाच । काम्यानां कर्मणां न्यासं (परित्यागं) संन्यासं कवयः (पण्डिताः) विदुः (जानन्ति); सर्वकर्मफलत्यागं (सर्वेषां काम्यानां नित्यनैमित्तिकानां च कर्माणां फलमात्रत्यागं) त्यागं विचक्षणाः (निपुणाः पण्डिताः) प्राहुः (कथयन्ति) ॥ २ ॥

अनुवाद । श्री भगवान कहते हैं । कविगण काम्य कर्म समूहके परित्यागको ही संन्यास कह करके जानते हैं; विचक्षणगण सर्व प्रकार कर्मके फलके त्यागको ही त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

व्याख्या । 'श्रीभगवानुवाच' अर्थात् निजबोधसे मीमांसा । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये सब कामनाकी वस्तुएं हैं, इसलिये इन सबको काम्य कहते हैं । कर्म=ब्रह्ममार्गमें वायुचालन । तब ही हुआ, ब्रह्ममार्गमें वायुका चालन भी होता है, पुनः खिसककर विषयपञ्चकका स्मरण भी करा देता है; ऐसी मिलित अवस्थाका नाम काम्यकर्म्म है । (६ष्ठ अः २६ श्लोक) । जहां एक वस्तु दो वार देखनेमें नहीं आती, प्रतिक्षणमें ही नूतन उत्पत्ति

होती है, ऐसे स्थानमें जो लोग रहते हैं, उन्हें लोग कवि कहते हैं। वह कविगण ऊपर कहे हुए काम्यकर्म्म के नाशको ही संन्यास कह करके जानते हैं। उस संन्यास का आकार इस प्रकार है—ब्रह्ममार्गमें वायुका चालन होता है, वायुके साथ मिला हुआ मन भी आया जाया करता है; परन्तु मनका लक्ष्यस्थल जो विष्णुपद है, उस लक्ष्यको मन छोड़ नहीं देता; इस अवस्थाका नाम संन्यास है। (क्रियावान् साधकको यह अवस्था अच्छी तरह मालूम है)। और सर्वकर्मफलत्याग क्या?—न, जब मन क्रिया करते करते उदास (गांजा पीनेके बाद जैसे मूढ़ अवस्था आती है तैसे) हो गया, क्रियाओर मन के ख्यालमें नहीं है, मन कूटस्थमें अटक पड़ा है, विष्णुपदसे विचलित नहीं होता—आया जाया भी नहीं करता; परंतु अभ्यासके गुणसे ब्रह्ममार्गके सब स्थानोंमें ही वायुचालन होता है, अभी भी बन्द नहीं हुआ; अर्थात् नित्य (ब्राह्मीस्थिति) नैमित्तिक (परावस्था भोग) कर्ममें (प्राणचालनका) कोई बाधा नहीं, तथापि मन किसीमें लिप्त नहीं; ऐसी अवस्थाका नाम कर्मफलत्याग अवस्था है। जो साधक इस अवस्थामें जितने अधिक काल तक रह सकते हैं वे साधक उतने अधिक त्यागी हैं। और निरन्तर वास करनेवालेकी आख्या ही त्यागी है। जिस

साधककी प्रकृति-पुरुषके ऊपर अबाध दृक्शक्तिका प्रक्षेप स्थायी हुई है, उन्हींको विचक्षण कहते हैं। वे लोग उस ऊपर कहे हुए अवस्थापन्न साधकोंको त्यागी कहते हैं॥ २॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥

अन्वयः। एके मनीषिणः कर्म दोषवत् इति (हेतोः) त्याज्यं प्राहुः; अथवा कर्म दोषवत् (दोषो यथा रागादिस्त्यज्यते तथा) त्याज्यं इति प्राहुः। अपरे च यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं इति प्राहुः॥ ३॥

अनुवाद। कोई कोई मनीषि कहते हैं कि कर्म दोषयुक्त अतएव त्याज्य (किंवा कर्म रागादि दोषवत् त्याग करना उचित) है; अपर कोई कोई कहते हैं कि, यज्ञ दान तपः कर्म त्याज्य नहीं हैं॥ ३॥

व्याख्या। जो साधक मनको अपने वश में ला चुके उन्हें मनीषि कहते हैं। वह मनीषिगण ब्राह्मीस्थिति का रसास्वाद करके कर्मके (प्राणचालनके) कम्पनको भी अच्छा मानते नहीं। इस कारणसे उनके लिये कर्म भी त्याज्य है, कहते हैं। और अपर लोग (दूसरे), जिनका मन उतना वशीभूत नहीं हुआ है, वे सब कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप, क्रिया यह सब त्यागकी वस्तु नहीं हैं॥ ३॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागोहि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्त्तितः ॥ ४ ॥

अन्वयः । हे भरतसत्तम ! तत्र त्यागे निश्चयं मे (मम वचनात्) शृणु (अवधारय); हे पुरुषव्याघ्र ! त्यागः हि त्रिविधः संप्रकीर्त्तितः ॥ ४ ॥

अनुवाद । हे भरतसत्तम ! उसी त्यागके विषयको निश्चय करके हमारे वचनसे श्रवण करो । हे पुरुषश्रेष्ठ ! त्याग भी तीन प्रकार कह करके कीर्त्तित है ॥ ४ ॥

व्याख्या । हे भरतकुल-पावन पुरुषश्रेष्ठ ! ऊपर जो त्यागकी कथा कही हुई है, वह त्यागभी तीन प्रकार का है । उसकी मीमांसा कहता हूं, श्रवण करो ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ।
यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

अन्वयः । यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं, तत् कार्य्यम् एव (करणीयमेव); यज्ञः दानं तपश्च एव मनीषिणाम् (विवेकिनां) पावनानि (चित्तशुद्धिकराणि) ॥ ५ ॥

अनुवाद । यज्ञ, दान, तपः कर्म परित्याज्य नहीं हैं, वे सब अवश्य कर्त्तव्य हैं; यज्ञ, दान और तपही मनीषि लोगोंका चित्तशुद्ध करनेवाला है ॥ ५ ॥

व्याख्या । मनको ले करके रहनेसे यज्ञ, तप, दान,

यह सब कर्म छोड़ करके रहा नहीं जाता। संस्कारसे आप ही आप करा देता है। क्योंकि विवेकियोंके अन्तः-करण शुद्धि करनेकी उपादान ही (मसाला) यज्ञ, दान और तप है ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

अन्वयः। हे पार्थ! अपि तु एतानि कर्माणि संगं (कर्तृत्वाभि-निवेशं) फलानि च त्यक्त्वा कर्त्तव्यानि इति मे निश्चितं उत्तमं मतं ॥ ६ ॥

अनुवाद। हे पार्थ! परंतु इन सब कर्मोंका अनुष्ठान संग और फल को त्याग करके करना चाहिये। यही हमारा निश्चित उत्तम मत है ॥६॥

व्याख्या। जैसे एक हाथीके पगके परिधिके भीतर समस्त पगका स्थान होता है, तैसे एक ब्रह्ममार्गमें वायु-चालन होनेसे समस्त यज्ञ, दान और तपका कर्म-ही सम्पन्न होता है, अथच संग अर्थात् इच्छा-रूपिणी मायाका संस्रव न रहने के कारण कर्म-फलमें लिप्त होना नहीं पड़ता। इसलिये कहा गया कि, संग (कर्मफलेच्छा) परित्याग करके यज्ञ, दान, तपः कर्म करना ही निश्चय कर्त्तव्य है। हे पार्थ! हमारा श्रेष्ठ अभिप्राय यही है। (२य अः ४५।४९ श्लोक; ३य अः ९ श्लोक; ५म अः १० श्लोक; ९म अः २०।२१ श्लोक)॥६॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥ ७ ॥

अन्वयः। नियतस्य (नित्यस्य) कर्मणः तु संन्यासः (परित्यागः) न उपपद्यते; मोहात् तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्त्तितः ॥ ७ ॥

अनुवाद। किन्तु नित्यकर्मका परित्याग करना कर्त्तव्य नहीं है; मोहवशतः उसका परित्याग तामस कह करके कीर्त्तित होता है ॥ ७ ॥

व्याख्या। फलाकांक्षा-रहित कर्मका उपदेश करनेसे कर्मत्यागका उपदेश नहीं किया गया। अविवेकी मूर्खगण मोहके वशसे जिस कर्मका त्याग करते हैं, उसको तामस त्याग कहते हैं ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

अन्वयः। दुःखं इति एव (मत्वा) यत् कर्म कायक्लेशभयात् (शरीरदुःखभयात्) त्यजेत् सः राजसं त्यागं कृत्वा त्यागफलं (ज्ञाननिष्ठालक्षणं) न एव लभेत् ॥ ८ ॥

अनुवाद। दुःख बोध करके कायक्लेश भयके लिये जो कर्मी कर्मका परित्याग करता है, वह राजस त्याग करके त्यागफल (मोक्ष) लाभ नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

व्याख्या। [लाभ नहीं, व्योपारका सार वखेड़ा

है]। वह जो फलाकांक्षा-रहित कर्मका उपदेश है, उस मतके कर्ममें आदि, अन्त और मध्य युक्त कुछ भी नहीं मिलता। केवल निकम्मे बैठे बैठे आकाश धोनेके काम है। ऐसे खाली बैठे बैठे शरीरमें जड़त्व आता है और इसी अवस्थामें कालान्तर प्राप्त होनेसे शरीर अस्वस्थ्य हो जाता है, इत्यादि कल्पित भय करके जो सब लोग उस कर्मको परित्याग करते हैं, उन सबको एकको छोड़कर दूसरे कर्मको करना ही पड़ता है, परंतु ब्राह्मीस्थिति वा ब्रह्मज्ञान जो उस महत् त्यागके फल है उसे वे लोग नहीं पाते। उनके त्यागको राजस त्याग कहते हैं ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥९॥

अन्वयः। हे अर्जुन ! यत् कर्म कार्यम् इति एव (बुध्वा) संगं फलं च एव त्यक्त्वा नियतं क्रियते, सः त्यागः सात्त्विकः मतः ॥ ९ ॥

अनुवाद। हे अर्जुन! जिस कर्मको अवश्य कर्त्तव्य बोध करके, संग और फल परित्याग करके, नियत अनुष्ठान किया जाता है,(उसमें जो त्याग है) उसी त्याग को सात्त्विक त्याग कहते हैं ॥९॥

व्याख्या। बाहर अभ्यासके कारणसे ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंका जो कुछ कार्य होता जाता है, भीतर

अनासक्त भावसे ब्रह्मनाड़ीका प्राण-चालन भी होता चला जाता है, यह जो संयत क्रिया है, इसमें कर्म-फलमें कोई आसक्ति नहीं रहती, मैं त्याग करता हूं, यह कह करके त्यागमें भी आसक्ति नहीं रहती। हे अर्जुन! इस प्रकार त्यागको ही सात्त्विक त्याग कहते हैं ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशलेनानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥१०॥

अन्वयः। त्यागी (सात्त्विकत्यागी) सत्त्वसमाविष्टः (सत्त्वेन आत्मानात्मविवेकविज्ञानहेतुना समाविष्टः संव्याप्तः संयुक्तः) अतएव मेधावी (मेधया आत्मज्ञानलक्षणया प्रज्ञया संयुक्तः, स्थिरबुद्धिरित्यर्थः) अतएव छिन्नसंशयः (छिन्नः संशयः मिथ्याज्ञानं यस्य सः) भूत्वा अकुशलं (दुःखावहं) कर्म न द्वेष्टि कुशले च (सुखकरे कर्मणि) न अनुषज्जते (प्रीतिं न करोति) ॥ १० ॥

अनुवाद। त्यागीगण सत्त्वसमाविष्ट, स्थिरबुद्धि और छिन्नसंशय होने से दुःखकर कर्मके प्रति द्वेष नहीं करते तथा सुखकर कर्मोंसे प्रीति भी नहीं करते ॥ १० ॥

व्याख्या। सत्भाव-व्यञ्जक शब्दको सत्त्व कहते हैं अर्थात् जो सत्य, न्याय, धर्म, दया, भक्ति, महत्त्व, पवित्रतादि उत्पन्न करता है; अर्थात् आत्मा। इस आत्मामें जो अभिनिविष्ट हैं, जो अपनेमें आप रह करके अन्तःकरणमें दूसरा और किसीका ग्रहण नहीं करते, उन्हें सत्त्व-

समाविष्ट कहते हैं। आत्मस्वरूप ही नित्य है, तदतिरिक्त समस्त ही अनित्य है इसे निश्चय करके जो पुरुष समस्त अनित्य को वर्जन कर चुके, उन्हींको त्यागी कहते हैं। स्मृतिशक्तिमान मेधावी है; अर्थात् मैं ब्रह्म बिना और कुछ नहीं हूं, इस स्मृतिमें जिनको कम्पन नहीं आता उन्हींको मेधावी कहते हैं। ऐसे ऐसे अवस्थापन्न साधकको संशय मात्र भी नहीं रहता। इसलिये ये लोग अहितकर कर्मों से द्वेष, और हितकर कर्म करनेके लिये साजसज्जा नहीं करते॥ १०॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥११॥

अन्वयः। देहभृता (देहाभिमानवता) अशेषतः (निःशेषेण) कर्माणि त्यक्तुं न शक्यं। (तस्मात्) यस्तु कर्मफलत्यागी स एव त्यागी इति अभिधीयते॥ ११॥

अनुवाद। देहाभिमानी पुरुष निःशेष रूपसे समस्त कर्म का त्याग करनेमें समर्थ नहीं होते। (इस कारण) जो पुरुष कर्मफलत्यागी हैं वे ही त्यागी कह करके अभिहित होते हैं॥ ११॥

व्याख्या। जो सब मनुष्य शरीरको ही "मैं" निश्चय करके बैठे हैं, ब्रह्ममार्गमें वायुचालन करनेका अधिकार नहीं रखते, बाहरके विषय ले करके ही कारबार करते

रहते हैं; ऐसे अज्ञानियोंको 'देहभृत्' कहते हैं। वे लोग "मैं कर्त्ता" सज करके कर्मोंका त्याग करने नहीं सकते और कर्म-बन्धनमें फंस जाते हैं। और जो लोग विवेकी हैं, वे लोग कर्मफल त्याग करके कर्म करनेसे त्यागी नाम प्राप्त कर लेते हैं। (२य अः २१ श्लोक) ॥ ११ ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रञ्च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य नतु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

अन्वयः । अनिष्टं (नारकित्वं) इष्टं (देवत्वं) मिश्रं च (मनुष्यत्वं) एवं त्रिविधं कर्मणः फलं अत्यागिनां (सकामानामेव) प्रेत्य (परत्र,) शरीरपातादूर्ध्वं) भवति; तु (किन्तु) संन्यासिनां (परमार्थसंन्यासिनां कर्मफलत्यागिनां) न क्वचित् अपि भवति ॥ १२ ॥

अनुवाद । अनिष्ट, इष्ट और मिश्र, कर्मके यह तीन प्रकारके फल अत्यागियोंको शरीरपातके पश्चात् प्राप्त होते हैं; किन्तु संन्यासियोंको कहीं भी नहीं मिलते ॥ १२ ॥

व्याख्या । भला, बुरा और भलाबुरा मिला हुआ यह जो तीन प्रकारका कर्मफल है इसके भले फलसे देवत्व प्राप्ति, मन्द फलसे नरक भोग और मिश्र फलसे मनुष्यत्व प्राप्ति होती है। जो लोग अत्यागी अर्थात् कामना-परायण हैं उन्हें यह सब फल परत्र अर्थात् परजीवनमें भोगने पड़ते हैं। परन्तु जो लोग संन्यासी अर्थात् कर्म-

फलत्यागी हैं उन सबको यह सब कर्मफल स्पर्श भी नहीं कर सकते। क्योंकि "तत् कुरुष्व मदर्पणम्" इस वचन के अनुसार उनके सर्वकर्म भगवानमें समर्पित होनेसे वे लोग कर्मबन्धनसे मुक्त हैं। उनके शरीर धारण करके चलने फिरनेसे अजानतः जो कुछ पाप होता है, जो लोग उनकी निन्दा करते हैं, वे निन्दकगण ही उस पापको ग्रहण करते हैं। और जानतः वे जो पुण्य करते हैं, जो लोग उनकी प्रशंसा करते हैं, वे लोग उस पुण्यके फलको ग्रहण करते हैं। इसलिये कर्मफलत्यागियों की मुक्ति ही मुक्ति निश्चय है॥ १२॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥१३॥

अन्वयः। हे महाबाहो! सर्वकर्मणां सिद्धये (निष्पत्तये) सांख्ये कृतान्ते (वेदान्ते) प्रोक्तानि एतानि (वक्ष्यमाणानि) पञ्च कारणानि मे (मम वचनात्) निबोध (जानीहि)॥ १३॥

अनुवाद। हे महाबाहो! सर्वकर्म की सिद्धिके निमित्त सांख्यमें, कृतान्तमें, (वेदान्तमें) कथित, ये वक्ष्यमाण पाँच कारण हमारे वचनसे अवगत हो जाओ॥ १३॥

व्याख्या। हे महाबाहो! जिस शास्त्रसे (तन्न तन्न करते हुए त्याग करते करते तत्त्व समूहका क्षय होनेके बाद) आत्म-

ज्ञानका उदय होता है, उसे सांख्य कहते हैं। और जो शास्त्र अविद्या, अध्यारोप, अपवाद द्वारा समस्त प्रपञ्च की अनित्यताको समझाकर आत्माका नित्यत्व दिखाता है, उसीको कृतान्त वा वेदान्त कहते हैं।

ज्ञातव्य पदार्थ समूहकी जिस शास्त्रसे संख्या की जाय, जाना जाय, उसे सांख्य कहते हैं अर्थात् वेदान्त। "कृतान्त"—यह शब्द सांख्यका ही विशेषण है। कृत अर्थात् जिसे किया गया—कर्म; इस कर्मका अन्त (परिसमाप्ति) जिससे होता है वही कृतान्त है, कर्मान्त वा वेदान्त सिद्धान्त। इसमें "यावानर्थ उदपाने" "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" इन सब वचनोंके द्वारा आत्मज्ञानकी उत्पत्ति होनेके पश्चात् जो सर्वकर्मकी निवृत्ति होती है, वही दिखाया गया। और उस आत्मज्ञानके लिये सर्वकर्मके निष्पत्तिके पाँच कारण उक्त हैं। उन्हीं पाँच कारणों को जानना आवश्यक है। भगवानने पश्चात् श्लोकमें उसे प्रकाश किया है॥ १३॥

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणञ्च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥१४॥

अन्वयः। अधिष्ठानं (शरीरं) तथा कर्त्ता (उपाधिलक्षणो भोक्ता) पृथग्विधं (नानाप्रकारं द्वादशसंख्यं) करणं च (श्रोत्रादिकं), विविधाः पृथक् च (कार्यतः स्वरूपतश्च पृथक्भूताः) चेष्टाः (प्राण-

पानादीनां व्यापाराः) अत्र (एतेषु) एव पञ्चमं दैवं (चक्षुराद्यनुग्राहकादित्यादि सर्वप्रेरकोऽन्तर्यामी वा) ॥ १४ ॥

अनुवाद। अधिष्ठान, कर्त्ता, पृथक्विध करण, नानाविध पृथक् चेष्टा, और इन सबके भीतर पञ्चम स्वरूप दैव है॥ १४ ॥

व्याख्या। अधिष्ठान—जिसको "मैं" मान करके बैठा हूं अर्थात् यह देह। कर्त्ता—उपाधिलक्षणसे मिलित भोक्ता। अर्थात् देह, इन्द्रिय मन आदिका कोई भी मैं नहीं हूं यह सब प्रत्येक ही मैंसे पृथक् है; परन्तु अज्ञानताके कल्याणसे (आकाशमें प्रलेपके सदृश) इनके साथ जैसे मिलकर एक हो करके "मैं" सज लिया हूं (जैसे "मैं सोचता हूं"; मै कभी नहीं सोचता, मन ही सोचता है; परन्तु मनके साथ मिल करके मन ही जैसे "मैं" बन गया है; यह जो हेल मेल भाव है इसी प्रकार)। पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि यह बारह करण हैं। विविध चेष्टा—४९ उन्चास वायुके आकर्षण विकर्षण और मिलनसे नाना प्रकार क्षयोदयका प्रकाश है। दैव अदृष्ट वा पूर्वकृत कर्मफलको कहते हैं॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५॥

अन्वयः। नरः शरीरवाङ्मनोभिः यत् न्याय्यं (धर्म्यं शास्त्रीयं) विपरीतं वा (अधर्म्यं अशास्त्रीयं) कर्म प्रारभते (करोति), तस्य (सर्वस्य कर्मणः) एते पञ्च हेतवः (कारणानि) ॥ १५॥

अनुवाद। मनुष्य शरीर, वाक्य और मनके द्वारा न्याय्य वा विपरीत जो कुछ कर्म करता है, उसके ये पांच कारण हैं ॥ १५ ॥

व्याख्या। शरीर, वाक्य और मनके द्वारा मानव न्याय और अन्याय जितने प्रकारके काजका प्रारम्भ करते हैं, उन सब कर्म्मोंका इन पांच बिना और कोई दूसरा कारण नहीं है ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलन्तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

अन्वयः। तत्र (सर्वस्मिन् कर्मणि) एवं (एते पञ्च हेतव इत्येवं) सति यः केवलं (निरुपाधिमसंगं) आत्मानं कर्त्तारं पश्यति, अकृत-बुद्धित्वात् (असंस्कृतबुद्धित्वात्) स दुर्मतिः (सम्यक्) न पश्यति ॥ १६ ॥

अनुवाद। उस विषयमें (सर्व प्रकार कर्मके सम्बध में) इस प्रकार होनेसे भी (इन पांचके हेतु होने से भी) जो पुरुष निरुपाधि असंग आत्माको कर्त्तारूप मान करके दर्शन करता है, वह दुर्मति असंस्कृत बुद्धि हेतु सम्यक् देखने नहीं पाता १६ ॥

व्याख्या। मैं आत्मा, केवलराम, नित्य, शुद्ध, बुद्ध

मुक्त और निष्क्रिय हूं। कहे हुए उन पांचोका कोई हेतु भी मुझको छू नहीं सकता। परन्तु जो लोग चर्मचक्षुके देखनेसे "मैं देखता हूं" हाथकी करनीसे "मैं करता हूं" मनकी गढ़ाईमें "मैं गढ़ता हूं", बुद्धिके निश्चय करनेसे "मैं निश्चय करता हूं" इस प्रकार सोचते हैं, अपनेको (आत्माको) कर्त्ता बनाते हैं, वे लोग अकृतबुद्धि (देहात्माभिमानी) तथा दुर्मति हैं (उन सभोंकी मति वा मन जन्म-मृत्यु प्रदान करने वाला हेतुको ले कर रहता है, वे अपनेमें आप नहीं रह सकते, आत्मासे दूर रहते हैं)। इसलिये अपनेको देख करके भी देखने नहीं पाते, दूर दूरमें फिरते रहते है ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमान् लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

अन्वयः। यस्य अहंकृतो भावः (अहंकर्त्ता इत्येवंभूतोऽभिप्रायः) न (अस्ति), यस्य बुद्धिः न लिप्यते (इष्टानिष्टबुद्धया कर्म्मसु न सज्जते) स इमान् लोकान् (सर्वानपि प्राणिनः) हत्वा अपि न हन्ति, न च (तत्फलैः) निबध्यते (बन्धनं प्राप्नोति) ॥१७॥

अनुवाद। जिसका अहंकृत भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन समस्त लोकोंको हनन करके भी हनन नहीं करता और (तत्फलमें) निबद्ध भी नहीं होता ॥ १७ ॥

व्याख्या । जिस पुरुषको क्रिया द्वारा "मैं" भाव निश्चय हो चुका, जिसकी बुद्धि अपनेको कर्त्ता कह करके स्वीकार करनेके लिये अवसर नहीं पाती, जो अपने में ही अच्युत भावसे आप रहता है, आदि-अन्त-मध्ययुक्त किसीमें लिप्त नहीं होता; उसके शरीरके हिलने डोलनेसे (जैसे सो रहा हूं बिछौनेमें खटमल काटता है, करवट ले लिया, निद्राके आवेगसे खटमल मर गये) इस लोक-जगत्में ऐसे ऐसे हत्याके कार्य्य हो जानेसे भी वह हननकर्त्ता नहीं होता, वा बधके लिये कर्मफल के बन्धनमें नहीं फंसता (२य अः १७ से २१ श्लोक तक देखो) ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

अन्वयः । ज्ञानं (इष्टसाधनमेतदिति बोधः) ज्ञेयं (इष्टसाधनं कर्म) परिज्ञाता (एतद्ज्ञानाश्रयः) एवं त्रिविधा कर्मचोदना (कर्म-प्रवृत्तिहेतुः); करणं (साधकतमं) कर्म (कर्त्तुरीप्सिततमं) कर्त्ता च (क्रियानिवर्त्तकः) इति त्रिविधः कर्मसंग्रहः (कर्म संगृह्यते अस्मिन् इति कर्मसंग्रहः करणादित्रिविधं कारकं क्रियाश्रय इत्यर्थः) ॥ १८ ॥

अनुवाद । ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता, ये तीनों कर्मप्रवृत्ति के हेतु हैं; करण, कर्म और कर्त्ता ये तीन प्रकारके कर्मसंग्रह अर्थात् क्रिया के आश्रय हैं ॥ १८ ॥

व्याख्या। जैसे घट एक कार्य्य है, इसका हेतु है—कुम्भकार (कर्त्ता), मृत्तिका (अधिष्ठान), कुलाल-चक्र दण्ड आदि (करण), हस्तसञ्चालनादि क्रिया (चेष्टा) और कुम्भकारके घट निर्माणका संस्कार (दैव) । घटको निर्माण करने के लिये ये पांचों प्रयोजनीय हैं। परन्तु इन पांचोंके रहने से ही क्या घट तैयार होता है ? अर्थात् मृत्तिका, चक्र, कुम्भकार, उसकी क्रियाशक्ति और संस्कार रहनेसे भी अगर वह घट न गढ़े क्या तौभी घट बन सकता है ? घट निर्माण कार्य्य में अगर उसको कोई प्रेरणा करे तबही घट हो सकता है, नहीं तो नहीं हो सकता। इसलिये कहा हुआ है कि कार्य होने के लिये ये पांचों हेतु और उस कार्य्यका प्रेरयिता रहना चाहिये। वह प्रेरयिता कौन है?—ना, ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता। "मेरा फलाने द्रव्यका प्रयोजन है" यहां वह प्रयोजन बोधही "ज्ञान" है, द्रव्य "ज्ञेय" है, और मैं "परिज्ञाता" हूं। अगर वह द्रव्य हमारा आवश्यक न होय तो क्या उसके लिये मैं चेष्टा करूं ? इसलिये ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता ये सब कर्म में नियुक्त (वाध्य) करते हैं। और जब हमें फलाना द्रव्य आवश्यक निश्चय हो गया, तब चक्षु-कर्ण-हस्त-पदादि की संचालनरूप क्रिया द्वारा मैंने उसे कर लिया; यहां वह चक्षु कर्णादि

"करण" हैं, संचालन क्रियाही "कर्म" है, और मैं "कर्त्ता" हूं। इसलिये कहा गया है कि करण, कर्म और कर्त्ता ये सब कार्य्यके आश्रय हैं, अर्थात् इन तीनोंके ऊपर कार्य निर्भर करता है ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

अन्वयः । गुणसंख्याने (गुणाः सम्यक् कार्य्यभेदेन ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्तेऽस्मिन्निति गुणसंख्यानं सांख्यशास्त्रं तस्मिन्) ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च गुणभेदतः (प्रत्येकं सत्त्वादिगुणभेदेन) त्रिधा एव प्रोच्यते, तान्यपि (ज्ञानादीनि वक्ष्यमाणानि) यथावत् (यथाशास्त्रं) शृणु ॥ १९ ॥

अनुवाद । सांख्यशास्त्रमें ज्ञान, कर्म और कर्त्ता प्रत्येक ही सत्त्वादि गुणभेद करके तीन प्रकारके कथित हैं; उन्हें यथाशास्त्र (कहता हूं) श्रवण करो ॥ १९ ॥

व्याख्या । गुणोंको सम्यक् रूपसे जिससे जाना जाय वही गुणसंख्यान, अर्थात् सांख्यशास्त्र है। उस सांख्यशास्त्रमें सत्त्व, रज और तमोगुणका ज्ञान, कर्म और कर्त्ता ये तीन जिस आकार से अंकित हुए हैं, उन्हें मैं एक एक करके तुमसे कहता हूं, सुनलो ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् २०॥

अन्वयः। येन (ज्ञानेन) विभक्तेषु (परस्परं व्यावृत्तेषु) सर्वभूतेषु (ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु) अविभक्तं (अनुस्यूतं) एकं अव्ययं (निर्विकारं भावं) परमात्मतत्त्वं ईक्षते, तत् ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि॥ २०॥

अनुवाद। जिसके द्वारा विभक्त सर्वभूतोंमें एक अव्यय अविभक्त भाव परिदृष्ट होता है उसी ज्ञानको सात्त्विक जानना॥ २०॥

व्याख्या। यह जो मायासे आदि लेकरके स्थावरान्त पर्यन्त आकाश, वायु, अग्नि, जल, मृत्तिका, स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज, जरायुज प्रजाको पृथक् पृथक् भावसे देखते हो, यह सबही विनाशी हैं। जो विनाशी है वही अनित्य है। इन सबके परिणाममें जो है, वही नित्य और अव्यय है। सुतरां यह जो पृथक् भाव है, यह केवल नाम और रूपके लिये पृथक्ता दिखाई पड़ता है, असलमें एक बिना दो नहीं है। जब इस ज्ञानका उदय होगा, तबही उसे सात्त्विक कह करके जानना॥ २०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥२१॥

अन्वयः। तु (किन्तु) यज्ज्ञानं सर्वेषु भूतेषु पृथक्विधान् नानाभावान् पृथक्त्वेन वेत्ति, तज्ज्ञानं राजसं विद्धि॥ २१॥

अनुवाद । परन्तु जिस ज्ञानसे सर्वभूतोंमें पृथक्विध नाना भाव समूहको पृथक् रूपसे जाना जाता है, उस ज्ञानको राजस जानना ॥२१॥

व्याख्या । जिस ज्ञानसे दृश्यमान पदार्थोंके प्रत्येक को पृथक् रूपसे समझ लेता है, उस ज्ञानको राजस ज्ञान जानना ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्य्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अन्वयः । यत् तु (ज्ञानं) एकस्मिन् कार्य्ये (देहे प्रतिमादौ वा) कृत्स्नवत् (परिपूर्णवत्) सक्तं (एतावानेवात्मा ईश्वरो वेत्यभिनिवेश-युक्तं) अहैतुकं (हेतुवर्जितं), अतत्त्वार्थवत् (परमार्थालम्बनशून्यं) अल्पं च (तुच्छं अल्पविषयत्वात् अल्पफलत्वाच्च), तत् (ज्ञानं) तामसं उदाहृतम् ॥ २२ ॥

अनुवाद । और जो ज्ञान एक कार्य्यमें (देहमें वा प्रतिमादिमें) परिपूर्णवत् आसक्त (अर्थात् यही आत्मा वा ईश्वर है इस प्रकार अभि-निवेशयुक्त), हेतुवर्जित, परमार्थालम्बनशून्य, और अल्प है, उसीको तामस ज्ञान कह करके जानना ॥ २२ ॥

व्याख्या । यह क्षुद्र भोगायतन शरीर ही मैं हूं, और जगत्में जो कुछ दृश्य पदार्थ हैं, वे सब ही हमारे भोगके लिये हैं; जो ज्ञान इस सिद्धान्त को उत्पन्न करता है, जो ज्ञान विचार-युक्ति विहीन, परमार्थलक्ष्य-भ्रष्ट और संकीर्ण है, उसे तामस ज्ञान कहते हैं ॥ २२ ॥

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

अन्वयः । यत् नियतं (नित्यतया विहितं) कर्म अफलप्रेप्सुना (निष्कामेण कर्त्रा) संगरहितं (अभिनिवेशशून्यं यथा स्यात् तथा) अरागद्वेषतः कृतम्, तत् कर्म सात्त्विकं उच्यते ॥ २३ ॥

अनुवाद । नित्यरूप करके विहित जो कर्म निष्काम कर्त्ताके द्वारा संगरहित हो करके तथा रागद्वेष वर्जित हो करके कृत होय, उसको सात्त्विक कर्म कहा जाता है ॥ २३ ॥

व्याख्या । जब संस्कार वश करके अबाधतः ब्रह्ममार्गमें प्राणका चालन होता रहता है; इच्छा, अनुराग वा द्वेषका छुआछूत नहीं रहता है, अधिक क्या—कर्मफल की आशाका उदय भी नहीं होता, उसीको सात्त्विक कर्म कहते हैं ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

अन्वयः । तु यत्कर्म कामेप्सुना (फलं प्राप्तुमिच्छता) साहंकारेण वा (अहंकारयुक्तेन कर्त्रा वा) क्रियते, पुनः बहुलायासं (यत् पुनः अति-क्लेशयुक्तं), तत् (कर्म) राजसं उदाहृतम् ॥ २४ ॥

अनुवाद । किन्तु जो कर्म फलकामी वा अहंकारी मनुष्योंके द्वारा

अनुष्ठित होता है, और जो अति क्लेशयुक्त है उसको राजस कर्म कहते हैं ॥ २४ ॥

व्याख्या । हमारे मकानमें गोबर गणेश की पूजा है, इन्द्रके नन्दनवनसे नील कमल लानेके लिये आदमी दौड़ा, गाजे बाजेके शब्दसे गांव भर अस्थिर हो गया, इस प्रकार नाम जाहिर करनेवाले कर्मको राजस कर्म कहते हैं ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

अन्वयः । अनुबन्धं (पश्चात् भावि शुभाशुभं) क्षयं (वित्तक्षयं) हिंसां (परपीड़ां) पौरुषं च (स्वसामर्थ्यं) अनपेक्ष्य (अपर्यालोच्य) यत् कर्म मोहात् (अविवेकतः) आरभ्यते, तत् तामसं उदाहृतम् ॥२५॥

अनुवाद । पश्चात्भावि शुभाशुभ, क्षय, परपीड़ा, स्वसामर्थ्य की पर्यालोचना न करके मोहके वशसे जिस कर्मका प्रारम्भ किया जाता है, उसको तामस कर्म कहते हैं ॥ २५ ॥

व्याख्या । फल क्या होगा उसका ठौर ठिकाना नहीं, अपनी सामर्थ्य न समझ करके, शत्रु को मारनेके लिये उपवास करके श्मशान जगाता हूं, विधि नहीं मन्त्र नहीं (मन जो संकल्प-विकल्परूप चञ्चलताको लिया है, वह चञ्चलता जिससे त्याग होती है उसीको

मन्त्र कहते हैं; यह कर्म गुरूपदेश सापेक्ष है); ऐसे जो अज्ञनतामय कर्म हैं; उनको तामस कर्म कहते हैं ॥२५॥

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिध्यसिध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते॥२६॥

अन्वयः। मुक्तसंगः (त्यक्ताभिनिवेशः) अनहंवादी (नाहं वदनशीलः गर्वोक्तिरहितः) धृत्युत्साहसमन्वतः (धैर्योद्यमाभ्यां संयुक्तः) सिध्यसिध्योर्निर्विकारः (आरब्धस्य कर्मणः सिद्धावसिद्धौ च हर्षविषादशून्यः) कर्त्ता सात्त्विकः उच्यते ॥ २६ ॥

अनुवाद। संगरहित, अनहंवादी (अहं इसप्रकार गर्वोक्ति रहित), धैर्य्य और उत्साहसे युक्त, सिद्धि और असिद्धि में हर्ष विषादरूप विकार शून्य कर्त्तागण सात्त्विक कहके उक्त होते हैं॥ २६ ॥

व्याख्या। जिस साधकके क्रिया कालमें इच्छाका उद्रेक नहीं होता, [मैं] कह करके अभिमान नहीं रहता, जिसका मन ब्रह्ममार्ग में ही बंधा रहता है, प्रति क्रममें ही जो साधक विस्तारता में मिल जानेके लिये अग्रसर होता है, सिद्धि वा असिद्धि नामक विकार जिसके अन्तःकरण को स्पर्श नहीं कर सकता, ऐसे अवस्थापन्न साधकको सात्त्विक कर्त्ता कहते हैं। (अन्तःकरण जब विशाल तृष्णा से बंधा रहता है, ऐसी दरिद्रावस्था को असिद्धावस्था कहते हैं; और प्राप्ति की प्राप्ति

सिद्धावस्था है; इस प्राप्ति की प्राप्तिका बोध जब तक रहता है तब तक उसे विकार जानना, स्वरूप में स्थिति हो जाने से उसको फिर विकार कहा नहीं जाता) ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः ॥ २७॥

अन्वयः । रागी (पुत्रादिप्रीतिमान्) कर्मफलप्रेप्सुः (कर्मफलकामी) लुब्धः (परस्वाभिलाषी) हिंसात्मकः (मारकस्वभावः) अशुचिः (विहितशौचशून्यः) हर्षशोकान्वितः (लाभालाभयोर्हर्षशोकाभ्यां समन्वितः) कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः ॥ २७ ॥

अनुवाद । विषयानुरागी, कर्मफलकामी, लुब्ध, हिंसस्वभाव, अशुचि, लाभालाभमें हर्षशोकयुक्त कर्त्ता को राजस कर्त्ता कहते हैं ॥ २७ ॥

व्याख्या । जिनके अन्तःकरणमें अनुराग, कर्मफलकी आकांक्षा, परद्रव्यमें लोभ, तीर्थादि सत्कार्य्य में व्ययकुण्ठता, स्वार्थोद्धारके लिये परपीड़न, अन्तर-शौच जो मनकी स्थिरता है, उसका अभाव, बाहर में अनाचार, भोगादि काञ्चन प्राप्तिमें हर्ष, अप्राप्तिमें शोक, यह सब विद्यमान रहता है; उनको राजस कर्त्ता कहते हैं ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अन्वयः। अयुक्तः (अनवहितः) प्राकृतः (विवेकशून्यः) स्तब्धः (अनम्रः) शठः (शक्तिगूहनकारी) नैष्कृतिकः (परापमानी) अलसः (अनुद्यमशीलः) विषादी (शोकशीलः, सर्वदा अवसन्नस्वभावः) दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामसः उच्यते ॥ २८ ॥

अनुवाद। अयुक्त (असावधान), विवेकशून्य, अनम्र, शठ, परापमानकारी, अलस, विषादयुक्त और दीर्घसूत्री कर्त्ता तामस कह करके उक्त होते हैं ॥ २८ ॥

व्याख्या। जो एक विषयमें अधिकक्षण स्थिर नहीं रह सकता, बालक सदृश चपल बुद्धिवाला, विवेकशून्य, नम्रताशून्य, पेटके भीतर कुछ और मुंह पर कुछ और कहनेवाला, थोड़ासा अपना स्वार्थ पूरण करनेके लिये जो दूसरे की तैयार रोटीमें धूर डालता है, आलसी, सर्वदा जैसे नमककी किस्ती डूब गयी ऐसे विषण्ण होके रहता है, अभी जो कर्त्तव्य करना चाहिये—दस बीस दिनमें भी सो नहीं करता, ऐसे कर्त्ताको तामस कर्त्ता कहते हैं ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥

अन्वयः। हे धनंजय! बुद्धेः धृतेश्च एव गुणतः त्रिविधं भेदं पृथक्त्वेन (विवेकतः) अशेषेण प्रोच्यमानं (कथ्यमानं) शृणु ॥ २९ ॥

अनुवाद। हे धनंजय! बुद्धि और धृतिके सत्त्वादि गुणानुसार तीन प्रकारका जो भेद पृथग्भावमें अशेषरूपसे कहा जाता है, उसे सुनलो ॥२९॥

व्याख्या। साधक ज्ञानकाण्डकी चरम सीमामें पहुंच गये; अब अपने कर्मविहीन निष्क्रियपदमें बैठके आत्मभावस्थ हो करके देखते हैं कि सत्त्वादि तीनों गुणके प्रभेदसे जगत्का जो कुछ है, यह सब तीन प्रकार के हुए हैं, उनके भीतर उन्नतिकामी साधकका सत्त्व ही अवलम्बनीय है; क्योंकि "ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः अधो गच्छन्ति तामसाः"। जगत्की सब चीजमेंसे ही उस सात्त्विक भावको चून लेने के लिये आत्मभावस्थ हो करके जाननेका अवसर प्राप्त होनेसे साधक सबमें ही तीन प्रकारके भाव लक्ष्य कर लेते हैं। ज्ञान, कर्म और कर्त्ताके गुण भेदसे तीन प्रकार का भाव देख चुके, अब बुद्धि और धृतिका त्रिविध भाव देखते हैं। इस बुद्धि और धृतिको जय कर लेनेसे प्राप्तिका विषय वा जाननेका विषय कुछ भी बाकी न रहेगा। विशुद्ध बुद्धि युक्त होनेसे ही विषय तथा राग और द्वेषका त्याग हो कर शान्त अवस्था आती है, पराभक्तिका उदय होता है, उससे ही अहं स्वरूपमें प्रवेश लाभ होता है

और मोक्ष होती है। साधक अर्जुन जो उस विशुद्ध बुद्धिके जयमें सामर्थ्यवान है, यह उनके धनञ्जय नामसे ही प्रकाशित है (१०म अः ३७ श्लोक की व्याख्या देखो); इसलिये यहां उनके धनञ्जय नामका उल्लेख करके कहा गया कि—हे धनञ्जय, सत्त्व, रज और तम गुणानुसार बुद्धि और धृतिकी भिन्नता तीन प्रकारकी कैसे हैं; उन्हें अलग अलग विशेष रूपसे तुमको कहता हूं सुन लो ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्य्याकार्य्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥३०॥

अन्वयः। हे पार्थ! प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्य्याकार्य्ये भयाभये बन्धं मोक्षं च या वेत्ति, सा सात्त्विकी बुद्धिः ॥ ३० ॥

अनुवाद। हे पार्थ! प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य्य और अकार्य्य, भय और अभय, तथा बन्ध और मोक्षको जिससे जाना जाता है वही सात्त्विक बुद्धि है ॥ ३० ॥

व्याख्या। प्रवृत्ति (१६ अः ७ श्लोक) निवृत्ति (१६ अः ७ श्लोक); "कार्य्य"—अपूर्व, जिसे

किया नहीं गया, करना होगा; और "अकार्य्य"—जिसे कर चुके, करना नहीं होगा; "भय"—मरणका स्मरण; "अभय"—"मैं अमर हूं" यह निश्चय ज्ञान; "बन्ध"—जीवभाव; "मोक्ष"—ब्रह्मज्ञानाधिकार। हे पार्थ! जो बुद्धि इन सबको निश्चय करा देती है उसको सात्त्विकी बुद्धि कहते हैं॥ ३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्य्यं चाकार्य्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥३१॥

अन्वयः। हे पार्थ! यया धर्मं अधर्मं च कार्यं च अकार्यं एव च अयथावत् (सन्देहास्पदत्वेन) प्रजानाति, सा राजसी बुद्धिः॥३१॥

अनुवाद। हे पार्थ! जिससे धर्म और अधर्म तथा कार्य और अकार्यको अयथावत् जाना जाता है, वही राजसी बुद्धि है॥ ३१॥

व्याख्या। हे पार्थ! "धर्म"—(९म अः २य श्लोक देखो), "अधर्म"—तद्विपरीत, "कार्य" और "अकार्य"—(पूर्व श्लोक देखो); इन सबकी सत्यता प्रतिपादन में जो भ्रम ला देती है, संशय उठा देती है (अविश्वासिनी बुद्धि), ऐसी बुद्धि को राजसी बुद्धि कह करके जानना॥ ३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥३२॥

अन्वयः। हे पार्थ! तमसावृता सती या अधर्मं धर्मं इति मन्यते (जानाति) सर्वार्थान् च (सर्वानेव ज्ञेयपदार्थान्) विपरीतान् एव मन्यते, सा तामसी बुद्धिः॥ ३२॥

अनुवाद। हे पार्थ! तमसाच्छन्न हो करके जो अधर्म को धर्म कह करके मान लेती है तथा सकल अर्थकोही (ज्ञेयपदार्थकोही) विपरीत निश्चय कर लेती है, वही तामसी बुद्धि है॥ ३२॥

व्याख्या। हे पार्थ! जिस बुद्धिसे धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, ऐसेही सब जानने के विषयों को विपरीत ज्ञानसे समझा देती है, ऐसी अज्ञानाच्छन्न बुद्धिको तामसी बुद्धि कहते हैं॥ ३२॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥३३॥

अन्वयः। हे पार्थ! योगेन (चित्तैकाग्र्येण हेतुना) अव्यभिचारिण्या (विषयान्तरमधारयन्त्या) यया धृत्या मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः (मनसः प्राणस्य इन्द्रियाणाञ्च क्रियाः) धारयते (नियच्छन्ति), सा सात्त्विकी धृतिः॥ ३३॥

अनुवाद। हे पार्थ! चित्तैकाग्र्य हेतु अव्यभिचारिणी, जिस धृति के द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया समूह धृत (नियमित) होती हैं, उसीको सात्त्विकी धृति कहते हैं॥ ३३॥

व्याख्या। मैं जो जीव बन करके इस जगत्-प्रपञ्च

में मतवाला हो रहा हूं, मेरा मेरा करता हूं, मेरा यह भाव जागतिक भाव है, और जिसमें "मेरा" शब्द न चले, केवल "मैं" ही मैं, वही मेरा विस्तार ब्रह्मभाव है। इन दोनों भावोंके एकत्रीकरणका नाम "योग" है। गुरूपदिष्ट क्रियासे मेरा इस संकीर्ण जागतिक भावको समेट करके विस्तार "मैं" में मिलाकर मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया समूह का निरोध करके जो अव्यभिचारी (निष्पन्दन) स्थिति है, उस स्थिति की परिपाकको अर्थात् उसमें अधिक समय तक अटक रहने को सात्त्विकी धृति कहते हैं ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

अन्वयः । हे पार्थ ! हे अर्जुन ! तु (किन्तु) यया धृत्या धर्मकामार्थान् धारयते (न विमुञ्चति) प्रसंगेन (यप्य यस्य धर्मादेः धारणप्रसंगस्तेन तेन प्रसंगेन) फलाकांक्षी (च भवति), सा राजसी धृतिः ॥ ३४ ॥

अनुवाद । हे पार्थ, हे अर्जुन ! परन्तु जिस धृतिसे(मनुष्य) धर्म, काम और अर्थको धारण करते हैं तथा प्रसंग क्रमसे फलाकांक्षी होते हैं, उसीको राजसी धृति कहते हैं ॥ ३४ ॥

व्याख्या । और जब वह मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रिया, मुक्तिमार्ग-वहिष्कृत धर्म-अर्थ-कामकी आलोचना

करके, भोग लालसाकी तृप्तिमें मतवाला रहती है, हे पार्थ! यह जो धृति है, इसीको राजसी धृति कहते हैं॥ ३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥३५॥

अन्वयः। हे पार्थ! यया दुर्मेधाः (कुत्सितमेधाः पुरुषः) स्वप्नं (निद्रां) भयं शोकं (संतापं) विषादं (अवसादं) मदं एव च न विमुञ्चति (धारयत्येव), सा तामसी धृतिः॥ ३५॥

अनुवाद। हे पार्थ! जिस धृतिसे दुर्मेधागण निद्रा, भय, सन्ताप, विषाद और मदको परित्याग नहीं कर सकते, उसीको तामसी धृति कहते हैं॥ ३५॥

व्याख्या। और जब जाग्रत तथा स्वप्नावस्थामें स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मदको ले करके मैं बैठा रहूं, एकको भी छोड़ूं तो मेरा जैसा सर्वनाश होगा, ऐसा मालूम होता है, ऐसी जो आत्महारा-धारणावती शक्ति है, हे अर्जुन! इसीको तामसी धृति कहते हैं॥ ३५॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ!
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥३६॥

अन्वयः। हे भरतर्षभ! इदानीं तु त्रिविधं (सुखं सुखस्य त्रैविध्यं)

मे शृणु, यत्र (यस्मिन सुखे) अभ्यासात् रमते (परमानन्दं लभते) दुःखान्तं च निगच्छति (प्राप्नोति) ॥ ३६ ॥

अनुवाद। हे भरतर्षभ! अब त्रिविध सुखका विषय मुझसे सुनो, अभ्यासके फल करके जिससे परमानन्द लाभ होता है तथा दुःखके अन्तकी प्राप्ति होती है ॥ ३६ ॥

व्याख्या। भगवान अब अर्जुनको सुखका विषय कहते हैं कि, सुखभी सत्त्वादि गुणभेद करके तीन प्रकार का है। सुख चीज क्या है?—सोई कहते हैं, कि जिसमें अभ्यासके फलसे परमानन्द लाभ होता है और दुःखका अवसान होता है, वही सुख है। अब विचार करके समझ लेना चाहिये कि अभ्यास और दुःख किस को कहते हैं। "तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः"—चित्तको स्थिर रखनेके लिये यत्नको अभ्यास कहते हैं। क्लेश का नाम दुःख है। यह तीन प्रकारका है,—आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक। परमात्मसंग न पाने से जो क्लेश होता है वही आध्यात्मिक दुःख है (यह मानसिक है); दैवप्रतिकूलतासे अर्थात् पूर्वकृत सञ्चित कर्मफलकी प्रतिबन्धकता के कारण कर्ममें सिद्धि न पानेसे वा विघ्न होनेसे जो क्लेश होता है वही आधिदैविक दुःख है (यह शारीरिक और मानसिक है); और वात पित्त कफादिके प्रकोपसे जो क्लेश होता है वह आधिभौतिक है (यह शारीरिक

है)। भगवान कहते हैं, इन सब दुःखोंका अन्त हो कर जिससे परमानन्द लाभ होता है, वही सुख है; परन्तु सुखभी गुणभेद करके कैसे तीन प्रकारका आकार धारण करता है, सो कहता हूं, सुनो ॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

अन्वयः । यत् तत् (किमपि) अग्रे (प्रथमं) विषमिव (दुःखावहमिव) परिणामे तु अमृतोपमं (अमृतसदृशं) आत्मबुद्धिप्रसादजम् (आत्मविषया बुद्धिरात्मबुद्धिः, तस्याः प्रसादो रजस्तमोमयत्यागेन स्वच्छतयावस्थानं ततोजातं), तत् सात्त्विकं सुखं ॥ ३७ ॥

अनुवाद । जो पहले विषवत् परन्तु परिणाममें अमृतसदृश तथा आत्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न है, वही सात्त्विक सुख है ॥

व्याख्या । भगवान सात्त्विक सुखकी अवस्था व्यक्त करनेका कोई एक निर्दिष्ट शब्द न पाकर कहते हैं कि, जो "तत्" अर्थात् उसी प्रकार, जिसे भुक्तभोगीगण भोग करके जान लिये हैं, जिसे आपही भोग करके जानना होता है, बातसे व्यक्त किया नहीं जाता। जो सुख पहिले विषवत् है, क्योंकि ज्ञान, वैराग्य, ध्यान, समाधि प्रभृतिको साधन करनेके लिये विशेष कष्ट भोग करना पड़ता है; परन्तु

जो परिणाममें अमृत सदृश होता है, क्योंकि ज्ञान वैराग्यादिके परिपाकमें जो आनन्द-वैभव लाभ होता है, उसकी सीमा नहीं—शेष नहीं—और क्षय भी नहीं है, वह अनन्त—अमृत है। और जो आत्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न है, अर्थात् बुद्धि आत्मामें पड़के रजस्तमोके संस्रव विहीन होकर निर्मल स्वच्छभाव धारण करनेके पश्चात् उत्पन्न होता है। उसी सुखको सात्त्विक सुख कहते हैं॥ ३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

अन्वयः। विषयेन्द्रियसंयोगात् (विषयानां इन्द्रियाणां च संयोगात्) यत् तत् (प्रसिद्धं) अग्रे अमृतोपमं परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८॥

अनुवाद। विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे जो सुख (प्रसिद्ध प्रकार, साधारणका परिज्ञात) पहिले अमृत सदृश होता है, परन्तु उसका परिणाम विषवत् है, वह सुख राजस करके कथित है॥ ३८॥

व्याख्या। और विषय तथा इन्द्रियोंके संयोगसे जो सुख उत्पन्न होता है, सब कोई जिसका रस भोग करके जान लेते हैं, जो पहिले अमृत सदृश (जैसे कामिनी काञ्चन आदिका व्यवहार और भोग) परन्तु

जिसका फल विषवत् है,—जैसे बल, वीर्य्य, रूप, प्रज्ञा, मेधा, धन, स्वास्थ्य उत्साहादि की हानि करके यौवनमें जराग्रस्त बनाता है, आपात सुख देकरके दुःख प्राप्ति कराता है, उसीको राजस सुख कहते हैं ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

अन्वयः। यत्सुखं अग्रे च (प्रथमक्षणे) अनुबन्धे च (पश्चादपि) आत्मनः मोहनं (मोहकरं) निद्रालस्यप्रमादोत्थं, तत् तामसं उदाहृतम् ॥ ३९ ॥

अनुवाद। जो सुख पहले में आत्माका मोहकर पश्चात्में भी आत्माका मोहकर तथा निद्रा आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न है, उसीको तामस सुख कहते हैं ॥ ३९ ॥

व्याख्या। जो सुख आत्महाराकरके (बुद्धिको ढांक देकर) निद्रा, आलस्य और प्रमादके साथ मिलन कराता है, जैसे हमउमर हमजोली लोग दल बांधकर खानेवाली चीज़ लेकर बनभोजनको गये, धतूरेके बीज भांगके साथ मिलाके पीसकर पी लिया, कितनी कथा, कितनी वार्त्ता, कितनी हंसी, कितना आनन्द भोग करते करते मारे नशाके बेहोश होगये, कुत्ते गिदड़ आके खाने की चीज़ें सब खागये; हमलोग सबेरे उठकर रूखे सूखे मुंहसे

मकान लौट आये। इस प्रकारके सुख भोगको तामस सुख कहते हैं ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥४०॥

अन्वयः। पृथिव्यां दिवि वा देवेषु वा पुनः तत् सत्त्वं (प्राणिजातं) न अस्ति यत् प्रकृतिजैः (प्रकृतिसम्भवैः) एभिः त्रिभिः (सत्त्वादिभिः) गुणैः मुक्तं स्यात् ॥ ४० ॥

अनुवाद। पृथिवीमें किम्वा स्वर्गमें ऐसे कि देवतोंके भीतर भी ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जो प्रकृतिजात इन तीन गुणोंसे मुक्त है॥४०॥

व्याख्या। हे अर्जुन! यह जो संसार-वृक्षका रूपक कल्पनामें ऊर्ध्वमूलादि कहा हुआ है, जिसको दृढ़ असंग शस्त्रसे छेदन करने होता है, इस भुवन-कोषमें भूरादि सत्यलोकका प्रत्येक स्वर्गमें प्राणिजात वा अप्राणिजात ब्रह्मादि देवता, मानुष, ऐसे कि स्थावरान्त पर्य्यन्त जो कुछ है, सो सबही गुणमयी प्रकृतिके गुण-विकारसे उत्पन्न है। किसी स्थानका कहीं ऐसा कुछ नहीं है जो इस सत्त्व, रज और तमको परित्याग करके वा उनसे पृथक् होकर रह सकता है। त्रिगुणके कोई एकके अति सूक्ष्मांश भी रहनेसे संसार-कारण-निवृत्ति की प्राप्ति नहीं होती। सर्ववेद श्रुति स्मृतिका एकही उपदेश जानना ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

अन्वयः। हे परन्तप ! ब्राह्मणक्षत्रियविशां (ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां वैश्यानां च) शूद्राणां च कर्माणि स्वभावप्रभवैः (पूर्वजन्मसंस्कारप्रादुर्भूतैः) गुणैः प्रविभक्तानि ॥ ४१ ॥

अनुवाद। हे परन्तप ! ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यादियोंका तथा शूद्रोंका कर्म समूह स्वभाव-प्रभव गुणोंके द्वारा प्रविभक्त हैं ॥ ४१ ॥

व्याख्या। अगर क्रिया, कारक, फल प्रभृति तथा प्राणिजात सबही त्रिगुणात्मक हैं तो जीवकी मुक्ति कैसे हो सकती है? अर्जुन इस प्रकार प्रश्न न कर सकें इस संकल्पसे भगवान उसे भी कह देते हैं; कहते हैं कि, स्व स्व अधिकार के विहित कर्म समूहके द्वारा परमेश्वरकी आराधना करनेसे तत्प्रसादलब्ध ज्ञानसे मोक्ष होती है। यही सर्वगीतार्थ-सार है। यही सारसंग्रह इस श्लोकका "ब्राह्मण क्षत्रिय विशां" से प्रारम्भ करके अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त दिखाया हुआ है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंका सकल कर्म पृथक् पृथक् रूपसे विभाग किया हुआ है। यह विभाग स्वभाव-प्रभव गुण द्वारा किया हुआ है। स्वभाव-प्रभव गुण द्वारा विभागका शब्दार्थ जरा अच्छी तरह समझना

होगा। स्वभाव—ईश्वरकी प्रकृति वा त्रिगुणात्मिका माया है। यह प्रकृति तीन प्रकारकी क्रिया-शक्तिको प्रकाश करती है, एकका नाम सत्त्व, दूसरेका नाम रजः और तीसरेका नाम तमः है। इन तीनोंको गुण कहते हैं। सुतरां स्वभावप्रभव गुणका अर्थ सत्त्व, रज और तम यह तीन गुण हैं। जगत्की जो कुछ क्रियाएं हैं वे सब इन तीन गुणोंसे ही सम्पन्न होती हैं। इन तीनोंमेंसे कोई परस्पर पृथक् हो करके क्रिया नहीं कर सकता, क्रिया क्या करेगा, पृथक् तो हो ही नहीं सकता। इन तीनोंके परस्पर मिलन तथा मिश्रणके विविध विन्याससे ही विभिन्न प्रकारकी क्रिया उत्पन्न होती है। उस मिलन तथा मिश्रणमें अगर तीन गुण समानांश हों तो साम्यावस्था होनेके कारण कोई क्रिया ही नहीं होती; उन सबके विषम अंशके मिलन-मिश्रणसे ही जागतिक जो कुछ क्रिया होती है। सृष्टिके प्रारम्भसे ही गुणत्रयके विविध मिश्रणसे चार प्रकारके वर्ण वा श्रेणी सृष्ट हुई हैं। प्रथम श्रेणीमें सत्त्वप्रधान, अपर दो गुण सत्त्वके अधीनमें अभिभूत हैं। द्वितीय श्रेणीमें सत्त्वमिश्रित रजः प्रधान, तमः अभिभूत है। तृतीय श्रेणीमें तमःमिश्रित रजः प्रधान सत्त्व अभिभूत है। और चतुर्थ श्रेणीमें रजःमिश्रित तमः प्रधान, तथा सत्त्व अभिभूत है। जीव प्रवाह इन चार श्रेणियोंमें विभक्त हैं। प्रथम श्रेणीका जीव ब्राह्मण, द्वितीय श्रेणीका जीव क्षत्रिय,

तृतीय श्रेणीका जीव वैश्य और चतुर्थ श्रेणीका जीव शूद्र है। तीनों गुणोंकी ही स्व स्व पृथक् क्रियाशक्ति है; परंतु वह मिश्र अवस्थामें मिश्रण-क्रियाके तारतम्यानुसार उन चारों श्रेणियोंमें चार प्रकारसे परिणत होती है। सुतरां ब्राह्मण श्रेणीका कर्म एक प्रकार, क्षत्रिय श्रेणीका कर्म एक प्रकार, वैश्य श्रेणीका कर्म एक प्रकार, और शूद्र श्रेणीका कर्म एक प्रकारका है। इसलिये कहा हुआ है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र गणों का सकल कर्म स्वभाव-प्रभव गुणसे प्रविभक्त हैं।

स्वभाव-प्रभव शब्दका और भी विशेष अर्थ है। जीव स्व स्व कर्मफलसे भला बुरा जन्म लेता है। जीव जब एक देह छोड़ करके देहान्तर ग्रहण करता है तब पूर्ववाला मनःषष्ठ इन्द्रियको लेकरके जाता है, अतएव उसके पूर्वजन्मवाला संस्कार उसमें रह जाता है। उसी संस्कार वशसे परजन्ममें उसमें उस गुण-क्रियाका संक्रम होता है, अर्थात् चार श्रेणियोंमेंसे किसी एक श्रेणीका गुण पाता है। उस पूर्वसंस्कारकोही स्वभाव कहते हैं; उस स्वभावके वशसे जिस श्रेणीका गुण लाभ करता है वही स्वभाव-प्रभाव गुण है। इसलिये कहा जाता है कि, जीव, ब्राह्मणादि जो कोई श्रेणी भुक्त हो, उसका कर्म पूर्व जन्मके संस्कारसे उत्पन्न गुण द्वारा विभक्त है।

मूल श्लोकमें ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य एक समासबद्ध हैं और शूद्र पृथक् है। इससे ब्राह्मणादि वर्णत्रय जो द्विज तथा वेदाधिकार-सम्पन्न हैं वही सूचित हुआ है, और शूद्र वेदाधिकार वर्जित होनेके कारण समासमुक्त नहीं हुआ ॥ ४१ ॥

शमोदमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

अन्वयः। शमः (चित्तोपरमः) दमः (बाह्येन्द्रियोपरमः) तपः (पूर्वोक्तं शारीरादि) शौचं (बाह्याभ्यन्तरं) क्षान्तिः (क्षमा) आर्जवं (अवक्रता) ज्ञानं (शास्त्रीयं) विज्ञानं (अनुभवः) आस्तिक्य (अस्ति परलोक इति निश्चयः) एव च स्वभावजं ब्रह्मकर्म (ब्राह्मणस्य स्वभावात् जातं कर्म) ॥ ४२ ॥

अनुवाद। शम, दम, तपः, शौच, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिकता ही (वेद और ईश्वरमें विश्वास) ब्राह्मणका स्वभावज कर्म है ॥ ४२ ॥

व्याख्या। पूर्व पूर्व जन्मोंके कर्म-संस्कारकी निर्मलता से स्वभावतः शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, आर्जव ज्ञान, विज्ञान आदि (पहले जो व्याख्या कर चुके) और वेद तथा ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार आपही आपसे जिनके अन्तःकरणमें प्रकाश पावेगा, वेही ब्राह्मण कह करके

अपनेको मान लेंगे, और उनको इन्हीं सब आचरणोंसे मुक्तिलाभ होगा ॥ ४२ ॥

शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

अन्वयः। शौर्य्यं (पराक्रमः) तेजः (प्रागल्भ्यं) धृतिः (धैर्य्यं) दाक्ष्यं (कौशलं) युद्धे च अपि अपलायनं (अपराङ्मुखता) दानं (औदार्य्यं) ईश्वरभावश्च (नियमनशक्तिः) स्वभावजं क्षात्रं कर्म (क्षत्रियस्य स्वाभाविकं कर्म) ॥ ४३ ॥

अनुवाद। शौर्य्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धमें अपलायन, दान और ईश्वरभाव ये सब क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥

व्याख्या। आठों पहर लड़े सो शूरा। अर्थात् अष्ट प्रहर युद्ध (क्रिया) करनेसे भी जो शक्ति क्लान्त होने नहीं देती, उसी महाशक्तिका नाम शौर्य्य है। तेजः—शत्रुतापन शक्ति, (ससैन्य प्रकृतिको अपने वशमें लाना)। जिस शक्तिसे अवसाद मात्र नहीं आता है, वही धृति वा धारणावती शक्ति है, (आज्ञाचक्रके ऊपर उठ कर परम शिवमें अविच्छेद कर लक्ष्य स्थिर रखना। कारणके साथ कार्य्यका परिणाम फल प्रत्यक्षवत् हृदयमें विद्यमान रहनाही दक्षता है। युद्धक्षेत्रमें चाहे जैसी अवस्था आपड़े, उससे विमुख न होकर सम्मुखीन रहनाही

अपलायन है, (आज्ञाचक्रसे मूलाधारमें उतर आनेके समय कूटस्थमें दृष्टि रख करके पिछाते उतर आना, पुनः सामने उठजाना, बांसकी सिढ़ीमें मजूरोंके चढ़ने उतरनेके सदृश है)। दान=त्याग स्वीकार। और वेद-ईश्वरमें विश्वास, अर्थात् प्रभुत्व स्वीकार करण और प्रभुत्व स्वीकार करवानेका भाव। यह सब कर्म क्षत्रियोंके स्वभावज हैं। इन सबके आचरणसे ही उनकी ऊर्ध्वगति होती है॥ ४३ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्य्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

अन्वयः। कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं (कृषिः गोरक्ष्यं पशुपाल्यं वाणिज्यं च क्रयविक्रयादिः) स्वभावजं वैश्यकर्म; परिचर्य्यात्मकं (शुश्रुषास्वभावं) कर्म शूद्रस्य अपि स्वभावजम्॥ ४४ ॥

अनुवाद। कृषि गोरक्ष्य और वाणिज्य यह सब कर्म वैश्योंके स्वभावज हैं; परिचर्य्यात्मक कर्महीं शूद्रोंके स्वभावज कर्म है॥ ४४ ॥

व्याख्या। क्षेत्र कर्षण करने का नाम कृषि है। इस शरीररूप क्षेत्रमें प्रश्वास और निश्वासरूप कर्षण (गुरूपदेशसे) यथाविधि करनेसे सुफल होता है। गोरक्ष्य=गो शब्दमें पृथिवी अर्थात् यह सम्यक् शरीर है; इसकी रक्षा करनेका भ्रम मनमें रखना (परन्तु यह

शरीर उत्पादिभंगुर है, कभी भी रक्षा न होगी)—सुपथ में चलनेवाला मनके वशमें इन्द्रियोंको रखना ही गोरक्ष्य है। वाणिज्य=अपना लाभ रख करके लेनदेन करना—कुछ लेना कुछ देना। इस प्रकार फलाकांक्षाके साथ क्रिया करना जिस साधकका संस्कारज अभ्यास है वही वैश्य-पद वाच्य है। तथापि यह पुरुष द्विज है (१७ अः १४ श्लोक)। क्रिया करते रहनेसे कालान्तर में इसीसे वह क्रमोन्नति और मुक्तिको पावेगा।

और स्त्री-पुत्रादि-संसारमें गाढ़ आसक्त, क्रिया करनी नहीं चाहते, भयके मारे कर सकते नहीं तथापि इन तीन प्रकारके साधकोंकी सेवा करनेके लिये जिनका मन सदाकाल चाहता है, उन्हींको शूद्र कहते हैं। यह सुमतिमान लोग भी उस प्रकारकी सेवा करते रहनेसे साधकोंके साथ प्रसंग क्रममें आत्मतत्त्व ज्ञान का सम्भाषण सुनते सुनते परम कल्याण लाभ करते हैं॥ ४४॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥४५॥

अन्वयः। स्वे स्वे कर्मणि (स्वस्वाधिकारविहिते कर्मणि) अभिरतः (परिनिष्ठितः तत्परः) नरः संसिद्धिं (ज्ञानयोग्यतां) लभते। स्वकर्मनिरतः (स्वकर्मपरिनिष्ठितः) यथा (येन प्रकारेण) सिद्धिं विन्दति (तत्त्वज्ञानं लभते) तत् (तत्प्रकारं) शृणु॥ ४५॥

अनुवाद। स्व स्व (अधिकार विहित) कर्ममें रत मनुष्य गण सिद्धि लाभ करते हैं। स्वकर्ममें निरत मनुष्य जिस प्रकारसे सिद्धिलाभ करते हैं उसे श्रवण करो ॥ ४५ ॥

व्याख्या। साधक पहिले ही अपनेको परीक्षा कर देखेंगे कि वे आप कौन है? साधकका मन अपनेको जो वर्ण कह कर स्वीकार करेगा, साधक उसी अनुसार कर्म कार्यका अनुष्ठान करेंगे। सर्व वर्णसे ब्राह्मण बड़ा है इस कारण अपर तीन वर्णको ब्राह्मणोचित कर्मोंका अनुष्ठान करना उचित नहीं। अपने अपने वर्ण अनुसार कर्ममें प्रवृत्त हो करके ठीक अपने ऊपर वाले वर्णके आचरणसे अपनेको उन्नत करनेके लिये चेष्टा करेंगे। एकको उल्लंघन करके कूदकर बड़े होनेकी चेष्टा न करनी चाहिये। इस प्रकार अनुष्ठानमें रत होनेसे सांसिद्धि (परम कल्याण) लाभ होती है। किस प्रकारसे कल्याण लाभ होता है उसे पर श्लोकमें ही कहा जाता है, सुनो ॥४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

अन्वयः। यतः (अन्तर्यामिणः परमेश्वरात्) भूतानां (प्राणीनां) प्रवृत्तिः (उत्पत्तिः चेष्टा वा भवति), येन (आत्मना) इदं सर्वं (विश्वं) ततं (व्याप्तं), तं (ईश्वरं) स्वकर्मणा अभ्यर्च्य (पूजयित्वा) मानवः (मनुष्यः) सिद्धिं विन्दति (लभते) ॥ ४६ ॥

अनुवाद। जिनसे प्राणियोंकी प्रवृत्ति, जिनसे यह समस्त व्याप्त है, उनकी स्वकर्म द्वारा अर्चना (पूजा) करके मानव सिद्धिलाभ करते हैं॥४६॥

व्याख्या। भगवान एक अद्वितीय है। भगवान सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापी है। वह जगत्कारण है, इसलिये उन्हींसे प्राणियोंकी प्रवृत्ति अर्थात् उत्पत्ति है; और वही एक मात्र कर्मफल-विधाता है, इसकारण करके उन्हींसे प्राणियोंकी प्रवृत्ति अर्थात् चेष्टा है। अर्थात् कर्मबद्ध जीव कृतकर्मके फल भोगनेके लिये उन्हींके अनिवार्य विधानसे यथोचित कुलमें जन्म लेते हैं और तदनुरूप मानसिकवृत्ति भी पाते हैं।

भगवान गुणकर्मके विभाग अनुसारसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्ण वा श्रेणीकी सृष्टि किये हैं और प्रत्येक वर्णका स्वभावज कर्म भी निर्देश कर दिये हैं। मनुष्य जो ब्राह्मणादि वर्णमें जन्म ग्रहण करता है, वह अपने अपने कर्मफलसे होता है; परन्तु फलविधाता ईश्वरका विधानसे अपना सञ्चित कर्मफल भोग करनेके लिये ही जन्मग्रहण करता है। शरीर धारण होनेसे ही जो सब सञ्चित कर्म फल देनेके लिये उन्मुख होते हैं, उन सबका नाम प्रारब्ध कर्म है अर्थात् जो कर्म फलनेको प्रारम्भ हुआ है। शरीरही प्रारब्ध कर्मका समष्टि है। प्रारब्ध-कर्म भोग किये विना क्षय प्राप्त नहीं होता।

परन्तु वह भोग अनासक्त हो करके करनेसे ही "असक्त-बुद्धिः सर्वत्र" होनेसे ही, कर्म क्षय होता है, नहीं तो आसक्त वा द्वेषयुक्त हो करके करनेसे पुनः कर्म-बन्धनमें फंसना होता है । इसलिये रागद्वेष विहीन हो करके प्रारब्ध भोग और कर्मानुष्ठान करनेकी व्यवस्था है। सुतरां ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चाहे किसी कुलमें जन्म हो जाय, प्रारब्ध भोगनाही पड़ेगा। साधु हो, चाहे असाधु हो; प्रारब्धके हाथसे किसीका छूटकारा नहीं है। प्रारब्ध अपनेही कर्मका फल है, इसलिये इसे स्वकर्म कहते हैं। अगर मैंने शूद्र कुलमें जन्म लिया है, तो समझना होगा कि यह हमारे ही कृतकर्मका फल तथा ईश्वरका विधान है। यह मनमें निश्चय करके शूद्रके कर्म वा प्रवृत्तिके ऊपर घृणा न करके वा अनुरक्त न हो करके मुझको अम्लानमुखसे उसी कर्मका अनुसरण करना होगा। वह शूद्र-कर्महीं तब (उस समय) हमारा स्वकर्म है। जिस वर्णमें जन्म लेऊंगा उसी वर्णका कर्महीं मेरा स्वकर्म होगा। अनासक्त भावसे स्वकर्ममें निरत रह करके पुरुषकारका अवलम्बन करके उसी सर्वान्तर्यामी सर्व-व्यापीकी अर्चना करनी होगी, मन-प्राणको गुरूपादिष्ट नियमसे उन्हींमें फेंकना होगा; ऐसा होनेसे ही मैं क्रमो-न्नति लाभ करके शुद्धचित्त होकर सिद्धिलाभ करूंगा। मानवके सिद्धिलाभका यही एक उपाय है, अर्थात् स्वकर्म

में रहकर ईश्वराराधना करना। सकल वर्णका यही एक नियम है। परन्तु मैं जिस किसी वर्णमें जन्म क्यों न लूं, यदि उस वर्णके कर्मोंको घृणा करते हुए त्याग करके दूसरे वर्णके कर्म करूं, अहंकारके वशसे "मैं भी तो मनुष्य हूं" यह विचार करके ऊंचे वर्णके समान होने जाऊं, तो ईश्वराराधनाही करूं, और योगयाग जो कुछ करूं, मेरा कर्मबन्धन छिन्न होना तो दूर रहा कर्मबन्धन अधिकसे अधिक बढ़ता ही रहेगा। क्योंकि, बाहर लोगोंके पास मैं खुब बहादुरी लेनेसे भी मेरा मन मुझको छोड़ेगा नहीं; कालान्तरमें वह हमारे चित्तमें हमारी वह घृणा और अहंकारका संस्कार उठाकर संशय तथा शोचना का उद्रेक करावेहीगा, और मृत्युकालमें भी मुझको उस संस्कारके आकर्षणमें फेंकेगा। सुतरां तब मुझको कदर्य बन्धनकी फांसमें बंधा रहना होगा और १६ अः १९ श्लोक अनुसार संसारकी आसुरी योनिमें निक्षिप्त होना होगा।

भगवान एक मात्र भक्तिके वश हैं। भक्तिमार्गमें अधिकारी भेद नहीं है। क्योंकि इसमें किसी विशेष क्रिया का अनुष्ठान नहीं है जिसमें विशेष प्रकारकी शक्ति तथा सामर्थ्यका प्रयोजन होगा; इसमें केवल सरल मनका दृढ़ विश्वास चाहिये। सुतरां सब कोई स्व स्व वर्णाश्रमके

कर्ममें रत रह करके भक्ति साधन कर सकते हैं। इस भक्ति बल करके "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्"। स्व स्व कर्ममें अर्थात् अपने अपने वर्णाश्रमके कर्ममें निर्विकार भावसे रत रह करके ही भक्ति की साधना करनी होती है, अन्यथा नही होती;—"लज्जा घृणा भय माहीं, एक रहते होना नाहीं"। अगाध जलमें पड़नेसे जैसे जलहीका आश्रय लेकर तीर लक्ष्य करके तैरते हुए तीर पर आना होता है, तब जल त्याग होता है, जलके आश्रय बिना जल त्यागका जैसे दूसरा उपाय नहीं है, उसी तरह स्वकर्मका आश्रय और ईश्वरको लक्ष्य करके तदर्चनामें रत होना होता है, तब कर्मत्याग होता है।

असली बात यह है कि मानवको सिद्धिलाभ करना हो तो उन्हें दो कार्य करने होंगे;—एक मान और अपमान बोध न करके "असक्तबुद्धिः सर्वत्र" होकर स्वकर्ममें निरत रहना है; और दूसरा उस प्रकारसे सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापी भगवानकी अर्चना करना। यह अर्चना अति उदार भाव की अर्चना है। यहां श्रीभगवानने आराध्य देवताके किसी नाम, रूपका उल्लेख नहीं किया; केवल वर्णना करके कह दिया कि "यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्"। इसमें विन्दुमात्र भी साम्प्रदायिक भाव नहीं है। प्रवृत्ति शब्द व्यवहारसे समझा जाता है कि, योगा-

नुष्ठानसे निवृत्तिमार्ग का अनुसरण करनाही इस अर्चनाका उपाय है। इसलिये कार्यतः चेष्टा करनी चाहिये; सचेष्ट क्रियानुष्ठान द्वारा उसी सर्वव्यापी सर्वशक्तिकारण सर्वान्तर्यामी की अर्चना करनेसे ही सिद्धि प्राप्ति होती है॥ ४६॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥४७॥

अन्वयः। स्वनुष्ठितात् (सम्यगनुष्ठितात्) परधर्मात् विगुणः स्वधर्मः श्रेयान्; स्वभावनियतं (स्वभावजं) कर्म कुर्वन् किल्बिषम् न आप्नोति॥४७॥

अनुवाद। सु-अनुष्ठित परधर्मसे विगुण स्वधर्म श्रेयस्कर है; स्वभावज कर्म करके कोई पापको प्राप्त नहीं होता॥ ४७॥

व्याख्या। यहां स्वभावज कर्म वा स्वकर्मका नाम ही स्वधर्म है। अतएव स्वभावज ब्रह्मकर्महीं ब्राह्मणका स्वधर्म है; स्वभावज क्षात्रकर्महीं क्षत्रियका स्वधर्म है, स्वभावज वैश्यकर्महीं वैश्यका स्वधर्म है, और शूद्रका स्वभावज कर्महीं शूद्रका स्वधर्म है। यह जो चार वर्ण हैं, इन चार वर्णोंमें प्रत्येक वर्णके धर्मके पास अपर तीन वर्णके धर्म परधर्म हैं। विगुण अर्थमें सदोष है। साधक अर्जुन युद्धमें गुरुज्ञाति समन्वित प्रतिपक्षको बध करनेकी क्रिया विगुण अर्थात् सदोष वा पापात्मक स्थिर करके भिक्षा-

टन वृत्तिको सु-अनुष्ठित अर्थात् निरुपद्रव शान्तिमय और निर्दोष कह करके स्थिर किये हैं। परन्तु "गुण-दोषदृशिर्दोषः गुणस्तूभयवर्जितः" अर्थात् दोष देखना भी दोष है और गुण देखना भी दोष है, दोष गुण कुछभी न देखनाही गुण है, इस बातको अर्जुन धारणामें नहीं लाये; उसने युद्धमें शत्रुबध करनारूप स्वधर्ममें दोष देखा और भिक्षाटनरूप परधर्ममें गुण देखा। इसलिये श्रीभगवानने उसको वर्णधर्म लक्ष्य कराके कहा कि "परधर्म सु-अनुष्ठित होनेसे भी (उससे) विगुण स्वधर्म श्रेयस्कर है" क्योंकि, वह जो स्वधर्मके प्रति दोष दर्शन और परधर्ममें गुण दर्शन है, वह क्रिया अहंकार की है, अहंकार कर्मबन्धनको दृढ़तर करता है; और यदि पुनः अहंकारके वश स्वधर्म त्याग किया जाय, तो दोष गुणके संस्कारमें चिरबद्ध होना पड़ता है। मृत्युकालमें मन उस संस्कारको चित्तमें जागरुक करके तदनुरूप भावका स्मरण करवा देता है। सुतरां भावातीत हो करके मुक्तिपदकी प्राप्ति न होनेसे संस्कार-बन्धनसे भवघोरमें घुमना ही पड़ता है। इसलिये श्रीगभवान कहते हैं कि, दोष गुण न देख करके "असक्तबुद्धिः सर्वत्र" हो करके स्वकर्ममें रह करके उसी सर्वनियन्ताकी अर्चना करनेसे सिद्धि प्राप्ति होती है। स्वभावज कर्म करनेसे पापस्पर्श नहीं होता,

क्योंकि स्वभावज कर्म जैसाही हो वह तो अपनेही कृत-कर्मका फल है और अब प्रारब्धरूप धरके खड़ा हुआ है; अतएव अनासक्त भोग बिना उसका क्षय होनाही नहीं है। इसलिये परधर्मसे स्वधर्म श्रेयस्कर है।

इस अध्यायमें श्रीभगवान साधक अर्जुनको साधन के चारवर्णकी अवस्था लक्ष्य कराकर वर्णधर्म अनुसार उनको स्वधर्ममें प्रवृत्त करते हैं। साधनके उसी वर्ण-धर्म अनुसारही यह व्याख्या की गई है। (परश्लोककी व्याख्या देखो)। तृतीय अध्यायमें स्वधर्म और परधर्म की जिस प्रकार व्याख्याकी हुई है उसके प्रतिभी साधकको लक्ष्य रखना चाहिये। क्योंकि फलमें दोनोंही एक है। इसलिये वह व्याख्या भी यहां दी गई है।—

विगुणः=विगत गुणः, निस्त्रैगुण्य (२य अः ४५ श्लोक), अर्थात् गुणत्रयके लयके पश्चात् जो ब्राह्मी स्थिति है वही स्वधर्म है; उसमें सम्पूर्ण अटक रहनेमें असमर्थ होकर समाधि भंगके बाद उतर कर पुनः परिश्रम करके समाधि लेने की आवागमन क्रियाभी श्रेयः है; परन्तु परधर्म अर्थात् प्राकृतिक धर्म सुन्दर रूपसे अनुष्ठान करना, अर्थात् केवल विषयाकारा वृत्ति लेकरके निरन्तर रहना श्रेयः नहीं है। और वह ब्राह्मीस्थिति प्राप्त होनेके लिये जो क्रिया कर रहा हूं (उस समय ब्रह्ममें लक्ष्य रहने के कारण)

उसको स्वभावनियत कर्म कहते हैं। इस अवस्थामें गुणत्रयका संसृव रहनेसे भी प्रकृतिके वशमें नहीं जाना होता; प्रकृति के वशमें जाना ही पाप है। (३य अः ३५ श्लोक; ५म अः १० श्लोक देखो) ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

अन्वयः। हे कौन्तेय! सदोषं अपि सहजं (जन्मना सह एव उत्पन्नं, स्वभावविहितं इत्यर्थः) कर्म न त्यजेत्, हि (यस्मात्) धूमेन अग्निः इव सर्वारम्भाः दोषेण आवृताः ॥ ४८ ॥

अनुवाद। हे कौन्तेय! सदोष होनेसे भी सहज कर्म त्याग करना न चाहिये, क्योंकि धूमद्वारा (आवृत) अग्निवत् सर्वकर्म ही प्रारम्भमें दोषों से आवृत रहते हैं ॥ ४८ ॥

व्याख्या। सहज—जन्मके साथ जात इस अर्थमें सहज। जन्मके साथ कौन कर्म उत्पन्न होता है? प्राणक्रिया ही जन्मके साथ जन्मती है। इसलिये प्राणक्रियाको सहज कर्म कहते हैं। जीव जबतक मातृगर्भमें रहता है, तबतक उसके निश्वास प्रश्वास की स्वतंत्र क्रिया नहीं रहती, मातृशरीरकी क्रियासे ही नाड़ी सहयोगसे उसके शरीरमें प्राणक्रिया सम्पन्न होती रहती है। उस

समय उसके शरीरमें प्राणप्रवाह अति सूक्ष्माकारसे उसकी ब्रह्मनाड़ीमें बहता रहता है। उसीसे सप्तधातुका पुष्टि साधन होता रहता है। भूमिष्ठ होते मात्र ज्योंही नासारन्ध्रमें निश्वास प्रश्वासकी क्रिया प्रारम्भ होती है, त्योंही अन्तरका प्राणप्रवाह उस नासारन्ध्रके प्रवाहके साथ मिलकरके क्रम अनुसार बहिर्मुख होता है। इसके साथही साथ स्वप्नवत् पूर्व स्मृति विलुप्त होती है, वाह्य विषयोंके संयोगमें आकर मोहित हो जाता है। इसलिये योगसाधनका उद्देश्य ही है उस प्राणप्रवाहको पुनः अन्तर्मुख कर देना; क्योंकि प्राण अन्तर्मुख होने से ही मोह का विनाश होता है, स्मृति जागरुक होती है, और आत्मज्ञानोदयसे जगत् आनन्दमय होता है। प्राणका वह अन्तर्मुख प्रवाहही सहज कर्म है। वह अन्तर्मुख प्राणप्रवाह विषय-संस्पर्श में आकर क्रमानुसार बहिर्मुख होगया है। श्रीगुरुदेव योगदीक्षा संस्कारके समय उस प्रवाहको अन्तर्मुख कराकर अखण्ड मण्डलाकार तत्पदका दर्शन करा देते हैं। परन्तु उस प्रवाहका यह परिवर्त्तन अधिक क्षण स्थायी नहीं होता, विकर्म-ताड़नसे शीघ्रही पुनः घुम जाता है। सुतरां उसके लिये आप स्वयं साधन करना पड़ता है। उस प्रवाहको पुनः

अन्तर्मुख करनेकी चेष्टामें पहले पहल बहुतही आयास स्वीकार करना पड़ता है, यह सुखसे नहीं होता; और प्रथम प्रथम यह चेष्टा ठीकभी नहीं होती। विषयाकर्षणसे टक्कर खाके बाहर आना पड़ता है। उसी आयासको उसी विधिरहित चेष्टाको ही 'दोष' कहा हुआ है। इसलिये श्रीभगवान अर्जुनको कहते हैं कि, सदोष होनेसे भी सहज कर्म (अन्तर्मुखमें प्राणचालन) को त्याग करना न चाहिये; क्योंकि कोई काजभी प्रारम्भकालमें निर्दोष नहीं होता वरन् दोषाच्छन्न रहता है, जैसे अग्नि उत्पन्न-कालमें धूमाच्छन्न रहती है।

यह तो सीधी बात हुई। श्रीमत् शंकराचार्य्य जी कहे हैं कि सहज कर्मही स्वधर्म है और श्रीधर स्वामी कहे हैं कि स्वभावविहित कर्मही सहज कर्म है। ४२ श्लोकसे ४८ पर्यन्त श्लोकमें चार वर्णका प्रविभक्त कर्म और उन्हीं कर्मोंके फलविधानके परिचयसे देखने में आता है कि स्वभावज कर्म, स्वकर्म, स्वधर्म और सहज कर्म एकही वस्तुके विभिन्न नाम मात्र हैं। अब देखना होगा कि ब्रह्मकर्म, क्षात्रकर्म इत्यादि चार वर्णके स्वभावज कर्मको सहज कर्म क्यों कहा जाता है।

श्रीधर स्वामी कहे हैं कि स्वभाव विहित कर्म ही सहज कर्म है। देखा जाता है कि, मनुष्योंके स्वभाव (शरीर-

मनकी अवस्था) का परिवर्त्तनके साथही साथ प्राण-क्रियाका भी परिवर्त्तन होता है, अर्थात् मनुष्योंका स्वभाव (शरीर-मनकी अवस्था) जब जिस प्रकार होता है, प्राणक्रिया भी उसी की अनुगामिनी होती है; मानो उसके साथही साथ नवीन जन्म लेती है। इसीलिये स्वभावविहित कर्मको सहज कर्म कहते हैं। स्वभावानुगामी प्राणकर्म तात्कालिक दोषाश्रित होनेसे भी उसे त्याग करना न चाहिये क्योंकि त्याग करनेसे विघ्न होगा। जैसे शोकावेगमें भीतर ही भीतर वायुवेग इतना अधिक होता है कि घन घन दीर्घ निःश्वासरूप धारण करके बाहर आने चाहता है, चिल्लाय करके रोने की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है; भयके आवेगसे अन्तरमें प्राण संकुचित होकर हृदयको कम्पायमान कर देता है, छाती धड़कती रहती है; आनन्दके आवेगसे अनन्तरमें प्राण स्फीत होकर खुब हंसी ला देता है;—यह सबही प्राणके स्वभाव-विहित कर्म हैं। इन सब कर्मोंको त्याग (दमन) करने से शरीरमें व्याधि उत्पन्न होगी। उसी तरह प्रगाढ़ चिन्ताके समय प्राणक्रिया स्थिर हो जाती है; अनेक क्षण बैठ करके क्रिया करनेसे प्राणप्रवाह संयत हो जाता है, शरीर को भी संयत करता है; इस समय यदि किसी आवेगसे चञ्चल हो करके कोई काज करने जाओ और

प्राणप्रवाहको सरल होनेका सावकाश न दो तो तत्क्षणात् मस्तकमें चक्कर आकर तुम्हें गिरा देगा। इस प्रकार सामान्यसे सामान्य उदाहरणसे समझा जाता है कि, स्वभाव की क्रियामें प्राण की क्रिया जिस प्रकार प्रारम्भ होती है उसे दोषयुक्त समझनेसे भी त्याग करना न चाहिये; प्राण की तात्कालिक क्रियाका अनुवर्त्तन करते हुए उसी क्रियाको बदलकर उसे त्याग करना ही युक्तियुक्त है। अब देखना चाहिये कि साधक को साधन-जीवनमें उनके स्वभावानुयायी सहज कर्मका किस किस प्रकारके भावसे परिवर्त्तन होता है।

"जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते"—इस वचनसे जाना जाता है कि, जबतक संस्कार अर्थात् उपनयन न हो तबतक शूद्र अवस्था रहती है। उपनयन को अन्तर्दृष्टि भी कहा जा सकता है। अस्मदादिका इन दोनों चक्षुओंसे अन्तर्विषय लक्ष्य नहीं होता इसलिये श्रीगुरुदेव दीक्षाकालमें अस्मदादिके भ्रूमध्यमें एक दिव्यचक्षु खोल देते हैं। उसे ही उपनयन कहते हैं। उस चक्षुसे बाहर की ओर देखा नहीं जाता, भीतरही भीतर ताकनेसे उसमें अनेक विषय दिखाई पड़ते हैं। उस चक्षु की दृक्-शक्ति साधारणतः आवरणसे ढकी है। दीक्षाके पश्चात् अभ्यास द्वारा उस आवरणको हटाना पड़ता है। आवरणको

हटा सको तो उस चक्षुसे भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान सब देखा जाता है। शास्त्रमें उस चक्षुको दिव्यचक्षु, तृतीय नेत्र, ज्ञानचक्षु, प्रज्ञाचक्षु प्रभृति नाना नामसे वर्णना किया है। गुरुदेव उस चक्षुको खोल देते हैं, इस कारण गुरु प्रणाममें है—चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।"

संस्कार होनेके पश्चात् ही शूद्रत्व जाकर द्विजत्व आता है। इस संस्कारको द्वितीय जन्म कहते हैं। एक जन्म मातृगर्भसे वहिर्जगत्में भूमिष्ठ होना है, और दूसरा जन्म दीक्षासंस्कार द्वारा संस्कृत होना है, जिससे वहिर्विषय छोड़ करके अन्तर्जगत्का विषय लक्ष्य होता रहता है। जैसे मातृगर्भसे जन्म होनेसे प्राणक्रिया अन्तर्मुख गति छोड़ करके बहिर्मुख गति लेती है, अर्थात् जन्मके साथही साथ उसका भी जन्म होता है, उसी प्रकार संस्कार द्वारा द्विज होनेसे ही प्राणक्रिया भी उसके साथ ही साथ रूपान्तरित हो करके क्रम अनुसार अन्तर्मुख होती रहती है, मानो उसका भी नवीनरूपसे जन्म हुआ। वह भी जन्मके साथ ही साथ जन्मती रहती है, कारण द्विजत्वके ब्राह्मणादि विभिन्न स्तर अनुसारसे इस सहज क्रियाका भी प्रकार भेद होता है।

प्राणकी बहिर्मुख गतिसे जैसे विषयाकारा वृत्तिका उदय होता है उसी प्रकार प्राणके अन्तर्मुख गति

लेनेके साथही साथ भिन्न भिन्न प्रकार की वृत्तिका उदय होता है, और तदनुरूप भिन्न भिन्न प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करना पड़ता है। वे सब कर्म तात्कालिक प्राण-क्रियाके पोषक तथा बर्द्धक हैं; इसलिये वे सब अवश्य कर्त्तव्य कर्म हैं; इस कारण उन्हें भी सहज कर्म वा स्वभावज कर्म कहते हैं। प्रत्येक साधककोही साधन-जीवनमें शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण पर पर क्रमोन्नत यह चार अवस्था भोगनी होती हैं। प्रत्येक अवस्थाके प्राणक्रियाके उपयोगी पृथक् २ स्वभावज कर्म विहित हैं। उन सब कर्मोंको त्याग करना न चाहिये; त्याग करनेसे उन्नत अवस्था लाभ नहीं होती। उन सब कर्मोंको पर पर अनुष्ठान कर जानेसेही उन्नत अवस्थामें उठा जाता है और अनुष्ठानके फलसे वे सब कर्म क्रम अनुसार आपही आप त्यागभी होते रहते हैं। नहीं तो स्वेच्छासे उनका त्याग करनेसे पतन होता है।

साधककी क्रिया-वर्जित-अवस्थाही शूद्रावस्था है। इस अवस्थाका सहज वा स्वभावज कर्म परिचर्यात्मक है। इस अवस्थाके परिचर्य्या वा सेवा द्वारा अपर तीन अवस्थाओंका पोषण होता है। परिचर्या है शरीरको शौचाचार में रखना, उपयुक्त परिमाण अंग चालना करना, शरीर को परिमित सात्त्विक आहार देना,

शरीरको वातातपसे रक्षा करना, उपयुक्त आश्रय बनाना इत्यादि, अर्थात् ६ अः १७ श्लोक अनुसार युक्तभावमें शारीरिक क्रिया सम्पन्न करना। यह सबही तदर्थीय कर्म होनेके करण इसमें बाधकता नहीं आती। इस परिचार्य्यात्मक कर्म द्वारा शरीरको साधनानुकूल करना होता है।

क्रियाकालही साधककी द्विज अवस्था है। क्रियाकी प्रथम अवस्थाही उनका वैश्य भाव है, द्वितीय वा मध्यम अवस्था क्षत्रिय भाव है और शेष अवस्था ब्राह्मण भाव है। साधनकी यह तीन अवस्था हैं। प्रथम अवस्थाका स्वभावज कर्म कृषि, गोरक्ष्य तथा वाणिज्य है। यह तीनों कर्म क्रियाके प्रथमसेही साथ ही साथ चलते रहते हैं। समझनेमें सुभीतेके लिये इन तीनों कर्मोंको पृथक् पृथक् रूपसे वर्णन किया जाता है।

आसनमें "समं कायशिरोग्रीवं" हो करके बैठकर श्वास की क्रियाके साथ शरीरका अधोगामी वेगको ऊर्ध्वमें आकर्षण करके तथा मेरुदण्ड और सर्व शरीरको दृढ़ और संयत करके हृदयमें अनाहत चक्रके ऊपर निर्भर करना होता है। यह आसन सुचारुरूपसे आवद्ध न होने पर्यन्त वायुके सहयोगसे शरीरको रीतिमत कर्षण करके (कस लेके) मेरुदण्डका पर्व समूहको परस्पर दृढ़बद्ध करना होता है, उसके साथही साथ छः चक्रमें मन्त्रबीजको

यथानियमसे अर्षण (वपन) करना होता है। यह सब क्रियाही कृषि है। तत्पश्चात् गोरक्ष्य है। गो अर्थमें इन्द्रिय है। इन्द्रिय इग्यारह हैं;—पाँच ज्ञानसाधन, पांच कर्म-साधन, और एक मन। इन सब इन्द्रियोंको संयत भावसे रखना होता है। गुह्य, लिंग और पादको यथा नियमसे आसनके द्वारा संयत करके पाणिको भी ज्ञानमुद्रा द्वारा अथवा गुरूपदिष्ट मतासे अन्य प्रकारसे आबद्ध करके रसना को उलटकर स्वस्थानमें रखना होता है। ज्ञानेन्द्रियों के साथ मनको भ्रूमध्यमें कूटस्थमें (६ अः २६ श्लोकके नियम अनुसार) वशमें लाके आबद्ध करना होता है। इस प्रकार करनेके बाद देखना होगा कि किसी इन्द्रिय में कष्ट वा यन्त्रणा अनुभूति न हो, क्योंकि "स्थिरसुखमासनं"—आसन स्थिर तथा सुखदायक होना चाहिये। किसी स्थानमें यन्त्रणा होते रहनेसे क्रियामें विघ्न होता है। सयत्न चेष्टा द्वारा आसनमें दृढ़ अभ्यस्त होना होता है, कारण कि साधनमें आसनही मातृस्वरूप है। यह गोरक्ष्य हुआ। तत्पश्चात् वाणिज्य है। वाणिज्य प्राणका व्यवसा है। आत्ममन्त्रसे मिला हुआ प्राणको देवगण बड़ा प्यार करते हैं। साधकको भी भवपारमें जाना होगा; परन्तु अपरिचित देश, रास्ता भी अज्ञानान्धकारसे आच्छन्न है, कुछ सहाय सम्बलका प्रजोजन है; इसलिये साधक

एक कृपावान् महाजनके (गुरुके) सहारेसे प्राणमें मन्त्र मलना सीखकर तथा ब्रह्मलोकको जानेका रास्ता-घाटका सन्धान जानकर, निर्दिष्ट दिशामें लक्ष्य स्थिर रखकर मन्त्र मिला हुआ प्राणको लेकर ब्रह्ममार्ग के छः स्थानोंमें देवतोंके साथ प्राणका व्यवसाय करते रहते हैं। भली वस्तुका भला मोल होता है। जो जैसी कृती है उसकी वस्तु भी वैसी ही होगी। देवगण भले प्राणको पानेसे अधिकसे अधिक सन्तुष्ट होते हैं तथा नियमित रूपसे मन्त्र मला हुआ प्राण को (बन्धी) पाते रहनेसे सुप्रसन्न होते हैं। प्राणके बदलेमें वे (देव) लोग ज्ञान देते हैं, आलोक देते हैं, रास्ता दिखा देते हैं और सहायक होते हैं। इस प्रकारसे परस्पर की भावना द्वारा परम श्रेय लाभ होता हे। यही वाणिज्य है। क्रियाकी प्रथम अवस्थामें इन तीनों कर्मोंको करना पड़ता है। श्वास आपही आप स्वभावतः जैसे बहता है उसीके वशमें रह करके कौशल द्वारा उसमें आत्ममन्त्रका संयोग करके वाणिज्य करना होता है, अर्थात् आत्ममन्त्र और हंसको परस्पर समन्वित करके छओं चक्रमें यथा नियमसे प्राण-क्रिया (प्राणायाम) करना होता है, श्वासके ऊपर किसी प्रकारका वेगका प्रयोग करना न चाहिये। शिक्षार्थी साधक जितने दिन इन तीनो कर्मोंमें न अभ्यस्त होंगे,

जितने दिन आसन स्थिर और सुखकर न होगा और रसना उलट कर गलगह्वरके भीतर तालु कुहरमें न जावैगी, उतने दिन इस क्रियाको करेंगे। और शिक्षित साधक क्रियामें बैठके जबतक भीतर एक स्वच्छन्द भावको नहीं पावेंगे और श्वास सरल, सूक्ष्म और सबल न होगा, तथा कूटस्थमें लक्ष्य स्थिर न होगा तबतक इस क्रियाको करेंगे । स्वभावके वशमें रह करके श्वासके ऊपर किसी प्रकार वेगका प्रयोग न करके यह जो तीनों कर्म हैं, इस प्रकार कर्म न करनेसे उन्नति होती ही नहीं; पुनः इस प्रकार कर्मका त्याग करके पहिलेही श्वासके ऊपर वेग प्रयोग करके तेज प्रकाश करने की चेष्टा करनेसे, नाड़ीपथ समूह सरल न होनेसे वायुका वेग वहां पहुंचकर बाधा पाकर उन सबको विकृत करके शरीर को व्याधिग्रस्त करेगा । क्रियाकी प्रथम अवस्था ही मृदु भावकी साधन है; इस साधनसे शक्ति सञ्चय होनेके बाद तब तीव्रभाव की साधन करना होता है । बहुतेरे लोग क्रियाकी इस प्रथम अवस्थाका मृदुभावका साधनको दोष मानते हुए उसमें अभ्यस्त न होकरके भी अपनी बुद्धिसे तीव्रभावकी साधन करने लग जाते हैं, श्वासके ऊपर वेग प्रयोग करते हैं, श्वासको संयत करते हैं, दीर्घ करते हैं, रुद्ध करते हैं, अर्थात् क्रियाकी मध्यम अवस्थाका कर्म करने लगते हैं, अन्तमें विपरीत फल पाते हैं, शिरः-

पीड़ादि व्याधिग्रस्त होते हैं। इसलिये गुरूपदेश "सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्" इत्यादि है।

जब क्रियाकी इस प्रथम अवस्थाका कर्म आयत्त हो आता है तथा श्वास क्रम अनुसार आपही आप सूक्ष्म, दीर्घ और वेगशाली होता है, तब शिक्षार्थी साधक गुरुके पास द्वितीय क्रियाको प्राप्त होते हैं और शिक्षित साधक क्रियाकी मध्यम अवस्थाका काम करनेमें प्रवृत्त होते हैं। मध्यम अवस्थाही साधकका क्षत्रियभाव है। इस अवस्थाका स्वभावज कर्म शौर्य्य, तेज, धृति, दाक्ष्य, युद्धमें अपलायन, दान और ईश्वरभाव है। यही अवस्था साधक जीवनमें कठोर-अवस्था है। प्रथम अवस्थाके कर्ममें नाड़ीपथ समूह परिस्कार होनेसे इस अवस्थामें साधकको गुरूपदेश अनुसार श्वासके ऊपर वेग प्रयोग करना पड़ता है, वायुको विभिन्न नाड़ीपथमें चलाना पड़ता है, तेज सहकारसे साधन-क्लेश सहना होता है, कृतित्व और दक्षता प्रकाश करके विवेक वैराग्यादिके सहारेसे विषय-वासनानुकूल काम, क्रोध और लोभादि वृत्तिके प्रबल आक्रमणको अटकाना पड़ता है; किसी प्रकार से भी पिछे पाँव हटाना न चाहिये। इस प्रकारसे क्रिया करनसे काम क्रोधादिको जय कियाजाता है और क्रम क्रमसे शरीर-राज्यके अनेक स्थान आयत्तमें आते हैं, नाना

प्रकारकी विभूति लाभ होती हैं। विभूति लाभ होनेसे आसक्त हो करके उस विभूतिको भोग करना न चाहिये। भोगसे बन्धन होता है, उन्नति नहीं होती, सर्वत्र अनासक्त रह करके समस्त भगवान को समर्पण करते हुए चले जाना पड़ता है; यही दान है। यह जो भोग-बन्धन में न आ करके अनासक्त भावमें रहना है, इससे प्राकृतिक शक्तिके ऊपर सर्वत्र आत्मप्रभाव विस्तार हो जाता है; यही ईश्वरभाव है। गीतोक्त साधक अर्जुन इस मध्यम अवस्थाकी क्रियामें प्रवृत्त है। उसने इस घोर कर्म-अवस्थाकी कठोरता देख करके निश्चय कर लियाकि, क्रियाका शेष अवस्थाका शम दमादि कर्म ही उत्तम है; वह अच्छी शान्तिमय अवस्था है (अर्थात् सहस्रार क्रिया, गुरुमुखगम्य), उस अवस्थामें पञ्चतत्त्वोंके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता, मन सहस्रारमें ज्ञानमय ब्रह्मानन्दमें मतवाला रहता है, अथच दर्शन, श्रवण, मनन आदि द्वारा विश्वज्ञान (विज्ञान) जाना जाता है; षट्चक्रमें कोई चेष्टाही नहीं रहती, कोई आधिपत्यभी नहीं रहता। मन यदृच्छालाभसन्तुष्ट होता है। इस यदृच्छालाभसन्तुष्ट अवस्थाको लक्ष्य करके ही अर्जुनने कहा कि "श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके"। अर्जुन जो घोर कर्मावस्थाको परित्याग करके ज्ञानावस्थामें जाना चाहते हैं, उनकी वह इच्छा

वृथा है; क्योंकि, घोर कर्मके अनुष्ठान बिना उस ज्ञानावस्थामें रहा नहीं जाता, प्रकृतिके वशसे उतर कर उनको कर्ममें नियुक्त होना ही पड़ेगा। यही समझानेके लिये यह गीता है।

श्रीभगवान कहते हैं "सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्" साधनकी इस मध्यम अवस्थामें साधक कूटस्थ चैतन्यको लक्ष्य करके उभय वृत्तियोंके बीचमें खड़े हुए हैं, उनका रास्ता सब परिस्कार है, गाण्डीवमें छिला (गुण) चढ़ाया हुआ है, अर्थात् मेरुदण्ड जितनी दूर संयत और संकुचित होना चाहिये सो हुआ है, उसमें अति तीक्ष्ण शर भी योजित हुआ है, अर्थात् मेरुमध्यगत श्वास अति सूक्ष्म और तीव्र हुआ है, अब जहां इच्छा अबाधतः निक्षेप किया जा सकता है और जिसको इच्छा भेद भी किया जा सकता है। इस अवस्थामें शौर्य्य तेजादि बिना दूसरी और कोई क्रिया नहीं है। वही इस समयका सहज कर्म है। अब यदिके साधक शौर्य्य तेजादिके द्वारा उस तीव्र सूक्ष्म श्वासका यथोपयुक्त व्यवहार न करके उसको त्यागपूर्वक सहस्रारमें ब्रह्मकर्मके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होने जावेंगे तो, वह हो नहीं सकता। क्योंकि वह तीव्र सूक्ष्म श्वास की क्रिया जो अब प्रारब्धरूपसे खड़ी हुई है बिना भोग के उसका क्षय नहीं होगा। इच्छा

द्वारा त्याग करनेसे कर्म त्याग नहीं होता । प्राकृतिके वशसे अवश होकरके स्वभावज कर्ममें और भी निबद्ध होना होता है; अनासक्त क्रियाके फलसे कर्म आपही आप त्याग होता है । इच्छाका प्रयोगसे बन्धनही होता है, मुक्ति नहीं होती । इसलिये श्रीभगवान पश्चात् कहे हैं कि "कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्" । इसी कारण अब उपदेश करते हैं कि "असक्तबुद्धिः सर्वत्र" हो करके और "स्वकर्मनिरतः" हो करके ईश्वरकी अर्चना करते चलो, ऐसा होनेसे ही सिद्धिलाभ होगी । सहज कर्म सदोष होनेसे भी उसको त्याग करना न चाहिये, क्योंकि, वही उन्नतिका एक मात्र पन्थ है । जैसे आवश्यकीय अन्नादि प्रस्तुत करनेका एक मात्र उपाय अग्नि है; परन्तु अग्नि प्रज्वालन करना हो तो स्वभाव-सिद्ध धूम होना अनिवार्य है इस कारण जैसे अग्नि त्याज्य नहीं है, वैसे सर्व कर्मही प्रारम्भ कालमें दोषा-च्छन्न रहते हैं, इसलिये सहज कर्म सदोष होनेसे भी त्याज्य नहीं है ।

प्राणचालन जीवका सहजात कर्म है । विषयके साथ मिल करके ही दोष युक्त हुआ है इस लिये यह कर्म परित्याग करनेका नहीं है । जैसे धूआं अग्नि को ढांक रखता है, वैसे सर्वोंका प्रारम्भ (स्पर्श) दोषके द्वारा इस

कर्मके ब्रह्ममार्गमें विचरण-द्वार ढका हुआ है। अग्नि थोड़ा बलवान होनेसे ही जैसे धूंएको निकाल कर निज-स्वरूप प्रकाश करती है, सहजात कर्म भी तैसे गुरुप्रदर्शित मार्गमें विचरण करके प्राकृतिक मायाजालको निकालकर स्व स्वरूपमें स्थापन करता है॥ ४८॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥४९॥

अन्वयः। सर्वत्र असक्तबुद्धिः (असक्ता संगरहिता बुद्धिरन्तः-करणं यस्य सः) जितात्मा (निरहंकारः) विगतस्पृहः (निराकांक्षः) संन्यासेन (कर्मासक्तिफलयोस्त्यागलक्षणेन) परमां नैष्कर्म्यसिद्धिं (सर्वकर्मनिवृत्तिलक्षणां सत्त्वशुद्धिं) अधिगच्छति (प्राप्नोति)॥४९॥

अनुवाद। सर्व विषयमें अनासक्तचित्त, निरहंकार तथा स्पृहाशून्य मनुष्य (कर्मासक्ति और कर्मफल का त्यागरूप) संन्यास द्वारा परम नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होते हैं॥ ४९॥

व्याख्या। श्रीभगवान पहले ही कहे हैं कि स्वकर्म द्वारा ईश्वरार्चना करनेसे मानव सिद्धिलाभ करता है। किस प्रकार से स्वकर्म साधन करेगा और किस प्रकार की सिद्धि लाभ भी करेगा, वही बात समझानेके लिये कहते हैं कि सर्वत्र अनासक्त होकर कर्मका अनुष्ठान करो, जितात्मा और स्पृहाशून्य हो करके अर्चना करो,

ऐसा होनेसे ही परमा नैष्कर्म्यसिद्धि अर्थात् सर्वकर्म-निवृत्तिरूप सत्त्वशुद्धिको प्राप्त होगे; अर्थात् जिसकी बुद्धि पुत्र दारा गृहादिको सार कह करके निश्चय नहीं करती, क्रिया विशेष द्वारा मन-बुद्धि-अहंकार-चित्त जिसके अपने आयत्त हो चुके, जिसको किसी प्रकार भोगरागमें इच्छा मात्रका उद्रेक नहीं होता; वही पुरुष संन्यास (सर्वनाशका) द्वारा उत्कृष्ट नैष्कर्म्यसिद्धि (ब्राह्मी स्थिति) को पाता है (३य अः ४ श्लोक देखो) ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

अन्वयः। हे कौन्तेय ! सिद्धिं (नैष्कर्म्यसिद्धिं) प्राप्तः सन् यथा (येन प्रकारेण) ब्रह्म आप्नोति तथा (तत्प्रकारं) समासेन एव (संक्षेपेणैव) मे (मम वचनात्) निबोध, या (या प्रतिष्ठा ब्रह्मप्राप्तिः) ज्ञानस्य परा निष्ठा (पर्यवसानं परिसमाप्तिरित्यर्थः) ॥ ५० ॥

अनुवाद। हे कौन्तेय ! सिद्धि प्राप्त होकर फिर जिस प्रकारसे ब्रह्म प्राप्त होता है, उसे संक्षेपमें हमसे सुन लो, जो (जो ब्रह्मप्राप्ति) ज्ञान की परानिष्ठा (चरम परिसमाप्ति) है ॥ ५० ॥

व्याख्या। अति कठोर संयमके द्वारा ब्रह्मसंस्पर्श सुख का अभ्यास करते करते एक असीम उदारता आश्रय

करता है, उससे इस नवद्वार युक्त शरीरमें निवास करके अन्तःकरणके साथ मिल करके इन्द्रियादिका जो कुछ कर्म होता है वह उस उदारतामें और अटक रहनेका स्थान नहीं पाता जैसे रुजु दर्वाज़ामें एकके भीतर से प्रवेश करके फिर दूसरे दर्वाजेसे सीधा निकल जानेके सदृश निकल जाकर अन्तःकरणसे बहुत दूरमें जा पड़ता है। सुतरां अन्तःकरणमें क्रियाशक्तिको उत्पन्न नहीं कर सकता। उस क्रियाशून्य अन्तःकरणमें साधकका जो निरन्तर अवस्थान है, वही नैष्कर्म्यसिद्धि है। ब्रह्ममें जैसे निर्लिप्तता चिरविद्यमान है, उसी प्रकार इस साधकमें भी है। किस किस साधनसे यह निष्ठा-स्थिति होती है, हे कुन्तीपुत्र! तुमको उन्हें संक्षेपमें कहता हूं सुन लो। (५ म अः १३ श्लोक) ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

अन्वयः । विशुद्धया (सात्त्विकया) बुद्धया युक्तः धृत्या (सात्त्विक्या) आत्मानं (तामेव बुद्धिं) नियम्य च (निश्चलां कृत्वा) शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा रागद्वेषौ च व्युदस्य (परित्यज्य), विविक्तसेवी (विजन-देशावस्थायी) लघ्वाशी (मितभोजी) यतवाक्कायमानसः (संयत-वाग्देहचित्तो भूत्वा) नित्यं (सर्वदा) ध्यानयोगपरः (ध्यानेन यो योगो ब्रह्मसंस्पर्शस्तस्मिंस्तत्परः सन्) वैराग्यं (धानाविच्छेदार्थं पुनः पुनः दृष्टादृष्टेषु विषयेषु वैतृष्ण्यं) समुपाश्रितः (सम्यगाश्रितो भूत्वा), अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहं विमुच्य (विशेषण त्यक्त्वा) निर्ममः सन् शान्तः (परमामुपशान्तिं प्राप्तः) ब्रह्मभूयाय (ब्रह्माह-मिति नैश्चल्येनावस्थानाय) कल्पते (योग्योभवति) ॥५१॥५२॥५३॥

अनुवाद । विशुद्ध (सात्त्विक) बुद्धि युक्त हो करके, धृति द्वारा (उसी) बुद्धिको निश्चल करके, शब्दादि विषय समूहको त्याग करके (तद्विषयक) राग द्वेष परित्याग करके, विविक्तसेवी, मितभोजी, संयतवाग्देहचित्त और नित्य ध्यानयोगमें तत्पर होके वैराग्यका सम्यक् प्रकारसे आश्रय करके, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहको विशेष रूपसे त्याग करके, निर्मम हो करके परमोपशान्ति प्राप्त साधक ब्रह्म होनेके (मैं ब्रह्म हूं इस ज्ञानमें निश्चल रूपसे अव-स्थान करनेका) योग्य होते हैं ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

व्याख्या । जिसकी बुद्धि विशुद्ध अर्थात् आत्म-स्वरूप बिना और सब किसीको उपेक्षा करती है, ग्रहण नहीं करती; जिसकी धृति स्व स्वरूप बिना और किसीमें नहीं रहती; जिसका देहाभिमान संयत (आयत्ताधीन) हो चुका अर्थात् कभी भी देह "मैं" हूं कह करके स्मृति नहीं उठती; शब्दादि विषय समूह शरीर धार-

णोपयोगी क्रियामात्र करता है, तदतिरिक्त और कुछ भी नहीं करता। राग=प्रीति, द्वेष=अप्रीति, यह दोनों ही जिसके अन्तःकरणसे परित्याग हो चुके, जो पुरुष केवल मात्र शून्यागार, नदीतीर, पर्वत, श्मशानकी निर्जनता सर्वदा अन्तःकरणमें भोग करता है अर्थात् मूलाधारसे आज्ञाचक्र को भेद करके केवल ब्रह्मनाड़ीका मध्य स्थान देकर आवागमन करता है, चित्रा, वज्रा, वा सुषुम्नामेंसे किसीके स्पर्शमें लिप्त नहीं होता (विविक्तसेवी); जो लघु आहार करता है वा जिसकी आशा (प्राप्तीच्छा) लघु है अर्थात् एकमात्र ब्रह्म बिना और किसीको नहीं चाहता; जिसका वाक्य, शरीर, मनोवृत्ति "यत" हैं अर्थात् स्व स्व क्रिया त्याग कर चुके; चिन्ता मात्रके विलयसे जो निष्कामता-स्थिति होती है अर्थात् मिलनेकी वस्तु ब्रह्ममें मिल करके तदाकारत्व लेनेसे जो निरन्तर अवस्थान होता है, सर्वदा उसीमें जो तत्पर (रत) है; इहकाल परकालमें भोगमात्रके ऊपर जिसकी उपेक्षा (विराग) है; और जिसका अहंकार=मैं करके अभिमान, बल =जिस किसी प्राकृतिक पदार्थकी (अवस्तु की) ग्रहण-शक्ति, दर्प=कूदके बड़ा होनका संस्कार, काम=विषयाकारा वृत्ति, क्रोध=कामना प्रतिहत होनेसे जिस वृत्ति का उदय होता है, परिग्रह=जितनेसे चलता है उतनेसे

अधिकका ग्रहण—यह सब एक दम त्याग हो चुके; ऐसे निर्मम (अर्थात् हमारे कहनेका कुछ भी जो पुरुष अन्तःकरण में ग्रहण नहीं करता, वही) स्थिर धीर साधक ब्रह्मत्व लाभके योग्य होता है ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

अन्वयः। [ब्रह्माहमिति नैश्चल्येनावस्थानस्य फलमाह ब्रह्मेति] ब्रह्मभूतः (ब्रह्मण्यवस्थितः) प्रसन्नात्मा (प्रसन्नचित्तः) न (नष्टं) शोचति न च (अप्राप्तं) कांक्षति, सर्वेषु भूतेषु समः सन् परां (उत्तमां ज्ञानलक्षणां चतुर्थीं) मद्भक्तिं (मयि परमेश्वरे भक्तिं भजनं) लभते। [आर्त्तादीनां भक्तानां मध्ये ज्ञानिनः भक्तिरेव परा] ॥ ५४ ॥

अनुवाद। ब्रह्ममें अवस्थित प्रसन्नचित्त मनुष्य (नष्ट द्रव्योंके लिये) शोक नहीं करता, (अप्राप्त वस्तुओंके लिये) आकांक्षा भी नहीं करता, सर्वभूतमें सम होकरके मद्विषयिणी पराभक्ति लाभ करता है ॥ ५४ ॥

व्याख्या। पूर्व पूर्वोक्त प्रकारसे समाधि-साम्य साधनमें जो साधक ब्रह्मसंस्पर्श सुखका अनुभव कर चुका उसे ब्रह्मविद् वा ब्रह्मभूत कहते हैं। 'प्रसन्नात्मा'—प्र= सर्वतोभावसे, सन्न=गमन; जो सर्वतोभावसे आत्मामें गमन कर चुका, अर्थात् आत्मामें अवस्थान कालमें जिसमें

किसी प्रकार मायिक संस्कारका स्फुरण नहीं होता, उसे ही "प्रसन्नात्मा" कहते हैं। इस प्रकार अवस्थापन्न साधकोंका अन्तःकरणमें शोचना अर्थात् चित्तकी क्रिया-शक्ति प्रकाश पाता ही नहीं, तथा आकांक्षा अर्थात् ब्रह्म विना अन्य कोई मायिक द्रव्यकी प्राप्ति लालसा भी नहीं रहती। निस्तरंग स्थितिके लिये विषमताका उदय हो नहीं सकता, सुतरां सर्वभूतका अस्तित्व है कि नहीं इसका बोध न रहनेसे समही सम भासमान रहता है इस कारणसे गुरुवाक्यमें अटल विश्वाससे लब्ध फल जो "मैं ब्रह्म हूं" ज्ञान, उसे ही पाता है। (६ अः ३२ श्लोक, ७ अः १६ श्लोक) ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्
यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा
विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः। भक्त्या (तया च परया भक्त्या) यावान् (सर्वव्यापी) यश्चास्मि (सच्चिदानन्दघनः) तथाभूतं मां तत्त्वतः अभिजानाति; ततः मां (एवं) तत्त्वतः ज्ञात्वा तदनन्तरं (तस्य ज्ञानस्योपरमे सति) मां विशते (परमानन्दरूपो भवतीत्यर्थः) ॥ ५५ ॥

अनुवाद। (उस परा) भक्ति द्वारा मैं जिस प्रकार (सर्वव्यापी)

तथा जिस प्रकार (सच्चिदानन्दघन) हूं उस प्रकारसे मुझको तत्त्वतः अवगत होते हैं, तत्पश्चात् मुझको उस प्रकारसे तत्त्वतः जान कर उस ज्ञानके उपरम होनेके बाद हममें प्रवेश करते हैं ॥ ५५ ॥

व्याख्या। यह जो "मैं" अहं-उपाधिके द्वारा पृथक् पृथक् अनेक "मैं" की सृष्टि किया हूं देखते हो, गुरुवाक्यके ऊपर अटल विश्वाससे क्रिया करते हुए चित्तरूप आकाशको धोते धोते जब वह समस्त पृथक् "मैं" मिट जा करके सर्वोपाधि वर्जित द्वैताद्वैत शून्य एकरस चैतन्यघन अजर, अमर, अनन्त जान कर इस "मैं" के बिना और दूसरे "मैं" का स्थान नहीं है यह समझ करके संशय रहित होंगे, तबही "मामभिजानाति" अर्थात् क्षेत्रज्ञ रूपसे आपही अपनेको देख लेंगे, अन्तःकरणमें विरुद्धवादका स्थान फिर न होगा। जहां जितना जल है उन समस्तको ही समुद्रका जल समझ करके, पृथक् पृथक् आत्माका पृथकत्व स्वीकार नहीं रहेगा। तत्त्व, प्रकृति, माया आदिका भ्रम एकबारगी उड़ जावेगा (जैसे कपूर)। इसीको ही "तत्त्वतोज्ञात्वा" जानना। इसके बाद साधक विस्तार होनेका क्रम लेकर मिल जाने चलते हैं, जैसे दो नौका में पग दिया हूं, एक नौकासे पगको उठा लेनेसे ही तत्क्षणात् एकही नौकाका आश्रय हो जाता है, उसी प्रकार जानना ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययं॥ ५६॥

अन्वयः [स्वकर्मभिः परमेश्वराराधनादुक्तं मोक्षप्रकारं उपसंहरति सर्वकर्माण्येति।] सदा सर्वकर्माणि कुर्वाणः अपि मद्व्यपाश्रयः (अहं वासुदेव ईश्वरो व्यपाश्रयो यस्य सः मय्यर्पितसर्वात्मस्वभाव इत्यर्थः) मत्प्रसादात् शाश्वतं (अनादि) अव्ययं (नित्यं सर्वोत्कृष्ट) पदं अवाप्नोति॥ ५६॥

अनुवाद। सर्वदा सकल प्रकारका कर्म करके भी "मद्व्यपाश्रय" साधक मेरे प्रसादसे शाश्वत अव्यय पदको प्राप्त होते हैं॥ ५६॥

व्याख्या। मैं वासुदेव ब्रह्म, सबका आश्रय हूं; परन्तु आप खुद निराश्रय हूं; ऐसे "मैं" का कार्य्य कर्म भी सब निराश्रय है। इसलिये कहता हूं कि, जितनाही कर्म हो निराश्रय होकर ऐसे अटक रह जा सकने से इस "मैं" की प्रसन्नतासे शाश्वत जो अव्यय पद है, वह अभ्यास द्वारा आपही आप आ जाता है॥ ५६॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ५७॥

अन्वयः। सर्वकर्माणि (दृष्टादृष्टार्थानि) चेतसा (विवेकबुद्ध्या) मयि (ईश्वरे) संन्यस्य (यत्करोषि यदश्नासि इत्युक्तन्यायेन समर्प्य)

मत्परः (अहं वासुदेवः परः प्राप्यः पुरुषार्थो यस्य सः त्वं मत्परः सन्) बुद्धियोगं (व्यवसायात्मिकया बुद्ध्या योगं) उपाश्रित्य सततं (सर्वदा कर्मानुष्ठानकालेऽपि ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः इति न्यायेन) मच्चित्तः भव ॥ ५७ ॥

अनुवाद । तुम विवेकबुद्धि द्वारा सर्व कर्मको "मैं" में अर्पण करके मत्परायण हो कर बुद्धियोगके आश्रय पूर्वक मच्चित्त हो जाओ ॥५७॥

व्याख्या । पहिले १४ श्लोकमें जो बारह करणकी कथा कही हुई है उन करण समूहसे जो कुछ किया जाय, उन सबकाही नाम सर्व कर्म है । उस कर्म समूहको चित्तमें फेंक देनेसे ही नीचेवाला करण और कर्मोंका अभाव हो जाता है । करण और कर्मोंके अभावका नाम ही बुद्धियोग है। बुद्धियोगके पश्चात् चित्त-क्षेत्रमें केवल कर्म समष्टिका संस्कार रहता है । चित्तके द्वारा उस कर्मसंस्कारको "मैं" में फेंकनेसेही कर्मसंस्कार दग्ध हो जाता है । कर्मसंस्कारके दग्ध होने के बाद चित्त "चित्" में अर्थात् "मैं" में पड़ करके "चित्" हो जाता है । इसलिये कहता हूं कि, तुम ऐसी बुद्धियोगका आश्रय करके, सर्व कर्मको चित्तके सहारे से "मैं" में फेंकके नाश करके अविच्छेद रूपसे मच्चित्त हो जाओ ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।
अथचेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥

अन्वयः। मच्चित्तः सन् मत्प्रसादात् सर्वदुर्गाणि (सर्वाण्यपि दुर्गाणि दुस्तराणि सांसारिकदुःखानि) तरिष्यसि; अथचेत् (यदि) त्वं अहंकारात् (पण्डितोऽहमिति ज्ञातृत्वाभिमानात्) न श्रोष्यसि (मदुक्तं न ग्रहिष्यसि) तर्हि विनंक्ष्यसि (पुरुषार्थात् भ्रष्टो भविष्यसि) ॥ ५८ ॥

अनुवाद। मच्चित्त होनेसे मेरे प्रसादसे समुच्चय दुर्गसमूह (दुस्तर सांसारिक दुःख समूह) से तर जाओगे; और यदि तुम अहंकारके वश (हमारी कथा) न सुनोगे, तो विनष्ट होगे ॥ ५८ ॥

व्याख्या। चित्त "मैं" में आकर पड़नेसे ही मेरे प्रसादको पाता है; मेरा प्रसादभुक्त चित्त ही मच्चित्त है। इस अवस्थामें "सर्वदुर्ग" से पार हो जाओगे, अर्थात् अनिर्मल सृष्टिमुखी चित्तमें जिस चिच्छाया को धर रखा था, चित्तकी निर्मलता हेतु वह छाया-धरनेवाला घेरा कट जावेगा। सुतरां संसार बीजका स्पर्शदोष मिट जावेगा, तुम भी मुक्त हो जाओगे, मायासे तर जाओगे। और यदि तुम अहंकारका आश्रय करके यह उपदेश न सुनोगे, ग्रहण न करोगे, तो मरोगे अर्थात् जन्म-मृत्यु भोग करते रहोगे ॥ ५८ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

अन्वयः । अहंकारं आश्रित्य (मदुक्तं अनादृत्य केवलमहंकारमवलम्ब्य) न योत्स्ये (युद्धं न करिष्यामि) इति यत् मन्यसे (चिन्तयसि निश्चयं करोषि) ते व्यवसायः (निश्चयः) मिथ्या एव, (यस्मात्) प्रकृतिः (क्षत्रस्वभावः) त्वां नियोक्ष्यति (युद्धे प्रवर्त्तयिष्यत्येव)॥५९॥

अनुवाद । अहंकारका आश्रय करके "युद्ध न करूंगा" यह जो मनमें धारणा करते हो, तुम्हारा यह व्यवसाय (चेष्टा) निश्चयही मिथ्या (वृथा) है, क्योंकि, प्रकृति तुमको (युद्धमें) अवश्य नियुक्त करेगी ॥ ५९ ॥

व्याख्या । यदि तुम अहंकारका आश्रय करके 'युद्ध (क्रिया) न करूंगा' मनमें यह निश्चय करके बैठ रहो तो, यह तुम्हारा किया न होगा । तुम क्षत्रिय हो, तुम्हारी प्रकृति तुमसे युद्ध (क्रिया) कराये बिना नहीं छोड़ेगी, तुम भी बिना किये रह नहीं सकोगे ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ६०॥

अन्वयः । हे कौन्तेय ! स्वभावजेन (स्वभावः पूर्वकर्मसंस्कारस्तस्माज्जातेन) स्वेन (स्वीयेन) कर्मणा (शौर्य्यादिना) निबद्धः (यन्त्रितः त्वं) मोहात् यत् (कर्म) कर्त्तुं न इच्छसि तत् (कर्म) अवशोऽपि (परवश एव) करिष्यसि ॥ ६० ॥

अनुवाद। हे कौन्तेय! तुम स्वभावज स्वकीय कर्म द्वारा निबद्ध हो, मोहवशतः जिसे करनेकी इच्छा नहीं करते हो, अवश्य उसे करना ही पड़ेगा॥ ६०॥

व्याख्या। जिसका स्वभाव जिस प्रकारका है, वह तदनुयायी कर्म करनेके लिये बाध्य है। अविवेकके मोह में पड़ करके करनेकी इच्छा न रहनेसे भी उसका स्वभाव उसको अवश (वशीभूत) करके करा देता है। अतएव अर्जुन जो युद्ध न करनेकी इच्छा करते हैं, यह मिथ्या है, क्योंकि उनका पूर्व जन्मार्जित क्षत्रियस्वभाव उनको न छोड़ेगा; कर्मफलविधाता ईश्वरकी इच्छासे यथा समयमें वह प्रबल होकरके उनको अवश करके उनकी इच्छाको अभिभूत करके उनको स्वभावज कर्ममें (युद्धमें) नियुक्त करावेहीगा। उसी स्वभावज कर्मको स्व इच्छासे सचेष्ट होकर करनेसे कर्मबन्धन क्षय होता है और अनिच्छासे स्वभावके वशमें अवश होकर करनेसे वह बन्धन और जटिल होता है। इसलिये भगवान पहले ही कहे हैं कि "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः", और एकादश अध्यायमें कहे हैं कि 'निमित्त-मात्रं भव सव्यसाचिन्' (इसकी व्याख्या देखो)।

ऐसे अवश होकर अनभिलषित काज करना किस प्रकारका है उसे क्रियाका एक अभिज्ञताका उदाहरण

देकर कहता हूं जिससे भुक्तभोगी साधक समझ लेंगे। रात्रिमें सोते हुए निद्रा जाना अस्मदादिका आजन्म स्वभाव है। मनमें निश्चय करलिया कि आज सोने न जाऊंगा, सारी रात्रि क्रिया करूंगा। यह ठीक निश्चय करके मन भलीभांति उद्यमसे क्रिया करने लग गया। बहुत क्षणके बाद क्रियामें आपही आप एक प्रकारकी ढिलाई पड़ती है, मनका उद्यम भी तब थोड़ा कम हो जाता है। उस समय स्वभाव मनके भीतर उदय होता है, मनको कैसे आच्छन्न कर फेंकता है, मन अभिभूत होजाता है तब वह मनको युक्ति देता रहता है कि 'यह तो मारदिया गया, क्रिया करनेसेही तो सारी रात क्रिया जासकता है, क्रिया सारी रातही करनी होगी, सोना तो है नहीं, पर बहुत क्षण क्रिया की गई, अब दो चार क्षणके लिये थोड़ा लम्बे पड़के शरीरकी जड़ताको नष्ट करलेनेसे अच्छा होगा, दो एक मिनटके बादही उठ करके पुनः क्रियाका प्रारम्भ किया जावेगा"। स्वभाव की यह सलाह और युक्ति क्षणभरके भीतरही तब मनमें अकाट्य होता है। किस प्रकार अकाट्य होता है इसे जो भोग चुके हैं वही समझेंगे। उसी युक्तिके अनुसार ज्योंही एक क्षणके लिये लम्बे पड़के करवट लिया, बस त्योंही सब कर्म नष्ट होगया, स्वभावका जै जैकार होगया,

प्रगाढ़ निद्रामें एक बारगी प्रभात होगया। सब मिट्टी! निद्रासे उठनेके पश्चात् अनुशोचना होती है कि 'हाय, हाय, क्यों सोगये थे!' इसलिये 'युक्तस्वप्नावबोध' होनेका विधान है। सोना अवश्य होगा, इसलिये इच्छा पूर्वक सोकर निद्रा लेलो, तत्पश्चात् उठो, उठकर क्रिया करो; ऐसा करनेसेही क्रम अनुसार निद्रा जय होगी; नहीं तो एकबारगी निद्रा नहीं लेऊंगा, यह कहनेसे ही स्वभाव क्योंकर छूटेगा। वह अवश्य अपने वशमें लाके निद्रामें डाल देगा, उसमें उतना परिश्रम सब व्यर्थ होगा और अनुशोचना भोग करनी पड़ेगी। इसलिये भगवान अर्जुनको बार बार कहते हैं कि "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" अर्थात् स्वभावज कर्मके अनुष्ठान द्वारा ईश्वरकी अर्चना करनेसे सिद्धिलाभ होती है, क्रम अनुसार स्वभाव अतिक्रम हो जाता है, स्ववश हुआ जाता है। इसलिये भगवान अर्जुनको इस श्लोकमें कहते हैं कि "तुम अभी तक स्वभावज कर्ममें निबद्ध रहे हो, स्वभावको अतिक्रम कर नहीं सके, अतएव स्वाभाविक कर्म करनेकी इच्छा न करनेसे भी स्वभाव तुमसे उसे करावेहीगा। अतएव स्वभावके वशमें रहकर "असक्तबुद्धिः सर्वत्र" हो करके क्रिया करते चलो, स्वभाव आपही आप बदल जावेगा॥ ६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया ॥६१॥

अन्वयः। हे अर्जुन! ईश्वरः (अन्तर्यामी नारायणः) मायया (निजशक्त्या) सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि इव (इव शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः यथा दारुयन्त्रमारूढ़ानि कृत्रिमाणि भूतानि सूत्रधारो लोके भ्रामयति तद्वत्) भ्रामयन् (तत्तत्कर्मसु प्रवर्त्तयन्) सर्वभूतानां हृद्देशे (हृदयमध्ये) तिष्ठति, यद्वा यन्त्रारूढ़ानि (यन्त्राणि शरीराणि आरूढ़ानि अधिष्ठितानि) सर्वभूतानि (देहाभिमानिनो जीवान्) भ्रामयन् सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठतीत्यर्थः॥ ६१॥

अनुवाद। हे अर्जुन! ईश्वर माया द्वारा सर्वभूतको यन्त्रारूढ़वत् भ्रमण कराकर सर्वभूतोंके हृद्देशमें अवस्थान कर रहे हैं। (अथवा, ईश्वर शरीररूप यन्त्राधिष्ठित भूत समुदायको अर्थात् देहाभिमानी जीव समूहको माया द्वारा भ्रमण कराकर सर्वभूतोंके हृदय मध्यमें अवस्थान करते हैं)॥ ६१॥

व्याख्या। भगवान पूर्व दो श्लोकमें सांख्यादि मत अनुसार जीवकी प्रकृतिपरतन्त्रता तथा स्वभावपरतन्त्रताकी कथा कह चुके हैं। अब इस श्लोकमें स्वमत प्रकाश करते हैं। कहते हैं कि, सर्वभूतही ईश्वर परतन्त्र है; ईश्वर सर्वभूतोंके हृदयमें अवस्थान करके माया द्वारा सर्वभूतोंको घुमाते हैं। ५९, ६०, ६१ श्लोकमें भगवानके वचनका भावार्थ इस प्रकार है।—"हे

अर्जुन ! तुम तो पहिले प्रकृतिके वशीभूत हो अर्थात् पूर्वकृत कर्मफलसे जिस प्रकार धातुसे तथा जिस प्रकार सांचेमें तुम्हारा देह, मन गढ़ा हुआ है, कार्यकालमें उसी प्रकार भावकी क्रिया करने के लिये तो तुम बाध्य हो; परन्तु उसे छोड़ कर दूसरे आजन्म अभ्यास के द्वारा शरीर-मनको जिस प्रकार कर्ममें अभ्यस्त किये हो, उस अभ्यस्त स्वभावज कर्मको छोड़ कर दूसरा कर्म करना अब तुम्हें असम्भव है, क्योंकि तुम उसीमें निवद्ध हो, इच्छा न करनेसे भी अवश हो करके उसे तुमको करना ही पड़ेगा। इस प्रकृति तथा स्वभावज कर्म द्वारा जीव तो निबद्ध ही है; परन्तु उसे छोड़ कर वही कर्मफलविधाता ईश्वर—वही इच्छामय—जिसकी इच्छाशक्ति वा मायासे ही इस जगत्की सब कुछ क्रिया चल रही है—जिससे ही भूतगणोंकी प्रवृत्ति और जिसके द्वारा यह समुदय व्याप्त है वह—वही सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापी पुरुष सर्व हृदयमें—ब्रह्मादि स्थावरान्त पर्यन्त समुदय मायिकोंमें कार्यप्रवृत्ति-रूपसे अवस्थित रह करके स्थावर जंगम समुदायको स्व स्व कर्ममें नियुक्त करता है। यह कार्यप्रवृत्ति ही उसकी माया है। उसकी मायाके हाथसे परित्राण किसका है ? वह माया दुरत्यया है उसके वशमें कार्य करना ही पड़ेगा।

अतएव तुम्हारा और किसी तरहसे भी निस्तार नहीं है, इस प्राकृतिक स्वभावज कर्मको विना किये रह नहीं सकते। अतएव (परश्लोकमें कहते हैं) तुम "तमेव शरणं गच्छ" उसका आश्रय करो, एकमात्र उसीके प्रसादसे तुम पराशान्ति पाओगे। अपनी इच्छासे "श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके" यह कह कर कर्मान्तरमें जानेसे शान्ति नहीं पाओगे।

साधक! अब एकबार निज साधनके प्रति लक्ष्य करो। तुम्हारे साधन मार्गमें मूलाधारादि पाँच चक्रमें क्षिति, अप, तेज, मरुत्, व्योम इन पाँच भूतोंमें ही तुम विचरण करते हो। यही सब सर्वभूत हैं। ईश्वर परमात्मा वा परमेश्वर इन सर्वभूतोंके हृदेशमें अर्थात् सब चक्रोंके ठीक केन्द्रस्थलमें अवस्थित है। मूलाधारादि चक्रपञ्चकके भीतर, सुषुम्ना-वज्रा-चित्राके भीतर जो ब्रह्माकाश है, जिसको ब्रह्मनाड़ी कहा जाता है, वही सर्वभूतोंके भीतर ब्रह्मका स्वरूप विकाश है, वही ईश्वर है, उसीकी ईशनशीलतासे वा शासनसे, उसीके आश्रयसे वा उसके अस्तित्व हेतु पञ्चतत्त्व स्व स्व धर्म अनुसार कर्म करते हैं। सुतरां क्षिति, अप प्रभृति पाँच स्थानके चक्रका ही केन्द्रस्थल कूटस्थ है; किन्तु सब कूटस्थ ही समसूत्र हो करके, आज्ञा चक्रके केन्द्रके साथ युक्त रहनेके कारण तथा आज्ञाके नीचे मोहिनी प्रकृतिका आकर्षण

अधिक होनेसे उस आज्ञाचक्रमें ही लक्ष्य स्थिर करनेकी आज्ञा है, इसलिये कुटस्थ कहनेसे आज्ञाचक्रके केन्द्रस्थल कोही समझाता है। उस आज्ञास्थित कूटस्थको लक्ष्य करके सर्वभूतोंके हृदेशसे अर्थात् ब्रह्मनाड़ीके भीतरसे मनका आवागमन विधान मतमें क्रिया कर सकनेसे ही "सर्व-भावसे उसकी शरण लेना" होता है।

"ईश्वर माया द्वारा घुमाते हैं", यह जो कहा हुआ है, यह ईश्वर कौन है? और माया भी कौन है? महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः" अर्थात् अविद्यादि पञ्चक्लेश, धर्माधर्म रूप कर्म, कर्म-फलरूप विपाक, और चित्तस्थित फलानुकूल संस्कार (आशय) जिसको स्पर्श नहीं कर सकते, वही विशेष पुरुष ही ईश्वर है। साधक! यह अविद्यादि पञ्चक्लेश प्रभृति कैसी है उसे समझ लो।—

(१) अविद्या।—जो जैसा नहीं है, उसको वैसा समझाकर जो स्थिर विश्वास करा देती है, वह अविद्या है; जैसे यह जगत् अनित्य है। जो जाता है, जिसमें परिवर्त्तन होता है, वही अनित्य है। तुम्हारा यह शरीर उस शैशव अवस्थासे बदलते बदलते बुढ़ापेमें आचुका यही परिणाम है। और तुम्हारा वह शिशु, बाल, पौगण्ड, किशोर, योवन, प्रौढ़ अवस्था समूहजो मरगये (और वे फिर न आवेंगे),

तथापि तुम सोचते हो 'मैं बड़ा होता हूं, मैं जैसे अमर हूं'। इस भ्रान्ति ज्ञान वा मिथ्या ज्ञानको अविद्या कहते हैं।

(२) अस्मिता।—दो अत्यन्त भिन्न द्रव्यको जिस अज्ञानतासे एक अभिन्न करके समझा देती है, उसीको अस्मिता कहते हैं। जैसे पुरुष—चैतन्य, भोक्ता है, और बुद्धिसत्त्व—जड़, भोग्य है; ये दोनों अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं तथापि इन दोनोंका अभिन्न एक ज्ञान जो करा देती है, वही अस्मिता है। यह अस्मिताही हृदयग्रन्थि है; जिससे "मैं" और "मेरे" इन दोनों अत्यन्त भिन्न पदार्थों को मोहवशसे अभिन्न एक समझाकर रखती है।

(३) राग।—कभी किसी स्थानमें मैंने मिठाई खा कर सुख पाया है, पुनः उसी मिठाई खानेकी तृप्तिको पानेके लिये जो कामना है, वही राग है, अर्थात् विषय-भोगके प्रति अनुराग वा आकांक्षा।

(४) द्वेष।—एक वार एक कष्ट भोगनेके बाद जबही वह कष्ट मनमें उदय होगा तत्क्षणात् उसपर जो विरक्ति भाव आता है, अर्थात् फिर कभी उसे भोगनेमें न आवे, ऐसी जो वृत्तिका उदय होता है, उसीका नाम द्वेष है।

(५) अभिनिवेश। पूर्व पूर्व जन्ममें मैं मर चुका था, उस समय मरणका महा कष्ट भोग किया था, वही संस्कार चित्त में छा रहा है इसकारण अगर कोई मुझे मरने

कहे तो उस पूर्व कष्ट भोग की जो अस्फुट स्मृति मनमें भय का सञ्चार कराती है, उसीको अभिनिवेश कहते हैं। यह पाँच क्लेश हैं।

धर्म और अधर्म नामक क्रिया को कर्म कहते हैं। (८म अध्यायमें कर्मकी व्याख्या देखो)। कर्मफलका नाम विपाक है। चित्तमें जो कर्मजात फल अंकित रहता है, उसीको आशय वा संस्कार कहते हैं।

यह सब जिनको स्पर्श नहीं कर सकते ऐसे निर्लिप्त जो हैं उसी पुरुष विशेषको ईश्वर कहते हैं। वह सगुण है, परन्तु गुणक्रिया के साथ लिप्त नहीं है; उसमें यही विशेषता है। वह सच्चिदानन्द स्वरूप है।

माया क्या है, यही समझाने की चेष्टा अब की जाती है।—ईश्वर इच्छामय है; उसकी इच्छाशक्ति का नाम माया है। इसलिये माया भी इच्छामयी है। यह इच्छाशक्ति वा माया अव्यक्त है; इसका स्वरूप कह करके प्रकाश किया नहीं जा सकता; कारण कि जो कुछ कहा जावेगा वही नास्ति हो जावेगा, कुछ भी समझा नहीं जावेगा। "मा"-नास्ति वाचक शब्द है, "या"-अस्ति वाचक शब्द; इन दोनों अर्थके मिलनसे जो होता है, वही माया है, अर्थात् निर्णयके अतीत पदार्थ।

मायाका स्वरूप समझा नहीं जा सकता, क्योंकि वह

अव्यक्त है। तथापि कार्य देख कर जिस प्रकार अनुमान किया जा सकता है, ऋषिगण तद्रूप मायाके स्वरूपबोधक थोड़ासा कार्यात्मक नाम दिये हैं; जैसे--"सा माया पालिनी शक्तिः सृष्टिसंहारकारिणी", "अघटनघटन-पटीयसी", "सा माहेश्वरी शक्तिः ज्ञानरूपातिलालसा, व्योमसंज्ञा पराकाष्ठा" इत्यादि। जैसे तेज वा उष्णत्व पदार्थ अव्यक्त है, उसके स्वरूपका किसी प्रकार वर्णना की नहीं जा सकती तथापि देखने में आता है कि अव्यक्त तेज वा उष्णत्व घनीभूत होनेसे ही व्यक्त हो करके अग्नि होती है, दाहशक्ति-सम्पन्न होती है, और उष्णत्वके संयोगसे पदार्थमें वेग उत्पन्न होता है, तरल पदार्थके आणविक आकर्षणके दूर होनेसे मूल उपादान समूह परस्पर पृथक् हो जाते हैं, और सकल पदार्थ ही उत्तप्त होता है इत्यादि, इस प्रकार की क्रिया द्वारा ही तेजका स्वरूप जितना होसके उतना समझा जाता है, माया सम्बन्धमें भी उसी तरह है, कार्य द्वारा कारणका स्वरूप निरूपण किया जाता है। इसीसे समझा जाता है कि, माया त्रिगुणमयी है अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति, और लय इन तीन क्रियाशक्ति स्वरूपा है। मायाकी क्रियाशील अवस्था ही प्रकृति है।

यह माया जब ब्रह्ममें मिलकर निष्क्रिय अवस्थामें

रहती है, तब माया ब्राह्मीशक्ति है। अन्नशब्दमें ब्रह्म, परिपूर्ण है; उस परिपूर्णकी आश्रयीभूता शक्ति भी परिपूर्णा कह करके 'अन्नपूर्णा' नामक है। निष्क्रियावस्थामें शक्तिका प्रकाश नहीं है, इसलिये माया भी तब विभू (सर्वमूर्त्त संयोगिनी) होती है। ज्योंही माया सृष्टिमुखी वृत्ति लेती है तत्क्षणात् उसकी शक्ति (प्रसूति) नाम पड़ता है। शक्ति जहां है कार्य भी वहीं है। ज्योंही कार्य का प्रारम्भ हुआ तत्क्षणात् उसका नाम प्रकृति हुआ। प्रकृतिने १,२,३,४,५,६,७,८,९ को प्रसव किया। यह समस्तही पृथक्, खण्ड, नानाभाव है। इस नानात्व का विराम वा अपलाप ही प्रलय, ग्रास वा शून्य (०) है। प्रसव अर्थात् सृष्टि व्यक्त है और ग्रास अर्थात् प्रलय अव्यक्त है। इन दोनोंका नाम जन्म और मृत्यु है। जिन्होंने जन्म लिये वेही सब सर्व (जो हैं) हुए; और जो सब मरगये वे सब भूत (जो गये हैं) हुए। (सर्वोंकी अव्यक्त अवस्थाही भूत, और भूतोंकी व्यक्त अवस्थाही सर्व है)। अज्ञानीकी दृष्टिमें यह परिवर्तन दृश्य होनेसे भी ज्ञानी के चक्षुमें मूलतः एक ब्रह्मही ब्रह्म भासमान विस्तारता है।

वह निर्लिप्त ईश्वर गुणमयी मायाके (मिथ्याके) साथ मिलकरके (सगुण ब्रह्म बन करके) मायाके द्वारा उस सर्व-भूतोंके हृदयमें (ठीक बीचमें) रहकर,

उन सबको जन्म-मृत्युरूप कालचक्रके अधीन बनाकर भ्रमण करवाते हैं ।

वह इच्छामय ईश्वरने इच्छाप्रभावसे विश्व ब्रह्माण्डको सृजन किया है अर्थात् वह स्वयं इस विश्वाकार को धारण किया है । जैसे एकमात्र बीजसे एक वृक्ष उत्पन्न होता है और फिर उसी वृक्षसे हजारों बीज उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार एक ईश्वरसे उत्पन्न इस विश्ववृक्षसे असंख्य जीव उत्पन्न हुए हैं । विश्वबीज ईश्वर है, विश्व माया-विकार है, और विश्वजात बीज जीव है । एकमात्र इच्छा-बीजसेही हजारों इच्छाबीज उत्पन्न होते हैं, सुतरां ईश्वर जैसे इच्छामय है, जीव भी उसी तरह इच्छामय है । प्रभेद यह है कि ईश्वर उस इच्छाशक्ति के आश्रय और जीव उस इच्छाशक्तिका आश्रित है— मायागर्भसे आवृत है । माया लालसा-स्वरूपिणी, कर्म-स्वरूपिणी तथा ज्ञान-स्वरूपिणी है; संक्षेपमें कहा जाता है कि माया लालसा-कर्म-ज्ञानमयी है । माया विकृत होकर चौबीस तत्त्वात्मिका प्रकृतिरूप धरके विश्वसाज में सजने से इस लालसा-कर्म-ज्ञानका प्रवाह चलता रहता है । उस लालसासे कर्म, कर्मफल और कर्मसंस्कार तथा प्राकृतिक विकृत ज्ञान वा पञ्चक्लेश उत्पन्न होते हैं; अर्थात् पतञ्जलिका क्लेश, कर्म, विपाक और आशय उत्पन्न होते

हैं। लालसा के प्रभाव से यह जो असंख्य बीजस्वरूप जीव उत्पन्न होते हैं वे सब क्लेश, कर्म, विपाक और आशय द्वारा मण्डित हैं, और ईश्वर उन सबसे अस्पृष्ट है।

ईश्वरकी दो अवस्थाएं हैं, सगुण और निर्गुण। निर्गुण अवस्थाका नाम ब्रह्म है, तब माया वा इच्छाशक्ति प्रलीन रहती है, जैसे दूधमें मक्खन, अर्थात् निश्चेष्ट अवस्था। सगुण अवस्था सचेष्ट अवस्था है, तब माया का विकाश होता है; सगुण अवस्थाही ईश्वर है। माया विकाश हो करके विकृत होती है; वह माया-विकार ही २४ तत्त्व और क्लेश-कर्म-विपाक-आशय रूपमें परिणत होता है। माया-विकार द्वारा ईश्वर असंस्पृष्ट है। सगुण अवस्थामें ईश्वर माया-विकाश सहयोगसे माया-विकारोत्पन्न कर्मका फल-विधाता है; वह ईश्वर खुद आप निर्विकार और अव्यय है। जीव ईश्वरकी इच्छासे ही उत्पन्न हुए हैं, सुतरां इच्छामय हैं; उनमें भी स्वतन्त्र स्वाधीन इच्छा बलवती है। जीव अपने स्वतन्त्र स्वाधीन इच्छाको परिचालन करनेके लिये जिस प्रकार कर्मके सम्पर्कमें आ पड़ता है तदनुरूप फल भोग करता है; उस फलका विधान वह ईश्वर सर्वव्यापी तथा सर्वान्तर्यामी रूपमें अवस्थित होकरके ही करता है। अर्थात् जीव अपनी इच्छा

से चल करके भी ईश्वरकी इच्छा वा माया द्वारा अवश हो कर कृतकर्मका फल भोगनेमें बाध्य होता है। जब तक जीव अपनी स्वाधीन इच्छासे विषय-मार्ग पर चलेगा, तब तक उसका कर्म सृष्टि होता ही रहेगा और उन कर्मोंका फल उसको भोगना ही पड़ेगा। यदि जीव स्वतन्त्रभावको त्याग करके अपनी स्वाधीन इच्छा और लालसाका स्रोत उलटा घुमा कर उस ईश्वरको लक्ष्य करे, उनकी शरण ले, तो उस शरण लेनारूप कर्मफल से ईश्वरका प्रसाद पावेगा, वह भी ईश्वर-भाव-प्राप्त हो कर प्रकृतिवशी होवेगा स्वामीपद प्राप्त होगा और वह क्लेश-कर्म-विपाक-आशयसे असंस्पृष्ट रहेगा। वही शान्ति अवस्था—मुक्ति अवस्था है। इसलिये भगवान परश्लोक में अर्जुनको कहते हैं "तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत"। * ॥ ६१ ॥

---

* बहुतेरे लोग कहते है कि "ईश्वर जो कराते हैं वही मैं करता हूं, फिर पाप पुण्य क्या! मैं कुछ भी नहीं, ईश्वर ही सब है"। एक पक्षसे यह बात अच्छी है, भक्तिके लक्षण प्रकाश करता है, परन्तु पक्षान्तरमें अज्ञानताका परिचय देता है। सृष्टि क्यों हुई, ईश्वरका सृष्टि करनेका उद्देश्य क्या है, पाप पुण्य कर्म-विभाग क्यों हुया? इत्यादि प्रकारके "क्या" और "क्यों" लेकर अब तर्क उठानेका प्रयोजन नहीं है। ईश्वर जो कराते हैं मैं वही सब करता हूं, ऐसा कि वह अस्मदादिके चिन्तास्रोत पर्यन्त चलाते हैं,—यह कथा सम्पूर्ण ठीक नहीं है। कारण जीव तो स्वयम्भू

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

अन्वयः। हे भारत! सर्वभावेन (सर्वात्मना) तं (ईश्वरं) एव शरणं (आश्रयं) गच्छ (आश्रय), तत्प्रसादात् (ईश्वरानुग्रहात्) परां शान्तिं (उत्तमामुपरतिं) शाश्वतं (नित्यं) स्थानं च (परमेश्वरं मम विष्णोः परमं पदं) प्राप्स्यसि ॥ ६२ ॥

अनुवाद। हे भारत! सर्वतोभावसे उनका ही आश्रय ग्रहण करो उनके अनुग्रहसे पराशान्ति और नित्य स्थानको प्राप्त होगे ॥ ६२ ॥

व्याख्या। हे भारत! (भा=दीप्ति, रत) हे चक्षुष्मान्! तुम उन सर्वोंके साथ जब जिस अवस्थामें जितना व्यवहार करोगे उन समस्त को ही सगुणा ऐशी-शक्ति प्रकृति, प्रकृति-विकृति, और विकारका कार्य यह

नहीं है कि ऐश्वरिक भाव वा गुण उसमें कुछ न रहेगा; जीवकी सत्ता ईश्वरसे पृथक् नहीं है; वेदान्त कहते हैं "जीवः ब्रह्मैव केवलं"; कारणसे कार्य रूपमें ही जीवकी सृष्टि होती है। जगत्में देखा जाता है कि एक-जातीय बीजसे भिन्नजातीय बीज उत्पन्न नहीं होता; धान्यसे धान्य, यवसे यव, उसी तरह पशु बीजसे पशु, मनुष्य बीजसे मनुष्य, इस प्रकार होता ही चला आया है। कारणके साथ कार्यका सादृश्य सर्वदा ही रहता है। सर्व जीवमें ही देखा जाता है कि, प्रत्येक जीव ही जैसे स्वाधीन भावमें रहनेको और स्वाधीन भावमें कार्य करनेको इच्छुक है। यह स्वाधीन होनेकी इच्छा कहांसे आई? यहां ही कार्यके साथ कारण का सादृश्य समझना होगा। कारण है सृष्टिकर्त्ता ईश्वर, वह प्रकृति-

निश्चय करके उन सबके साथ न मिल करके अनुलोमसे हृदयस्थ ब्रह्ममार्गको आश्रय कर आज्ञामें कूटस्थ चैतन्य ईश्वरमें मिलनेके लिये अग्रसर हो जाओ। जब तुम्हारा

वशी, स्वाधीन है, उसकी वह स्वाधीन वृत्ति ही कार्यरूपसे विस्तार होते होते प्रकृतिगर्भके जीवमें संजात हुई है। प्रकृतिगर्भ है कर्म-राज्य। इस कर्मराज्यमें जीव क्लेश-कर्म-विपाक-आशयसे आवृत रहने से कर्म किये बिना रह नहीं सकता, उस स्वाधीन इच्छावृत्तिके परिचालनसे ही कर्म करता है, ईश्वर उसी कर्मफलमें उसको आबद्ध करके फलभोग करवाते हैं। इस स्वाधीन वृत्तिके रहनेसे ही भगवान अर्जुनको उपदेश करते हैं कि "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" अर्थात् ईश्वरकी विधानमतामें स्वकर्म (कृतकर्म फलको) भोग करते करते स्वाधीन इच्छा परिचालनसे विचारबुद्धिका अवलम्बनसे "उसकी" अर्चना करनी होती है, इस प्रकार करनेसे ही सिद्धिलाभ होगा अर्थात् पतञ्जलि उक्त क्लेश, कर्म, विपाक और आशयरूप आवरण भेदसे स्वाधीन अवस्था—मुक्त अवस्थाकी प्राप्ति होगी। यदि ऐसा होता कि, जीवकी स्वाधीन इच्छावृत्ति नहीं है, वह (जीव) सर्वतोभावमें पुतलियों सदृश ईश्वरके हाथका खिलौना है, तो भगवान वह उपदेश न देते। वह आपही करवा लेते। ऐसा नहीं है। और ईश्वर तो निर्विकार है उसका अपना, पराया, भला, बुरा बोध तो है नहीं, वह सगुण अवस्थामें कर्मरूपी और कर्मफलविधाता है, उसी फलविधाता रूपसे ही वह कर्मफल भोग कराके ही जीवको नचाता है। अज्ञजीव जितने दिन इस नाचनेको नहीं समझ सकते उतने दिन तक नाचते रहते हैं, तत्पश्चात् ज्ञान होनेके बाद समझ लेनेसे ही उसको पकड़ लेते हैं। उसको पकड़नेका फल करके उस नाचनेसे—भवघोरमें चक्कर खानेसे निष्कृति पाते हैं, शान्ति लाभ करते हैं॥ ६१॥

यह अभ्यास घन से घनतम हो जावेगा, तब शाश्वत (अव्यय) पदमें जो पराशान्ति "ब्राह्मीस्थिति" है, उसे तुम पाओगे।

इस श्लोकके इस "शरणं गच्छ" और ६३ श्लोक के "यथेच्छसि तथा कुरु" इस वाक्यद्वयसे भगवान् अच्छी तरह समझा देते हैं कि, जीव प्रकृतिपरतन्त्र, स्वभावपरतन्त्र और ईश्वरपरतन्त्र, होनेसे भी इच्छा विषयमें उसको स्वातन्त्र्य है। इसलिये अर्जुनको "तमेव" पद द्वारा "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते," "मामेकं शरणं व्रज" इत्यादि वचनोंके "मां" को लक्ष्य कराते हुए, "गच्छ" "कुरु" प्रभृति सामर्थ्य-सूचक क्रिया द्वारा पुरुषकार अवलम्बन करनेका उपदेश दे दिये हैं॥ ६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥

अन्वयः। इति (अनेन प्रकारेण) ते (तुभ्यं) मया (सर्वज्ञेनेश्वरेण) गुह्यात् (गोप्यात्) गुह्यतरं (अतिशयेन गुह्यं रहस्यमित्यर्थः) ज्ञानं आख्यातं (उपदिष्टं), एतत् (मयोपदिष्टं गीताशास्त्रं) अशेषेण विमृश्य (पर्यालोच्य) यथा इच्छसि तथा कुरु। (एतस्मिन् पर्यालोचिते सति तव मोह निवर्त्तिष्यत इति भावः)॥ ६३॥

अनुवाद। तुमको मैंने यह गुह्यसे भी अतिशय गुह्य ज्ञानका उपदेश

किया; इसकी अशेष रूपसे पर्यालोचना करके जिस प्रकार इच्छा हो उसी प्रकार करो ॥ ६३ ॥

व्याख्या। जीव की प्रकृतिपारतन्त्र्य, स्वभाव-पारतन्त्र्य, ईश्वरपारतन्त्र्य और स्वातन्त्र्य सम्बन्धमें जो कहा गया, वह अति गोपनीय ज्ञान है, कारण यह है कि कार्य करके तदवस्था प्राप्त न होनेसे इसका स्वरूप उपलब्धि नहीं होता; मुख की वाणी से समझना (समझ लिया है ऐसा समझना) कल्पना में ही रह जाता है, उससे काम नहीं चलता। इसलिये भगवान कहते हैं— "यह जो गोपनीयसे अतिशय गोपनीय ज्ञान (चित्तक्षेत्रसे भी ऊपरकी कथा) मैं तुमको कह चुका, बार बार इसकी आलोचना करके सिद्धान्तमें उपनीत होनेसे तुम्हारी जिस इच्छाका उदय होगा (इच्छाका उदय होगा ही नहीं), तुम वही करो।" अर्थात् आज्ञाके ऊपर उठकर के यह जीव, ईश्वर और और माया विषयक ज्ञानकी आलोचना करके चरम सीमामें पहुंचनेसे ही आत्मज्ञान-प्रभावसे देखने पाओगे कि, जितने दिन इच्छाप्रवाह प्राकृतिक विषयमें दौड़ता है, उतने दिन अज्ञानता हेतु कर्मबन्धनमें चक्कर खानाही होता है; परन्तु उस इच्छा प्रवाहको प्रकृतिके आश्रय ईश्वरमें फेंकनेसे भोग-द्वारा कर्मसमूह क्षयको प्राप्त होते हैं, और बन्धन नहीं

रहता, शान्तिमय ईश्वरभाव वा मुक्तावस्थाकी प्राप्ति होती है। आलोचनाके फलसे यह ज्ञान प्रत्यक्ष होते मात्र इच्छाप्रवाह उस ईश्वरमें अर्पित होता है; तब "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" इस वचनानुरूप इच्छा बिना दूसरे किसी प्रकारकी इच्छा करनी ही होती नहीं। प्रत्यक्ष देख करके पुनः इच्छा करके बन्धनकी प्रार्थना कौन करे! इसलिये भगवान कहते हैं "अशेष आलोचनाके बाद तुम जिस प्रकार इच्छा करोगे उसी प्रकार करना" ॥ ६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढ़मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

अन्वयः। भूयः मे सर्वगुह्यतमं (परमं) वचः शृणु, (त्वं) मे दृढं (अत्यन्तं) इष्टः (प्रियः) असि इति ततः (तेन कारणेन) ते (तव) हितं (परं ज्ञानप्राप्तिसाधनं) वक्ष्यामि (कथयिष्यामि) ॥६४॥

अनुवाद। पुनराय हमारा सर्वगुह्यतम परम वाक्य श्रवण करो; तुम हमारे अतिशय प्रिय हुए हो, इसीलिये तुम्हारा हित कहता हूं ॥६४॥

व्याख्या। भगवानके पास कोई प्रिय भी नहीं, अप्रिय भी नहीं। भगवान कर्मफल-विधाता है; जिसका जैसा कर्म उसको वैसा फल देता है। और उसको जिस भावसे जो ग्रहण करता है वह भी उसको उसी भावसे ही ग्रहण करता

हैं—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"। अर्जुन भगवानको अत्यन्त प्यारकर चुके, इसलिये भगवान भी उसको अत्यन्त प्यार करते हैं। प्यार रूप कर्मके फलसे प्यार को देते हैं, "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" बोल करके शिष्यत्व स्वीकार करके अकपट आत्म-समर्पण करनेके फलसे परमहितका उपदेश करते हैं। अति गभीर गीताशास्त्रका अशेष रूपसे पर्यालोचना करनेमें कदापि अर्जुन असमर्थ हो जायं, इसलिये कृपा करके भगवान आपही आप उसका सार संग्रह करके परवर्त्ती दोनों श्लोकमें कहते हैं। इस श्लोकका भावार्थ यह है:—सब गोपनसे भी अतिशय गोपन जो 'मैं' का रहस्य है, 'मेरे' शब्दका अर्थ पोषण करे ऐसे किसीके साथ छुया छूत रहनेसे जिसका प्रकाश नहीं होता, (प्राकृतिक किसी पदार्थ के साथ थोड़ासा भी संस्रव रखनेसे जो खिलता नहीं गोपन रहता है, वही गुह्यतम है) ऐसा श्रेष्ठ संवाद पुनः मैं तुमको तुम्हारे हितके लिये कहता हूं; क्योंकि एतावत् काल तक तुम 'मैं' की इष्ट साधनामें अटल स्थिर रहने से 'मैं' के अति प्रिय हुए हो। (१२ अः १३ से २० श्लोक तक देखो) ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

अन्वयः। मन्मना (मच्चित्तः) भव, मद्भक्तः (मद्भजनशीलः) भव, मद्याजी (मद्यजनशीलः) भव, मां नमस्कुरु, मां एव एष्यसि (प्राप्स्यसि); (त्वं) मे प्रियः असि, (अतः) ते (तुभ्यमहं) सत्यं (यथा भवत्येवं) प्रतिजाने (प्रतिज्ञां करोमि) ॥ ६५ ॥

अनुवाद। मन्मना हो जाओ, भद्भक्त हो जाओ, मद्याजी हो जाओ, मुझको नमस्कार करो। ऐसा करनेसे मुझको ही प्राप्त होगे, तुम हमारे प्रिय हुए हो, (इसलिये) तुमको मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूं ॥६५॥

व्याख्या। भगवान अभी कुछ देर पहले कहे हैं कि "तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" अतएव "तमेव शरणं गच्छ"; अब कहते हैं "मन्मना भव" इत्यादि। इससे भगवान यह समझाते हैं कि, "वह 'तं,' जिसे ईश्वर कहा हूं—जिससे भूतगणों की प्रवृत्ति,—जिससे यह समस्त व्याप्त, वही 'तं' ही यह 'मां'; वही मैं—'सोऽहं' हूं।" यह 'सोऽहं' ज्ञान सर्वगुह्यतम है। किसी से भी यह ज्ञान समझाया नहीं जा सकता। उस अवस्थाको प्राप्त न होनेसे इसको समझा नहीं जाता; यह निजबोधरूप है। निजबोध ज्ञानही गुह्य है, क्योंकि भाषामें व्यक्त होनेका विषय नहीं है। निजबोधरूप ज्ञान जितने हैं उनके भीतर पुनः यह सबसे गुह्यतम है, क्योंकि यही है चरम= सबसे ऊपर; इसके बादही अहं मिट जाता है, फिर बोध्य बोधन नहीं रहता।

बातही बातमें 'सोऽहं' ज्ञान उपदेश करके सर्व-गीतार्थ सारभूत उसी ज्ञानप्राप्तिसाधनका सारसंग्रह करके इस श्लोकमें प्रकाश कर दिये हैं। दिखाते हैं कि इस साधन के पर पर चार क्रम हैं। प्रथम, "मन्मना भव"—'मैं' में अर्थात् कूटस्थ चैतन्यमें मनः संयोग करो। द्वितीय, "मद्भक्तः भव"—मेरे भक्त हो जाओ, एकमात्र "मैं" में अनुरक्त हो जाओ, अर्थात् "मैं" में मन संयोग करनेके बाद "मनः यतः यतः निश्चरति ततस्ततः नियम्यैतत् आत्मनि एव" वश करलो, मनके अनुराग आसक्तिको एकमात्र कूटस्थमें फेंको, दूसरे किसीमें मन न देना। तृतीय, "मद्याजी भव"—मन्त्र सहयोगसे मेरी पूजा करो, अर्थात् मेरा जो मन्त्र प्रणव है, वही प्रणव उच्चारण करो, उसके साथही साथ आत्मा-मन-प्राणको मैं" में आहूति देदो। तत्पश्चात् चतुर्थ "मां नमस्कुरु"—"मैं" को नमस्कार करो, कर शिरः संयोग पूर्वक "मैं" के सम्मुखमें नत होजाओ अर्थात् पूर्वोक्त तीनक्रमके बाद "मैं" के समीपस्थ तथा समपदस्थ हो करके "मैं" में स्थिर नेत्रसे ताकते रहके क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिको युक्त करो—निश्चेष्ट करो; इस क्रियामें दोनों शक्ति जबही युक्त होवेंगी तबही साम्यभाव आवेगा, केवलेन्द्रिय भी निष्क्रिय होगा, दृश्य न रहेगा, अदर्शन आवेगा; अभ्यास

पक्का न होने पयन्त यह दर्शन अदर्शन बार बार आवागमन करेगा; यही नमस्कार है, इसीको किया करो। तत्पश्चात् पञ्चम वा शेष फल, "माम् एव एष्यसि"—"मैं" को ही प्राप्त होओगे, "मैं" में आपड़के मिलकरके "मैं" हो जाओगे—"सोऽहं" अवस्था पाओगे। यह एकबारगी ध्रुव सत्य कथा है, इसके इधर उधर और नहीं है। प्रिय होनेसे यह होवेहीगा।

इस श्लोकका सरल भावार्थ यह है।—मनका काज संकल्प (पकड़ना) और विकल्प (छोड़ना) है। मनको विषय से छुड़ाकर "मैं" में लगा दो। भक्त अर्थात् उपासक जैसे उपास्य देवतामें मन-प्राणको फेंक करके मिलकर तदाकारत्व लेते हैं, तुमभी उसी प्रकार "मैं" में मन-प्राणको मिलाकर (क्रिया गुरूपदेशगम्य) "मैं" होजाओ। "मैं" की पूजामें मतवाले हो जाओ अर्थात् "मैं" मय हो जाओ। "मैं" को ही नमस्कार करो (समान समान में = बराबर में नमस्कार होता है) अर्थात् आत्मामें आत्माका मिलन कर दो। मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूं कि, हे "मैं" के प्रिय! तुम "मैं" हो जाओगे,—तुम्हारी मुक्ति अवश्यम्भावी है॥ ६५॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

अन्वयः। सर्वधर्मान् (मद्भक्त्यैव सर्वं भविष्यतीति दृढ़विश्वासेन विधिकैङ्कर्य्यं) परित्यज्य (त्यक्त्वा) मामेकं शरणं व्रज (मदेकशरणो भव); अहं त्वां सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि ; मा शुचः (एवं वर्त्तमानः कर्मत्यागनिमित्तं पापं स्यादिति शोकं मा कार्षीः) ॥ ६६ ॥

अनुवाद। सर्व धर्म परित्याग करके एक मेरी शरण लो, मैं तुमको सर्व पापसे मुक्त करूंगा; शोक न करना ॥ ३६ ॥

व्याख्या। "धर्म"—संस्कृत भाषामें यह एक बहु विस्तृतार्थसम्पन्न शब्द है। यह क्रम अनुसार विस्तार अर्थसे विशेष विशेष अर्थमें प्रयुक्त होकर चला आता है। धृ धातुमें मन् प्रत्यय करके धर्म शब्द सिद्ध हुआ है। धातु-गत अर्थमें, जिसे धारण करके रहा जाय वही धर्म है, इस प्रकार अर्थ होता है *। इस अर्थ में (१म अर्थ) स्वयं आदि पुरुष सृष्टिकर्त्ता विधाता ही धर्म है, कारण उसीको धारण करके यह विश्व स्थित है। सुतरां (२य अर्थ) इस विश्वव्यापार परिचालनके लिये वह जो

* इस अर्थका पोषक स्वरूप एक पौराणिक श्लोक है।—
"धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मोधारयते प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्मो नरपुंगव ॥"

विधान किया है, अर्थात् जिस विधानका आश्रय करके विश्वकी क्रिया चल रही है, वह भी धर्म (विश्वविधान) है। उसी प्रकार (३य अर्थ) वह विधातृपुरुष जीवका (विशेषतः मनुष्योंका) कर्म और कर्मफलके सम्बन्धमें जो विधान किया है, जिससे पाप और पुण्य नाम करके दो प्रकारका कर्मफल विभाग किये हुए हैं, उसको भी धर्म कहते हैं। पुनः (४र्थ अर्थ) पुण्यके फलसे जीव क्रम अनुसार निकटवर्त्ती हो करके स्वयं धर्मका (विश्वविधाताका) स्वरूप प्राप्त होता है इसलिये पुण्यको भी धर्म कहते हैं, और पापफल करके जीव धर्मसे क्रमशः बहुदूरमें निक्षिप्त होता है इसलिये पापको अधर्म कहते हैं। इसी प्रकारके क्रम अनुसार (५म अर्थ) धर्मशास्त्रानुयायी आचार भी धर्म नामसे चला आता है। विधिविहित विधानका नाम धर्म कह करके, उसीके अनुकरणसे (६ष्ठ अर्थ) सामाजिक व्यवहारिक विधानको भी धर्म कहते हैं; इसलिये स्मृति प्रभृति व्यवहार शास्त्रको धर्मशास्त्र कहा जाता है। (७म अर्थ) विशेष विशेष विधानको भी धर्म कहते हैं; जैसे वीरधर्म, राजधर्म, गार्हस्थ्यधर्म, संन्यासधर्म, पातिव्रत्यधर्म इत्यादि।

यह धर्म शब्दका अर्थ हुआ। जिसे पकड़के रहा जाता है इस आदिम अर्थमूलसे धर्म शब्द स्वभाव, गुण,

कर्तव्यकर्म इत्यादि नाना प्रकारके विशेष विशेष अर्थोंमें भी प्रयुक्त होता है; जैसे स्वभाव अर्थ में,—जीवधर्म, मनुष्यधर्म, स्त्रीधर्म, पुरुषधर्म, मनोधर्म इत्यादि; गुण अर्थमें,—वायुका धर्म, जलका धर्म इत्यादि प्रत्येक द्रव्यके गुणका नाम धर्म है ।

इस श्लोकमें यह जो "सर्वधर्म" शब्द है, इसका अर्थ विशेष रूपसे समझना होगा । इसके लौकिक अर्थ की आलोचना करके पश्चात् आध्यात्मिक अर्थकी आलोचना की जावेगी ।—

अर्जुन प्रथम अध्यायमें कहे हैं कि "इन आततायियों की हत्या करनेसे अस्मदादिका कुलक्षयकृत तथा मित्र-द्रोहजनित पाप होगा, सनातन कुल-धर्म नष्ट होगा, धर्म नष्ट होनेसे अधर्म की वृद्धि होगी, उससे शाश्वत ज़ाति-धर्म और कुल-धर्म उत्सन्न जावेगा" । द्वितीय अध्याय में कहे हैं कि "मैं धर्मसंमूढ़चेता हुआ हूं, मैं तुम्हारा शिष्य हूं, जो श्रेयः हो वही मुझको उपदेश करो" अर्जुन का मनोभाव है कि गुरु-ज्ञाति-मित्रोंको वध करनेसे उन लोगोंका (पाण्डवोंका) धर्म अर्थात् पुण्य क्षय होकर पाप होगा और कुल-धर्म तथा जाति-धर्म उत्सन्न होनेसे भी पाप उन्हीं लोगोंको असर करेगा । श्रीभगवान शिष्य

अर्जुनकी धर्मलोपाशंका तथा पापभय दूर करके उनको परम कल्याण साधनके लिये कहते हैं "सर्वधर्मान् परित्यज्य"—समुदय धर्म अर्थात् पाप-पुण्य सिद्धान्त करने वाले जो सब विधान हैं, कुलरक्षाका जो विधान (कुलधर्म) है, और जातिरक्षाका जो विधान (जातिधर्म) है, और भी जिन सब धर्म-पालनार्थ तुम कातर हुए हो, उन सबके सम्बन्धीय सब धर्म—सब विधान—सब प्रकारका विधि निषेध त्याग करके, 'मामेकं शरणं व्रज'—केवल मात्र हमारी शरण लेलो, अर्थात् मैं तुम्हारा गुरु हूं, गुरुवाक्य ही धर्म है, उसी मेरा वाक्य अनुसार—मैं जिस प्रकार कार्य करनेके लिये उपदेश देता हूं एकमात्र उसी उपदेश अनुसार, वही हमारा 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' इत्यादि और 'तमेव शरणं गच्छ' वाक्यके अनुसार कर्म करते चलो। तुम जितने प्रकारके पापकी आंशका और भय करते हो, उन समुदय पापसे मैं तुमको मुक्त करूंगा—मैं तुम्हारे सकल प्रकारके कर्म-बन्धनको मोचन करूंगा। शोक और न करो—पापग्रस्त होओगे इस आशंकासे और विषण्ण न होओ।

यह लौकिक अर्थ हुआ। अब योगशास्त्रविहित आध्यात्मिक अर्थ क्या है वह देखा जाता है।—

मूलाधारादि पाँच चक्रके क्षिति आदि पाँच भूतका नाम सर्व है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच विषय ही उन पाँच भूतोंका धर्म हैं। अतएव भोग्य विषय-कोही सर्वधर्म कहते हैं। और सर्वपाप क्या?—ना, उन सर्वधर्मोंके सम्पर्कमें रह करके जिन सब कर्मोंकी सृष्टि होती है, वह सब सुकृति ही हो चाहे दुष्कृति ही हो जिसके फलसे स्वर्गादि भोग वा नरकादि भोग होता है, अर्थात् जिसमें फलभोग-बन्धन है, वह सब कर्म ही सर्वपाप हैं। पाप मैलाको—मनकी चञ्चलताको कहते हैं, जो आत्माको मलिन कर रखता है, विषयावरणसे ढांक रखता है, विषय अतिक्रम होने देता नहीं, बांध रखता है, उसे पाप कहते हैं। कर्म ही जीवको सुख-दुःख रूप संसारबन्धनमें बांध रखता है। इसलिये विषय-सम्पर्कित कर्मको ही सर्वपाप कहते हैं। श्रीभगवान कहते हैं 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' अर्थात् पञ्चचक्रके भीतर कर्मयोग द्वारा जो सब क्रिया करनेकी व्यवस्था है, जिससे भूतशुद्धि होती है, देवयजन करना होता है, नाना प्रकार द्रव्ययज्ञका अनुष्ठान करना होता है, जिससे केवल सुकृति सञ्चय होता है—विभूति लाभ होती है, उन समुदय विषयघटित कर्मयोगका व्यापारको परित्याग करके 'मामेकं शरणं व्रज' अर्थात् हमारे वचन

अनुसार एकमात्र ब्रह्मसूत्रका अवलम्बन करके शौर्य्य तेजादि स्वकर्मानुष्ठान द्वारा अविद्या अस्मिता प्रभृतिको नाश करके दान और ईश्वरभाव द्वारा शाम्भवीका प्रयोग करके एकबारगी "मैं" की—कूटस्थचैतन्यकी—ईश्वरकी शरण लो; ऐसा होनेसे वह जो सर्वपाप है, जो तुमको विषय-बन्धनसे बांधके भवघोरमें फेंक कर बार बार जन्म मृत्यु भोग करवाता है—लालसा रूपिणी मोहिनी शक्तिके मोह में आत्महारा करके आत्मविस्मृत करता है, उसी सर्व-पापसे मैं तुमको मुक्त करूंगा। तुम कृतकर्मके फलसे अनेक बार दगा खाये हो, भोगबन्धनसे कातर हुए हो, इसलिये तुम इस उपस्थित साधन-समरके व्यापारमें फिर उस सर्वपापमें लिपट न जाओ यह विचार करके शोकके मारे विह्वल हुए हो; परन्तु 'मैं' की शरण लेनेसे तुम्हें उस पापमें लिपटना न होगा। कारण कि 'मैं' की शरण लेनेसे अर्थात् विषयमुखी इच्छा प्रवाहको घुमा देकर, ईश्वरमें—कूटस्थचैतन्यमें—एक अद्वितीय अहं स्वरूपमें फेंकनेसे 'मायामेतां तरन्ति'—इस माया-विकारका अधिकार पार हो जाता है। सुतरां कर्मराशि जितनी ही सञ्चित रहें, वे सब कालक्रम करके प्रारब्ध रूपसे जब भोग देनेको आवेंगी, तब उस जीवको मायाविकारके अधिकारके भीतर प्राप्त न हो करके,

आश्रयविहीन हो कर, आपही आप ध्वंसको प्राप्त होंगे; 'मैं' की शरणमें रहनेसे 'नलिनीदलमम्बुवत्' पापस्पर्श नहीं होता। अतएव तुम्हारे शोकका कारण नहीं है, शोक मत करना।

साधकके समझनेके सुविधाके लिये इस आध्यात्मिक भावको ही प्रकारान्तर करके व्यक्त किया जाता है।—

सर्वधर्मान्=सबोंका धर्म खण्डभाव, संकीर्णता, नानात्व लेना है। वह नानात्व लेनाको दूर कर देनेसे ही मैं ही—मैं एक अखण्ड विस्तार होता है। तुम इस अखण्ड "मैं" का आश्रय करलो। इसके होनेसे ही तुम्हारा संकीर्ण खण्डभाव जो "तुम" है वह मिट जावेगा। अखण्ड "मैं" होनेसे ममत्व-प्रसूति जो अहं भाव है, वह भी उड़ जावेगा। सुतरां नानात्व में (नाना रूप सर्व में) भ्रमण और "तुम" से "मैं" को मिलानेका घोर परिश्रम जो अश्रेष्ठ कर्मयोग है उसके विश्रामसे कृतान्त सिद्धान्त जो नैष्कर्म्य सिद्धि (दुःखका अत्यन्त निवृत्ति) मुक्ति है, उसे वह अखण्ड "मैं" तुमको देवे ही करेगा। तुम्हारे शोक करनेका और कोई कारण नहीं है॥ ६६॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

अन्वयः । इदं (गीतार्थतत्त्वं) ते (त्वया) अतपस्काय (तपोरहिताय धर्मानुष्ठानहीनाय) न वाच्यं, न च अभक्ताय (गुरावीश्वरे च भक्तिशून्याय) कदाचन (कदाचिदपि) वाच्यं, न च अशुश्रूषवे (परिचर्यामकुर्वते) वाच्यं, मां (वासुदेवं परमेश्वरं) यः अभ्यसूयति (मनुष्यदृष्टया दोषारोपेण निन्दति) (तस्मै) च न वाच्यं ॥ ६७ ॥

अनुवाद । इस गीतार्थतत्त्वको तपोरहित मनुष्यों से तुम न कहना, अभक्तसे कदाच न कहना, शुश्रुषाविहीन व्यक्तिसे भी न कहना, और मुझको जो असूया करता है उससे भी न कहना ॥६७॥

व्याख्या । १७ अध्यायका १४ श्लोकोक्त शारीर तपः १५ श्लोकोक्त वाङ्मय तपः, और १६ श्लोकोक्त मानसतपः जिसमें नहीं है अर्थात् इन सबसे जो घृणा करता है उसको अतपस्क कहते हैं; गुरुवाक्यमें और ईश्वरमें जिसका विश्वास नहीं है, उसको अभक्त कहते हैं; उपासनाके लिये, सेवाके लिये, श्रवणके लिये अनिच्छुक को अशुश्रूषु कहते हैं; और "मां" अर्थात् मुझ "मैं" को जो द्वेष करता है, (मेरे कहनेसे जिस किसीको समझा जाता है उनमेंसे किसीके ऊपर अनुराग करनेसे ही "मैं" से द्वेष करना होता है) वह हमारा अभ्यसूयाकारी है । यह गीतार्थतत्त्व जिसे मैंने तुमको कहा

है, उन लोगोंको न कहना, कहना नहीं चाहिये ॥ ६७ ॥

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

अन्वयः । यः परमं गुह्यं इदं (केशवार्जुनयोः संवादरूपं ग्रन्थं, गीताशास्त्रं) मद्भक्तेषु अभिधास्यति (मद्भक्तेभ्यो वक्ष्यति), सः मयि परां भक्तिं कृत्वा असंशयः सन् मां एव एष्यति ॥ ६८ ॥

अनुवाद । जो पुरुष परमगुह्य इस गीता शास्त्रको मेरे भक्तगणोंसे कहेंगे, वे पुरुष हममें पराभक्ति करके संशयशून्य होकर हमकोही प्राप्त होवेंगे ॥ ६८ ॥

व्याख्या । जो इस गुप्ततम गुरुशिष्य सम्वाद रूपसे कथित गीताशास्त्रको "मैं" के भक्तको अर्थात् 'मैं' होनेके लिये जो लालायित है, उसको समझाकर उस भक्तका भक्ति "मैं" में दृढ़ करा देगा, वह भी उस अभ्यास और साधनके बलसे शरीरका शेष निःश्वास त्यागके समय "मैं" में पड़कर "मैं" हो जायगा; इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

अन्वयः। मनुष्येषु (मध्ये) तस्मात् (मद्भक्तेभ्यो गीताशास्त्रव्याख्यातुः सकाशात्) अन्यः कश्चित् मे प्रियकृत्तमः (अत्यन्तं परितोषकर्त्ता) न च (अस्ति), भुवि तस्मात् अन्यः मे प्रियतरः न च भविता (भविष्यति)॥ ६९॥

अनुवाद। मनुष्योंके भीतर उससे दूसरा कोई हमारा अधिक प्रिय नहीं है, पृथिवीमें उसको छोड़कर दूसरा कोई प्रियतर होगा भी नहीं॥ ६९॥

व्याख्या। जीव जब मनुष्यशरीर धारण कर साधनबलसे यह "मैं" होताहै, तब भूत भविष्यत् वर्त्तमानमें उससे "मैं" का प्रिय होनेका किसीका और उपाय नहीं है; क्योंकि, वह आप भी जैसे मायावशी हुआ, दूसरेको भी उसी तरह मायावशी होनेका अधिकार देकर उनका उद्धार किया॥ ६९॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥७०॥

अन्वयः। यः च आवयोः (श्रीकृष्णार्जुनयोः) इमं धर्म्यं (धर्मादनपेतं) संवादं अध्येष्यते (जपरूपेण पठिष्यति), तेन (पुंसा) अहं ज्ञानयज्ञेन (सर्वयज्ञेभ्यो श्रेष्ठेन यज्ञेन) इष्टः (पूजितः) स्याम् (भवेयम्) इति मे मतिः (निश्चयः)॥ ७०॥

अनुवाद। जो पुरुष हम दोनोंके इस धर्मयुक्त संवादका अध्ययन

करेंगे, ज्ञानयज्ञ द्वारा उनसे मैं पूजित होऊंगा, इस प्रकार हमारा निश्चय है ॥ ७० ॥

व्याख्या । जो भाग्यवान इस प्रश्नोत्तररूप निजबोध विचार (केशवार्जुनसंवाद) का अध्ययन (मनन, निदिध्यासन) करेंगे, ज्ञानाग्निमें उनकी अज्ञानता भस्म हो जावेगी, अर्थात् ज्ञानयज्ञ द्वारा "मैं" पूजित (अर्चित) होनेसे चिरकल्याण जो मुक्ति है, वह निश्चय होगी; यही हमारा मति (हमारे मनकी कथा) है ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च
शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपिमुक्तः शुभाँल्लोकान्
प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

अन्वयः । यः नरः श्रद्धावान् (श्रद्दधानः) अनसूयश्च (असूया-वर्जितः) सन् (इमं ग्रन्थं) शृणुयात् अपि (अपि शब्दात् किमुतार्थ-ज्ञानवान्) सोऽपि (पापात्) मुक्तः सन् पुण्यकर्मणां शुभान् लोकान् प्राप्नुयात् ॥ ७१ ॥

अनुवाद। जो नर श्रद्धायुक्त और असूयावर्जित होकर इस संवादको श्रवण भी करते हैं, वे भी (पापसे) मुक्त होकर पुण्यकर्मा लोगोंके शुभलोक समूहको प्राप्त होते हैं ॥ ७१ ॥

व्याख्या । भगवान ६८वें श्लोकमें भगवद्भक्तको

गीता उपदेश करनेका फल और ७०वें श्लोकमें गीता-पाठका फल कह करके इस श्लोकमें गीता श्रवणका फल कहते हैं।

जो लोग श्रवणका अधिकारी हैं, श्रद्धा और विश्वासके साथ संशयशून्य मनसे यदि यह संवाद श्रवण करें तो, वे भी पापमुक्त होकर पुण्यवान होंगे, और इस ज्ञानकी शक्तिसे मायापाशको काटते हुए शुभलोक (ज्ञानियोंके लोक) को प्राप्त होवेंगे। "शृणुयादपि" इस पदके 'अपि' शब्दका भाव यह है कि, श्रद्धायुक्त और द्वेषवर्जित हो करके केवल सुननेसे ही पापमुक्त होकर सद्गति लाभ होती है, अर्थको समझ लेनेसे जो फल फलेगा उसकी और कथा क्या है ? ॥ ७१ ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥

अन्वयः। हे पार्थ ! त्वया एकाग्रेण चेतसा एतत् श्रुतं कच्चित् ? (कच्चिदिति प्रश्नार्थे)। हे धनञ्जय ! ते अज्ञानसंमोहः (अज्ञाननिमित्तः संमोहः वैचित्तभावः अविवेकता) प्रणष्टः कच्चित् ? ॥ ७२ ॥

अनुवाद। हे पार्थ ! तुमने एकाग्रचित्त होकर इसे श्रवण किया तो ? हे धनंजय ! क्या तुम्हारा अज्ञानजनित मोह प्रणष्ट हुआ? ॥ ७२ ॥

व्याख्या। अब साधक आपही आप अपनेको प्रश्न

करते हैं कि--हे पार्थ ! तुमने जो मायाके चक्करमें अपनेको बद्ध कह कर स्वीकार किया था, यह उपदेश विचार एकाग्र-मनसे श्रवण करके क्या तुम्हारा वह माया-पाश कट गया ? जीवका जो ६ धन (जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख, क्षुधा, तृष्णा) हैं, उन्हें क्या तुमने जय किया है ? अज्ञान जनित मोहजाल क्या तुम्हारा नष्ट हो गया है ? ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच ।

नष्टोमोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अन्वयः । हे अच्युत ! मोहः (अज्ञानजं तमः) नष्टः, मया त्वत्प्रसादात् स्मृतिः (आत्मतत्त्वविषया) लब्धा ; गतसंदेहः (मुक्तसंशयः सन्) [त्वच्छासने] स्थितः अस्मि, तव वचनं (तवाज्ञां) करिष्ये ॥ ७३ ॥

अनुवाद। हे अच्युत ! हमारा मोह नष्ट होगया, तुम्हारे प्रसादसे मैंने स्मृति लाभ किया है ; गतसंदेह हो करके मैंने यह स्थित हुआ है, तुम्हारे वाक्यका पालन करूंगा ॥ ७३ ॥

व्याख्या । कृतार्थ अर्जुन (साधक) कहते हैं,--हे अच्युत ! तुम्हारे प्रसादसे सर्व अनर्थका मूल हेतु जो संसार भ्रम है वह मेरा कट गया । मेरी आत्मस्मृति जिसे मैंने भूल जाकर जीव सजा था उसे मैंने पाया है । हमारा संशय नाश होगया । अब मैंने सर्वभूतात्मभूतात्मा अनन्त

ब्रह्मस्वरूपमें (स्व स्वरूपमें) अपनी स्थिति की है। और कुछ भी हमारा कर्त्तव्य कह करके विद्यमान नहीं है। अब मैं तुम्हारे वचन अनुसार कर्म करूंगा।

भगवत्कृपासे कृतकृतार्थ साधक गतसंदेह होकरके साधन-समरके लिये पुनराय स्थित हुए—यथाविधान मतसे उठकर बैठगये ॥ ७३ ॥

संजय उवाच।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

अन्वयः। संजयः उवाच। इति (एवं) अहं महात्मनः वासुदेवस्य पार्थस्य च इमं अद्भुतं (अत्यन्तविस्मयकरं) रोमहर्षणम् (रोमांचकरं) संवादं अश्रौषं (श्रुतवानस्मि) ॥ ७४ ॥

अनुवाद। संजय कहते हैं। मैंने इस प्रकार महात्मा वासुदेव और पार्थका इस रोमांचकर अद्भुत संवाद श्रवण किया ॥ ७४ ॥

व्याख्या। दिव्यदृष्टिसे अब सकल शास्त्रका सारार्थ युगपत् उठ करके समाप्तिकी स्फुरण करती है। सब कुछ अनुभव अन्तःकरणमें ही होती है, इसलिये धृतराष्ट्रको (मनको) सम्बोधन करके कह जाता है।—इस प्रकारसे

वासुदेव (विस्तार ब्रह्मभाव) का और अर्जुनका (मायाप्रसूत बद्ध संकीर्ण जीवभावका) अद्भुत लोमहर्षण प्रश्नोत्तर संवाद मैंने सुना है ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमं
गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात्
साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

अन्वयः । अहं व्यासप्रसादात् इमं परं गुह्यं योगं योगेश्वरात् स्वयं कृष्णात् साक्षात् कथयतः श्रुतवान् ॥ ७५ ॥

अनुवाद । व्यासके प्रसादसे यह परम गुह्य योग योगेश्वर स्वयं श्रीकृष्णके साक्षात् कथासे मैंने श्रवण किया है ॥ ७५ ॥

व्याख्या । व्यासके प्रसादसे अर्थात् भेदज्ञानके सहारेसे (यदि भेदज्ञान न होता, एक विस्तार ब्रह्मभाव ही रहता, तो इस संवादका उत्थान ही न होता, इसलिये कहते हैं) यह जो गोपनसे भी अतिशय गोपन संवाद (चित्तके ऊपरकी कथा), यह योग अर्थात् आत्मामें आत्मा मिलानेका व्यापार (दो न होनेसे मिलन नहीं होता) योगेश्वर कृष्णके (जो कर्षण द्वारा खींच लाकर मुक्ति देते हैं उन्हीं कूटस्थ पुरुषके) निजमुखका प्रत्यक्ष उपदेश मैंने सुना है ॥ ७५ ॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्ज्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

अन्वयः। हे राजन्! केशवार्जुनयोः इमं अद्भुतं पुण्यं (साक्षात् पुण्यस्वरूपं पापहरं) संवादं संस्मृत्य संस्मृत्य मुहुर्मुहुः च (प्रतिक्षणं) हृष्यामि (रोमाञ्चितो भवामि हर्षं प्राप्नोमीति वा) ॥ ७६ ॥

अनुवाद। हे राजन्! केशवार्जुनका यह अद्भुत पुण्य (पापहर) संवाद बार बार स्मरण करके मैं मुहुर्मुहुः हृष्ट (पुलकित) होता हूं॥७६॥

व्याख्या। हे राजन्! बार बार केशवार्जुनका वह पुण्यमय (पु=पुय, णक्=निर्वाण मुक्ति, यं=स्वरूप, अर्थात् क्लेदमय शरीरसे निर्वाण देके स्वस्वरूप प्राप्ति जो कराता है उसको ही पुण्य कहते हैं) अद्भुत संवाद स्मरण करके प्रतिक्षणमें मैं आनन्द अनुभव करता हूं।

इस आनन्दकी सीमा नहीं है। क्रियाकी-परावस्था की पूर्वावस्थामें उस मोहन रूप, तथा क्रियाकी-परावस्थाकी परावस्थामें वह जीव, ईश्वर और मायाका स्वरूप सम्बन्ध की उपलब्धि, उसी मोहन स्वरकी लहरी, जो कह करके व्यक्त करनेका विषय नहीं है, जबही मनमें आता है तबही आनन्दके मारे शरीरकी रोमावली कण्टाकित सदृश होता है। इसे भुक्तभोगी समझ लेवेंगे ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

अन्वयः । हे राजन् ! हरेः तत् अद्भुतं रूपं (विश्वरूपं) च संस्मृत्य संस्मृत्य मे महान् विस्मयः (भवति) पुनः पुनः हृष्यामि च ॥ ७७ ॥

अनुवाद । हे राजन् ! और हरिका उस अति अद्भुत रूप (विश्वरूप) का बार बार स्मरण करके हमें महान् विस्मय होता है, और पुनः पुनः मैं हृष्ट होता हूं ॥ ७७ ॥

व्याख्या । पुनराय हरिका उस अद्भुत रूप (भूतमें कभी जो दिखाई नहीं पड़ा) विश्वरूपके बार बार स्मृतिमें हमारे अन्तःकरणमें महान् आश्चर्य्य सदृश बोध होता है; क्योंकि एक जो कभी अनेक नहीं होता उस सिद्धान्तमें अब मैं उपनीत हुआ हूं; इसलिये हमें बार बार हर्षोद्रेक होता है ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

अन्वयः । यत्र (यस्मिन् पक्षे) योगेश्वरः कृष्णः (वर्त्तते), यत्र च पार्थः धनुर्धरः (गाण्डीवधन्वा), तत्र (एव) श्रीः (राज्यलक्ष्मीः), तत्र एव च विजयः, तत्र एव च भूतिः (उत्तरोत्तराभिवृद्धिः), नीतिः (न्यायोऽपि) तत्रैव ध्रुवा (अव्यभिचारिणी) इति मम मतिः (निश्चयः) ॥ ७८ ॥

अनुवाद। जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण (वर्त्तमान) और धनुर्धारी पार्थ (अर्जुन) हैं, वहां ही राज्यलक्ष्मी, विजय, भूति (सम्पद्) और अव्यभिचारिणी नीति वर्त्तमान हैं, यही हमारी मति (निश्चय धारणा) है ॥७८॥

व्याख्या। जहां सर्वयोगका नियन्ता ब्रह्मज्ञान भास्वर स्वरूप मुक्तिदाता कृष्ण मीमांसक है, जहां प्रकृति-जालोत्तीर्ण साधक गाण्डीवधारी अर्जुन (जिस साधकका मेरुदण्ड=पीठकी रीढ़ कभी ढीली नहीं होती केवल सीधी ही रहती है) प्रश्नकर्त्ता है,—वहां ही श्री (सारदा ज्ञप्ति), विजय (सर्वशक्ति दमन अधिकार), भुति (ऐश्वर्य्य), नीति (विचारका शेष फल ब्रह्मत्व) हैं; यही हमारी ध्रुवा सत्यसंकल्पा मति है, यही हमारी मनकी अटूट निश्चय धारणा है।

साधक! तुम योगमार्गमें भक्तिपथके पथिक हुए हो। तुम संजयके इस शेष उक्तिको अपने पथका सम्बल कर लो तो किसीमें भी तुम अवसन्न न होगे। तुम भी धनुर्धर हो जाओ और कृष्णको सारथि बना लो; वह योगका ईश्वर है, तुमको ठीक रास्ते पर चलाके युक्त कर लेगा। गुरूपदिष्ट अभ्यास-अनुष्ठानसे लब्ध ज्ञानके अनुसार मेरुदण्डको संयत रखना ही धनुर्धर होना है। कृष्णको सारथि बनाना क्या है? कृष्ण सत्त्वगुणकी मूर्त्ति वा मूर्त्तिमान सत्त्वगुण है। तुम इस सत्त्वगुणको अपना परिचालक कर लो, अपना आहार-व्यवहार, चाल-चलन,

याग-यज्ञ, क्रिया कलाप सब सात्त्विक भावका करलो, सत्त्वगुणको सखा करलो, मन-प्राणको सत्त्वमय कर लो। ऐसा होनेसे ही तुम्हारे कृष्ण सारथी होवेंगे। यह सत्त्व ही योगेश्वर है; इन्हें छोड़कर सिद्धिलाभका दूसरा उपाय नहीं है; यही "भास्वता ज्ञानदीपेन" तुम्हारा "अज्ञानजं तमः" का नाश करेंगे, एकमात्र इस सत्त्व-प्रसादसे ही तुम "परां शान्तिं" और 'शाश्वतं स्थानं' पाओगे। इस प्रकारसे योगेश्वर सत्त्वको सारथी करके धनुर्धर होनेसे श्री (शरीरकी योगप्रभा), विजय (योग-सिद्धि), भूति (विभूति), एवं ध्रुवा नीति (अव्यभिचारिणी ब्राह्मीस्थिति, जीवन्मुक्ति) होगी। यह सर्वथा निश्चय है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। इसीके साथ मनमें इसेभी स्मरण रक्खो--'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥' अर्थात् जिसको देवताके प्रति पराभक्ति है, और देवता के प्रति जैसी--गुरुके प्रति भी वैसी ही भक्ति है, उसी महात्मामें यह सब कथित अर्थ प्रकाश पाता है॥७८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम
अष्टादशोऽध्यायः ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ इति ज्ञानमात्रेण रागाजीर्णेन जीर्यतः ।
कालनिद्रां प्रपन्नोऽस्मि त्राहि मां मधुसूदन ॥ १ ॥

न गतिर्विद्यते नाथ त्वमेव शरणं प्रभो ।
पापपङ्के निमग्नोऽस्मि त्राहि मां मधुसूदन ॥ २ ॥

मो हितो मोहजालेन पुत्रदारधनादिषु ।
तृष्णया पीड्यमानोऽस्मि त्राहि मां मधुसूदन ॥३॥

भ क्ति हीनश्च दीनं च दुःखशोकातुरं प्रभो ।
अनाश्रयमनाथं च त्राहि मां मधुसूदन ॥ ४ ॥

ग तागतेन श्रान्तोऽस्मि दीर्घसंसारवर्त्मसु ।
येन भूयो न गच्छामि त्राहि मां मधुसूदन ॥ ५ ॥

व हवो हि मया दृष्टा योनिद्वारः पृथक् पृथक् ।
गर्भवासे महद्दुःखं त्राहि मां मधुसूदन ॥ ६ ॥

ते न देव प्रपन्नोऽस्मि त्राणार्थं त्वत्परायणः ।
देहि संसारमोक्षं त्वं त्राहि मां मधुसूदन ॥ ७ ॥

वा चा यच्च प्रतिज्ञातं कर्मणा न कृतं मया ।
सोऽहं कर्मदुराचारस्त्राहि मां मधुसूदन ॥ ८ ॥

सु कृतं न कृतं किंचिद् दुष्कृतं च कृतं मया ।
घोरसंसारमग्नोऽस्मि त्राहि मां मधुसूदन ॥ ९ ॥

देहान्तरसहस्रेषु चान्योन्यं भ्रामितं मया ।
तिर्य्यग्योनिमनुष्येषु त्राहि मां मधुसूदन ॥१०॥
वा चयामि यथोन्मत्तः प्रलपामि तवाग्रतः ।
जरामरणभीतोऽस्मि त्राहि मां मधुसूदन ॥ ११ ॥
य त्र यत्र च यास्यामि स्त्रीषु वा पुरुषेषु च ।
तत्र तत्राचला भक्तिस्त्राहि मां मधुसूदन ॥ १२ ॥
ॐ शुकदेवकृतं स्तोत्रं सभक्त्या पठितं मया ।
पुनरावृत्तिदोषं मे हरि त्वं हरतां प्रभो ॥ १३ ॥

ॐ नमो नारायणाय ।

ॐ नमो हिरण्यगर्भाय ब्रह्मणे ब्रह्मरूपिणे ।
अविज्ञातस्वरूपाय कैवल्यायामृताय च ॥ १ ॥
यन्न वेदा विजानन्ति मनो यत्रापि कुण्ठितम् ।
न यत्र वाक् प्रभवति नमस्तस्मै चिदात्मने ॥ २ ॥
योगिनो यं चिदाकाशे प्रणिधानेन निष्कलम् ।
ज्योतिरूपं प्रपश्यन्ति तस्मै श्री ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥
कालात् पराय कालाय स्वेच्छया पुरुषाय च ।
गुणत्रयस्वरूपाय नमः प्रकृतिरूपिणे ॥ ४ ॥
विष्णवे सत्त्वरूपाय रजोरूपाय वेधसे ।
तमसे रुद्ररूपाय स्थितिसर्गान्तकारिणे ॥ ५ ॥

नमो बुद्धिस्वरूपाय त्रिधाहंकृतये नमः।
पञ्चतन्मात्ररूपाय पञ्चकर्मेन्द्रियात्मने ॥ ६ ॥
नमो मनःस्वरूपाय पञ्चबुद्धीन्द्रियात्मने।
क्षित्यादि पञ्च रूपाय नमस्ते विषयात्मने ॥ ७ ॥
नमो ब्रह्माण्डरूपाय तदन्तर्वर्त्तिने नमः।
अर्वाचीन पराचीन विश्वरूपाय ते नमः ॥ ८ ॥
अनित्यनित्यरूपाय सदसत्पतये नमः।
समस्तभक्तकृपया स्वेच्छया कृतविग्रह ॥ ९ ॥
तव निश्वसितं वेदास्तव स्वेदोऽखिलं जगत्।
विश्वभूतानि ते पादः शीर्षो द्यौः समवर्त्तत ॥ १० ॥
नाभ्या आसीदन्तरीक्षं लोमानि च वनस्पतिः।
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यस्तव प्रभो ॥ ११ ॥

त्वमेव सर्वं त्वयि देव सर्वं
स्तोता स्तुतिः स्तव्य इह त्वमेव।
ईश त्वया वास्यमिदं हि सर्वं
नमोऽस्तु भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ १२ ॥

ॐ नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ १३ ॥

श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम् ।

श्रीगोपालकृष्णाय नमः ।

[बाजारमें वराह पुराणोक्त गीतामाहात्म्य नामसे जो २३ श्लोककी पुस्तक पाई जाती है, देखनेसे मालूम होता है कि वही स्थूलीकृत होकर वैष्णवीय तन्त्रसारोक्त गीतामाहात्म्य हुई है। दोनोंमें ही सूत वक्ता है। उक्त पुराणमें उसने केवल धराके प्रति विष्णुकी उक्तियों का वर्णन किया है और उक्त तन्त्रसारमें उसने गीतामाहात्म्य सम्बन्धमें व्यास-मुख-श्रुत अनुयायी अपना मत श्रीकृष्णके उक्तिके साथ वर्णन किया है। उक्त तन्त्र-सारोक्त गीतामाहात्म्यही यहां दिया गया है; इसमें उक्त पुराणोक्त श्लोकसे जहां जहां एकता है उन्हें पाद-टीकामें दिखाया जायगा।]

शौनक उवाच ।

गीतायाश्चैव माहात्म्यं यथावत् सूत मे वद ।
पुरा नारायणक्षेत्रे व्यासेन मुनिनोदितम् ॥१॥ *

शौनक कहते हैं। हे सूत! पुर्वमें नारायणक्षेत्र (नैमिषारण्य) में महामुनि व्यासका कथित गीतामाहात्म्य मेरे पास यथावत् वर्णना करो ॥ १ ॥

---

* तथा च वराह पुराणे —धरोवाच ।
भगवन् परमेशान भक्तिरव्यभिचारिणी ।
प्रारब्धं भुज्यमानस्य कथं भवति हे प्रभो ॥ १ ॥

सूत उवाच ।

भद्रं भगवता पृष्टं यद्धि गुप्ततमं परम् ।
शक्यते केन तद्वक्तुं गीतामाहात्म्यमुत्तमम् ॥ २ ॥

कृष्णो जानाति वै सम्यक् किञ्चित् कुन्तीसुतःफलम् ।
व्यासो वा व्यासपुत्रो वा याज्ञवल्क्योऽथ मैथिलः ३॥

अन्ये श्रवणतः श्रुत्वा लेशं संकीर्त्तयन्ति च ।
तस्मात् किञ्चिद्वदाम्यत्र व्यासस्यास्यान्मया श्रुतम् ।४

सूत बोले । भगवन् ! आपने उत्तम प्रश्न किया, कारण जो परम गुह्यतम है, उसी उत्तम गीता-माहात्म्यके वर्णन करनेकी किसकी सामर्थ्य है ? ॥ २ ॥

श्री कृष्णही गीताका माहात्म्य सम्यक् जानते हैं और अर्जुन, व्यास, शुकदेव, याज्ञवल्क्य एवं मिथिला-राज जनक ये लोग कुछ कुछ जानते हैं ॥ ३ ॥

और सब लोग कानमें सुनके लेशमात्र कीर्त्तन करते हैं । अतएव मैंने व्यासजीके मुखसे जैसा सुना है उसेही यहां किंचित् कहता हूं ॥ ४ ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ५ ॥
सारथ्यमर्जुनस्यादौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ ।
लोकत्रयोपकाराय तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥ ६ ॥
संसारसागरं घोरं तर्त्तुमिच्छति यो नरः ।
गीतानावं समासाद्य पारं याति सुखेन सः ॥ ७ ॥
गीताज्ञानं श्रुतं नैव सदैवाभ्यासयोगतः ।
मोक्षमिच्छन्ति मूढ़ात्मा याति बालकहास्यताम् ॥ ८ ॥

उपनिषत्समूह गाभीवृन्द स्वरूप, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण दोग्धा, पृथापुत्र अर्जुन वत्स, सुधीजन भोक्ता और गीतामृतही महत् (सुप्रचुर) दुग्धस्वरूप है ॥ ५ ॥

जिसने अर्जुनका सारथ्य करते करते लोकत्रयके उपकारके लिये पहले ही गीतामृत दान किया है उस कृष्णात्माको (परमात्मस्वरूप श्रीकृष्णको) नमस्कार है ॥ ६ ॥

जो नर घोर संसारसागरसे तरनेकी इच्छा करते हैं वे गीतारूप नौकाका सम्यक् आश्रय करके सुखसे पार उतर जाते हैं ॥ ७ ॥

सर्वदा अभ्यास योगानुष्ठानसे गीताज्ञान श्रवण बिना जो मोक्षकी इच्छा करता है ऐसे मूढ़ात्माको देखकर लड़के लोग भी हंसते हैं ॥ ८ ॥

ये शृण्वन्ति पठन्त्येव गीताशास्त्रमहर्निशम् ।
न ते वै मानुषा ज्ञेया देवरूपा न संशयः ॥ ९ ॥
गीताज्ञानेन संबोधं कृष्णः प्राहार्जुनाय वै ।
भक्तितत्त्वं परं तत्र सगुणं वाथ निर्गुणम् ॥१०॥
सोपानाष्टादशैरेवं भक्तिमुक्तिसमुच्छ्रितैः ।
क्रमशश्चित्तशुद्धिः स्यात् प्रेमभक्त्यादिकर्मसु ॥११॥
साधोर्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ।
श्रद्धाहीनस्य तत्कार्यं हस्तिस्नानं वृथैव तत् ॥ १२ ॥

जो लोग अहर्निश गीताशास्त्र श्रवण और पाठ करते हैं उनको आदमी मत समझो, वे लोग देवस्वरूप हैं ; इसमें सन्देह नहीं ॥ ९ ॥

श्रीकृष्ण गीताज्ञान द्वारा अर्जुनको संबोध (सम्यक्-ज्ञान—सम्पूर्णज्ञान) कहे थे; उसमें सगुण और निर्गुण परम भक्तितत्त्व वर्णित है ॥ १० ॥

प्रेम भक्ति आदि कर्मसमूहके द्वारा इस प्रकार भक्ति मुक्तिके क्रमसे समुन्नत (१८ श अध्यायरूप) अठारह सीढ़ी द्वारा क्रमशः चित्तशुद्धि होती है ॥ ११ ॥

गीतारूप जलमें साधुका स्नान संसारमलका नाशक है, श्रद्धाहीन व्यक्तिका वह कार्य हस्तिस्नानके न्याय वृथा है ॥ १२ ॥

गीतायाश्च न जानाति पठनं नैव पाठनम् ।
स एव मानुषे लोके मोघकर्मपरो भवेत् ॥ १३ ॥
यस्माद्गीतां न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ।
धिक् तस्य मानुषं देहं विज्ञानं कुलशीलताम् ॥१४॥
गीतार्थं न विजानाति नाधमस्तत्परो जनः ।
धिक् शरीरं शुभं शीलं विभवन्तद् गृहाश्रमम् ॥१५॥
गीताशास्त्रं न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ।
धिक् प्रारब्धं प्रतिष्ठां च पूजां मानं महत्त्वमम् ॥१६॥

जो गीता पढ़ना और पढ़ाना नहीं जानता है, मनुष्य-लोकमें वह मोघकर्म-परायण होता है ॥ १३ ॥

इसलिये जो आदमी गीताको नहीं जानता है उससे बढ़के कोई अधम नहीं है, उसके मनुष्यदेहको धिक्, विज्ञानको धिक् और कुलशीलको भी धिक् है ॥ १४ ॥

जो आदमी गीताका अर्थ नहीं जानता है उससे बढ़के कोई अधम नहीं है; उसके शरीर, शुभ शीलता, विभव और गृहाश्रमको धिक् है ॥ १५ ॥

जो आदमी गीताशास्त्र नहीं जानता है उससे बढ़के अधम कोई नहीं है, उसकी प्रारब्ध, प्रतिष्ठा, पूजा, मान और महत्त्वको धिक्कार है ॥ १६ ॥

गीताशास्त्रे मतिर्नास्ति सर्वं तन्निस्फलं जगुः ।
धिक् तस्य ज्ञानदातारं व्रतं निष्ठा तपो यशः ॥१७॥

गीतार्थपठनं नास्ति नाधमस्तत्परो जनः ।
गीतागीतं न यज्ज्ञानं तद्विद्ध्यासुरसम्मतम् ॥१८॥

तन्मोघं धर्मरहितं वेदवेदान्तगर्हितम् ।
तस्माद्धर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका ।
सर्वशास्त्रसारभूता विशुद्धा सा विशिष्यते ॥ १९ ॥

गीताशास्त्रमें जिसकी मति नहीं है उसके सब कर्म निष्फल हैं, उसके ज्ञानदाता, व्रत, निष्ठा, तपस्या और यशको धिक्कार है ॥ १७ ॥

जिसका गीतार्थ पठन नहीं है उससे बढ़के अधम और कोई नहीं है। जो ज्ञान गीतामें वर्णित नहीं हैं, उन्हें असुर सम्मत जानना; वे सब व्यर्थ, धर्मरहित और वेद वेदान्तगर्हित हैं। अतएव वह धर्ममयी, सर्वज्ञानप्रदायिनी, सर्वशास्त्रकी सारभूता, विशुद्धा गीता विशिष्टा (प्रशंसाकी योग्या) है ॥ १८ ॥ १९ ॥

योऽधीते विष्णुपर्वाहे गीतां श्रीहरिवासरे ।
स्वपन् जाग्रन् चलंस्तिष्ठन् शत्रुभिर्न स हीयते॥२०॥
शालग्रामशिलायां वा देवागारे शिवालये ।
तीर्थे नद्यां पठेद्गीतां सौभाग्यं लभते ध्रुवम् ॥२१॥
देवकीनन्दनः कृष्णो गीतापाठेन तुष्यति ।
यथा न वेदैर्दानेन यज्ञतीर्थव्रतादिभिः ॥२२॥
गीताधीता च येनापि भक्तिभावेन चेतसा ।
वेदशास्त्रपुराणादि तेनाधीतानि सर्वशः ॥ २३॥

जो मनुष्य विष्णु-पर्वदिन तथा श्रीहरिवासर (एकादशी) में गीता अध्ययन करता है, वह निद्रावस्था, जाग्रदवस्था, चलनावस्था किम्बा स्थितिअवस्थामें शत्रु-गणसे हीनता प्राप्त नहीं होता ॥ २० ॥

शालग्रामशिलाके पास, देवागार, शिवालय तीर्थ-स्थान किम्वा नदीतीरपर गीतापाठ करनेसे निश्चय सौभाग्य लाभ होता है ॥ २१ ॥

देवकीनन्दन श्रीकृष्ण गीतापाठ करनेसे जिस प्रकार तुष्ट होते हैं, वेदपाठ, दान और यज्ञ तीर्थ व्रतादि करनेसे वैसे तुष्ट नहीं होते ॥ २२ ॥

जिन्होंने चित्तको भक्तिभावापन्न करके गीता अध्ययन किया है, उनकी वेद, शास्त्र, पुराणादि समुदय अध्ययनकी क्रिया हो चुकी ॥ २३ ॥

योगस्थाने सिद्धपीठे शिलाग्रे सत्सभासु च ।
यज्ञे च विष्णुभक्ताग्रे पठन् सिद्धिं परां लभेत् ॥२४॥
गीतापाठं च श्रवणं यः करोति दिने दिने ।
क्रतवो वाजिमेधाद्याः कृतास्तेन सदक्षिणाः ॥२५॥
यः शृणोति च गीतार्थं कीर्त्तयत्येव यः परम् ।
श्रावयेच्च परार्थं वै स प्रयाति परं पदम् ॥ २६ ॥
गीतायाः पुस्तकं शुद्धं योऽर्पयत्येव सादरात् ।
विधिना भक्तिभावेन तस्य भार्या प्रिया भवेत् ॥२७॥

योगस्थानमें, सिद्धपीठमें, शिलाके सामने, सत् सभामें, यज्ञस्थलमें और विष्णुभक्तके सम्मुख गीता पाठ करनेसे परासिद्धि लाभ होती है ॥ २४ ॥

जो प्रतिदिन गीता पाठ तथा श्रवण करते हैं, उनकी सदक्षिणा अश्वमेधादियज्ञ अनुष्ठानकी क्रिया होती है ॥ २५ ॥

जो गीतार्थ श्रवण करते हैं, कीर्त्तन करते हैं और दूसरेको गीताका परार्थ श्रवण कराते हैं, वह परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ २६ ॥

विधिपूर्वक, आदरसे और भक्तिभाव से जो गीता की विशुद्ध पुस्तक दान करते हैं, उनकी भार्या प्रिया होती है, वह यश, सौभाग्य और आरोग्य लाभ करते

यशः सौभाग्यमारोग्यं लभते नात्र संशयः ।
दयितानां प्रियो भूत्वा परमं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥
अभिचारोद्भवं दुःखं वरशापागतं च यत् ।
नोपसर्पति तत्रैव यत्र गीतार्च्चनं गृहे ॥ २९ ॥
तापत्रयोद्भवा पीड़ा नैव व्याधिर्भवेत् क्वचित् ।
न शापो नैव पापं च दुर्गतिर्नरकं न च ॥ ३० ॥
विस्फोटकादयो देहे न बाधन्ते कदाचन ।
लभेत् कृष्णपदे दास्यं भक्तिंचाव्यभिचारिणीम् ॥ ३१ ॥

हैं; एवं दयिताओंके प्रिय होकरके परमसुख भोग करते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ २७ ॥ २८ ॥

जिस गृहमें गीताकी अर्चना होती है, वहां अभिचार से उत्पन्न दुःख तथा वरशाप जनित दुःख पहुंचनेही नहीं सकता ॥ २९ ॥

(वहां) तापत्रयोद्भवा पीड़ा और व्याधि कभी होतीही नहीं, शाप नहीं लगता, पाप भी नहीं होता है, दुर्गति और नरक भी नहीं होती है; विस्फोटकादि (फोड़ा) कभी देहमें बाधा (यन्त्रणा) प्रदान नहीं कर सकता; (वह गृहस्थ) श्रीकृष्णके चरणमें दास्य और अव्यभिचारिणी भक्ति लाभ करता है ॥ ३० ॥ ३१ ॥

जायते सततं सख्यं सर्वजीवगणैः सह ।
प्रारब्धं भुञ्जतो वापि गीताभ्यासरतस्य च ।
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते ॥३२॥*

महापापातिपापानि गीताध्यायी करोति चेत् ।
न किञ्चित् स्पृश्यते तस्य नलिनीदलमम्भसा ॥३३॥†

जो प्रारब्ध भोग करते समयमें भी गीताभ्यास में रत रहते हैं, उनसे सर्वदा सर्व जीव गणोंका सख्य होता है; वे मुक्त और सुखी हैं तथा इस जगत्के कर्मोंमें लिप्त नहीं होते ॥ ३२ ॥

गीता अध्ययनकारीको पद्मपत्रके जलके सदृश महापाप अतिपाप भी स्पर्श नहीं कर सकता ॥ ३३ ॥

तथा च वराहपुराणे—

श्रीविष्णुरुवाच ।

* प्रारब्धं भुज्यमानो हि गीताभ्यासरतः सदा ।
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते ॥ २ ॥

† महापापादिपापानि गीताध्यानं करोति चेत् ।
क्वचित् स्पर्शं न कुर्वन्ति नलिनीदलमम्बुवत् ॥ ३ ॥

अनाचारोद्भवं पापं अवाच्यादिकृतं च यत् ।
अभक्ष्यभक्षजं दोषमस्पर्शस्पर्शजं तथा ॥ ३४ ॥
ज्ञानाज्ञानकृतं नित्यमिन्द्रियैर्जनितं च यत् ।
तत्सर्वं नाशमायाति गीतापाठेन तत्क्षणात् ॥३५॥
सर्वत्र प्रतिभुक्त्वा च प्रतिगृह्य च सर्वशः ।
गीतापाठं प्रकुर्वाणो न लिप्येत कदाचन ॥३६॥
रत्नपूर्णां महीं सर्वां प्रतिगृह्याविधानतः ।
गीतापाठेन चैकेन शुद्धस्फटिकवत् सदा ॥३७॥

अनाचार जनित पाप, अवाच्य वाक्य कथनका पाप, अभक्ष्य भक्षण जनित पाप, अस्पृश्य स्पर्श जनित दोष, ज्ञानकृत और अज्ञानकृत दोष और नित्य इन्द्रिय समूह से जो उत्पन्न होते हैं वे समस्त दोष गीता पाठ मात्र से उसीक्षण नाश प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥ ३५ ॥

सर्वत्र भोजन करके और सर्व प्रकार से प्रतिग्रह करके भी गीतापाठकारी कभी लिप्त नहीं होते ॥ ३६ ॥

रत्नपूर्णा समग्र पृथिवी अविधानतः प्रतिग्रह (अन्याय पूर्वक ग्रहण) करके भी एक मात्र गीतापाठसे ही शुद्ध स्फटिक सदृश निर्मल रहते हैं ॥ ३७ ॥

यस्यान्तःकरणं नित्यं गीतायां रमते सदा ।
स साग्निकः सदा जापी क्रियावान् स च पण्डितः॥३८॥
दर्शनीयः स धनवान् स योगी ज्ञानवानपि ।
स एव याज्ञिको याजी सर्ववेदार्थदर्शकः ॥३९॥
गीतायाः पुस्तकं यत्र नित्यपाठश्च वर्त्तते ।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि भूतले ॥४०॥*
निवसन्ति सदा देहे देहशेषेऽपि सर्वदा ।
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनो देहरक्षकाः ॥४१॥*

जिसका अन्तःकरण प्रत्यह सर्वदा गीतामें रत रहता है, वही साग्निक, सदा जापक, क्रियावान् और पण्डित है; वही दर्शनीय और धनवान्, योगी और ज्ञानवान् है, वही याज्ञिक, याजक और सर्व वेदार्थदर्शक है ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

जिस स्थानमें गीता की पुस्तक रहती है और नित्य पाठ होता है, भूतलके उसी स्थानमें ही प्रयागादि समुदय तीर्थ वर्त्तमान रहते हैं; (गीताध्यायीके) देहमें सदासर्वदा

---

* गीतायाः पुस्तकं यत्र यत्र पाठः प्रवर्त्तते ।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि तत्र वै ।
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये ॥ ४ ॥

गोपालो बालकृष्णोऽपि नारदध्रुवपार्श्वदैः ।
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्त्तते ॥४२॥*
यत्र गीता विचारश्च पठनं पाठनं तथा ।
मोदते तत्र श्रीकृष्णो भगवान् राधिकासह॥४३॥†

श्रीभगवानुवाच ।

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम् ।
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं गीता मे ज्ञानमव्ययम् ॥ ४४ ॥

देहरक्षक समुदय देवगण ऋषिगण और योगिगण देह शेष में भी वास करते हैं ॥ ४० ॥ ४१ ॥

जहां गीता प्रवर्त्तित (नियमित रूपसे पाठ) होता है, वहां बालकृष्ण गोपाल नारद और ध्रुव प्रभृति पार्श्वद गणके साथ शीघ्र सहाय होते हैं ॥ ४२ ॥

जहां गीताका विचार और पठन पाठन होता है, वहां भगवान् श्रीकृष्ण राधिकाके साथ आनन्दसे विराजते हैं ॥ ४३ ॥

---

* गोपालो गोपिका वापि नारदोद्धवपार्श्वदैः ।
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्त्तते ॥ ५ ॥

† यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं श्रुतम् ।
तत्राहं निश्चितं पृथ्वि निवसामि सदैव हि ॥ ६ ॥

गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं पदम् ।
गीता मे परमं गुह्यं गीता मे परमो गुरुः ॥ ४५ ॥
गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे परमं गृहम् ।
गीताज्ञानं समाश्रित्य त्रिलोकीं पालयाम्यहम् ॥४६॥ *
गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः ।
अर्द्धमात्रा परा नित्यमनिर्वाच्यपदात्मिका ॥ ४७ ॥ †

श्रीभगवान कहे हैं । हे पार्थ ! गीता मेरा हृदय, गीता मेरा उत्तम सार, गीता मेरा अत्युग्र ज्ञान, और गीता मेरा अव्यय ज्ञान हैं ॥ ४४

गीता मेरा उत्तम स्थान गीता मेरा परम पद, गीता मेरा परम गुह्य, गीता मेरा परम गुरु है ॥ ४५ ॥

मैं गीताके आश्रयमें रहता हूं, गीता मेरा परम गृह है; मैं गीता ज्ञानका सभ्यक् आश्रय करके त्रिलोक पालन करता हूं ॥ ४६ ॥

गीता मेरी ब्रह्मरूपा परमा विद्या है इसमें संशय

---

* गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम् ।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहं ॥ ७ ॥

† गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः ।
अर्द्धमात्राक्षरा नित्या सानिर्वाच्यपदात्मिका ॥ ८॥

गीतानामानि वक्ष्यामि गुह्यानि शृणु पाण्डव ।
कीर्त्तनात् सर्वपापानि विलयं यान्ति तत्क्षणात् ॥४८॥
गङ्गा गीता च सावित्री सीता सत्या पतिव्रता ।
ब्रह्मावलिर्ब्रह्मविद्या त्रिसन्ध्या मुक्तिगेहिनी ॥४९॥
अर्द्धमात्रा चिता नन्दा भवघ्नी भ्रान्तिनाशिनी ।
वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी ॥५०॥ *

नहीं है । गीता मेरी अर्द्धमात्रा, परा और नित्य अनिर्वाच्य-पद स्वरूपिणी है ॥ ४७ ॥

हे पाण्डव ! गीताके सकल गुह्य नाम कहता हूं श्रवण करो, जिसको कीर्त्तन करनेसे समुदय पाप उसी क्षण नाश हो जाते हैं ॥ ४८ ॥

गङ्गा, गीता, सावित्री, सीता, सत्या पतिव्रता, ब्रह्मावलि, ब्रह्मविद्या, त्रिसन्ध्या, मुक्तिगेहिनी ॥ ४९ ॥

अर्द्धमात्रा, चिता, नन्दा, भवघ्नी, भ्रान्तिनाशिनी, वेदत्रयी, परानन्दा, तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी—जो व्यक्ति निश्चल-मनसे यह सब नाम नित्य जपते हैं, वे नित्य ज्ञानसिद्धि

---

* चिदानन्देन कृष्णेन प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम् ।
वेदत्रयी परा नन्दा तत्त्वार्थज्ञानसंयुता ॥ ९ ॥

इत्येतानि जपेन्नित्यं नरो निश्चलमानसः ।
ज्ञानसिद्धिं लभेन्नित्यं तथान्ते परमं पदम् ॥ ५१ ॥ *
पाठेऽसमर्थः सम्पूर्णे तदर्द्धं पाठमाचरेत् ।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥ ५२ ॥ †
त्रिभागं पठमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ।
षड़ंशं जपमानस्तु गङ्गास्नानफलं लभेत् ॥ ५३ ॥ ‡

लाभ करते हैं और अन्तमें परम पदको प्राप्त होते हैं ॥ ५० ॥ ५१ ॥

यदि सम्पूर्ण पाठ करनेमें असमर्थ व्यक्तिगण गीता का आधा पाठ करें तो वे निःसंशय गोदानज पुण्य लाभ करेंगे इसमें संशय नहीं है ॥ ५२ ॥

त्रिभाग पाठकारी सोमयागका फल पाते हैं और षड़ंश जपकारी गङ्गास्नानका फललाभ करते हैं ॥ ५३ ॥

---

* योऽष्टादशजपो नित्यं नरो निश्चलमानसः ।
ज्ञानसिद्धिं स लभते ततो याति परं पदम् ॥ १० ॥

† पाठेऽसमर्थः सम्पूर्णे ततोऽर्द्धं पाठमाचरेत् ।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥ ११ ॥

‡ त्रिभागं पठमानस्तु गङ्गास्नानफलं लभेत् ।
षडंशं जपमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ॥ १२ ॥

तथाध्यायद्वयं नित्यं पठमानो निरन्तरम् ।
इन्द्रलोकमवाप्नोति कल्पमेकं वसेत् ध्रुवम् ॥ ५४॥
एकमध्यायकं नित्यं पठते भक्तिसंयुतः ।
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम्॥५५॥ *
अध्यायार्द्धं च पादं वा नित्यं यः पठते जनः ।
प्राप्नोति रविलोकं स मन्वन्तरसमाः शतम् ॥५६॥ †
गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पञ्च चतुष्टयम् ।

नित्य निरन्तर दो अध्यायपाठकारी इन्द्रलोकको प्राप्त होता है और वहां निश्चितरूपसे एक कल्प वास करता है॥५४॥

जो भक्तियुक्त हो करके नित्य एक अध्याय पाठ करते हैं, वे रुद्रलोक प्राप्त होकर गण होके दीर्घ काल तक वहां वास करते हैं ॥ ५५ ॥

जो लोग नित्य एक अध्याय का आधा वा चतुर्थांश पाठ करते हैं वे लोग रविलोक को प्राप्त करके शत मन्वन्तर तक वहां रहते हैं ॥ ५६ ॥

---

* एकाध्यायं तु यो नित्यं पठते भक्तिसंयुतः ।
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥ १३ ॥

† अध्यायं श्लोकपादं वा नित्यं यः पठते नरः ।
स याति नरतां यावन्मन्वन्तरं वसुन्धरे ॥ १४ ॥

त्रिद्व्येकमेकमर्द्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः ।
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतन्तथा ॥ ५७ ॥ *
गीतार्थमेकपादं च श्लोकमध्यायमेव च ।
स्मरंस्त्यक्त्वा जनो देहं प्रयाति परमं पदम् ॥ ५८ ॥†
गीतार्थमपि पाठं वा शृणुयादन्तकालतः ।
महापातकयुक्तोऽपि मुक्तिभागी भवेज्जनः ॥ ५९ ॥

जो नर गीताका दस, सात, पाँच, चार, तीन, दो, एक अथवा आधा श्लोक भी पाठ करते हैं वे अयुत वर्ष धरके चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं ॥ ५७ ॥

जो गीतार्थका एकपाद, एक श्लोक किम्बा एक अध्याय का स्मरण करते करते देह त्याग करते हैं वे परम पदको प्राप्त होते हैं ॥ ५८ ॥

यदि कोई मनुष्य महापातक युक्त होकरके भी अन्तकालमें गीतार्थ पाठ वा श्रवण करे तो वह मुक्त हो जाता है ॥ ५९ ॥

---

* गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पञ्च चतुष्टयम् ।
द्वौ त्रीणेकं तदर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः ।
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं ध्रुवम् ॥ १५ ॥

† गीतार्थं ध्यायते नित्यं कृत्वा कर्माणि भूरिशः ।
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयो देहान्ते परमं पदम् ॥ १९ ॥

गीतापुस्तकसंयुक्तः प्राणांस्त्यक्त्वा प्रयाति यः ।
वैकुण्ठं समवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ ६० ॥*
गीताध्यायसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ।
गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् ॥ ६१ ॥†
गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ।‡
यद्यत् कर्म च सर्वत्र गीतापाठप्रकीर्त्तितम् ।
तत्तत्कर्म च निर्दोषं भूत्वा पूर्णत्वमाप्नुयात् ॥ ६२ ॥

जो मनुष्य गीता पुस्तक संयुक्त होकर प्राणत्याग करते हैं वे वैकुण्ठको प्राप्त होकर श्रीविष्णुके साथ आनन्द भोग करते हैं ।। ६० ॥

गीताका अध्याय मात्र युक्त होनेसे मृत व्यक्ति मनुष्यत्व प्राप्त होते हैं और पुनराय गीताभ्यास करके उत्तम मुक्ति लाभ करते हैं ॥ ६१ ॥

जो मृत्युकालमें "गीता" यह शब्द उच्चारण करते

---

* गीतार्थ श्रवणासक्तो महापापयुतोऽपि वा ।
वैकुण्ठं समवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ १८ ॥
† गीतापाठसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ।
गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् ॥ १६ ॥
‡ गीतेत्युच्चार संयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ॥ १७ ॥

पितॄनुद्दिश्य यः श्राद्धे गीतापाठं करोति हि ।
सन्तुष्टाः पितरस्तस्य निरयाद् यान्ति स्वर्गतिम् ॥६३॥
गीतापाठेन सन्तुष्टाः पितरः श्राद्धतर्पिताः ।
पितृलोकं प्रयान्त्येव पुत्राशीर्वादतत्पराः ॥ ६४ ॥
गीतापुस्तकदानं च धेनुपुच्छसमन्वितम् ।
कृत्वा च तद्दिने सम्यक् कृतार्थो जायते जनः ॥६५॥
पुस्तकं हेमसंयुक्तं गीतायाः प्रकरोति यः ।
दत्त्वा विप्राय विदुषे जायते न पुनर्भवम् ॥ ६६ ॥

हैं; उनकी गति होती है; सर्वत्र जो जो कर्म करते समय गीताका पाठ किया जाय, वे सब कर्म निर्दोष होके पूर्णत्वको प्राप्त होते हैं ॥ ६२ ॥

जो पितृगणके उद्देशसे श्राद्धमें गीता पाठ करते हैं, उनके सन्तुष्ट पितृगण निःसन्देह नरकसे स्वर्गको प्राप्त होते हैं ॥ ६३ ॥

श्राद्ध तर्पण कृत पितृगण गीतापाठसे सन्तुष्ट होके पुत्रको आशीर्वाद करते करते पितृलोकमें गमन करते हैं ॥ ६४ ॥

श्राद्ध दिनमें धेनुपुच्छ सहित गीता पुस्तक दान करके कृतीजन सम्यक्रूपसे कृतार्थ होते हैं ॥ ६५ ॥

शतपुस्तकदानं च गीतायाः प्रकरोति यः ।
स याति ब्रह्मसदनं पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥ ६७ ॥
गीतादानप्रभावेन सप्तकल्पमिताः समाः ।
विष्णुलोकमवाप्यान्ते विष्णुना सह मोदते ॥६८॥
सम्यक् श्रुत्वा च गीतार्थं पुस्तकं यः प्रदापयेत् ।
तस्मै प्रीतः श्रीभगवान् ददाति मानसेप्सितम् ॥६९॥
देहं मानुषमाश्रित्य चातुर्वर्णेषु भारत ।
न शृणोति न पठति गीतामृतस्वरूपिणीम् ॥

जो मनुष्य गीता की पुस्तक हेम संयुक्त करके विद्वान विप्रको दान करते हैं उनको पुनराय संसारमें जन्मग्रहण करना नहीं पड़ता ॥ ६६ ॥

जो गीता की शत पुस्तक दान करते हैं वह ब्रह्मलोकमें गमन करते हैं, वहांसे उनको पुनरावृत्ति नहीं होती ॥ ६७ ॥

गीता दानके प्रभावसे अन्तकालमें सप्त कल्प परिमित वत्सर विष्णुलोक प्राप्त होकर श्रीविष्णुके साथ आनन्द उपभोग करते हैं ॥ ६८ ॥

गीतार्थ सम्यक् श्रवण करके जो पुस्तक दान करते

हस्तात्त्यक्त्वामृतं प्राप्तं स नरो विषमश्नुते ॥७०॥
जनः संसारदुःखार्त्तो गीताज्ञानं समालभेत् ।
पीत्वा गीतामृतं लोके लब्ध्वा भक्तिं सुखी भवेत्॥७१॥
गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ।
निर्धूतकल्मषा लोके गतास्ते परमं पदम् ॥७२॥*

हैं, श्रीभगवान प्रसन्न होके उनको मानसेप्सित (वांछितार्थ) फल देते हैं ॥ ६९ ॥

हे भारत ! चातुर्वर्णके भीतर मनुष्यदेह धारण करके जो लोग अमृतरूपिणी गीता श्रवण नहीं करते हैं, पाठ भी नहीं करते हैं, वे प्राप्त अमृत हाथसे फेंकके विषभोजन करते हैं ॥ ७० ॥

संसार दुःखसे पीड़ित जनको सम्यक् रूपसे गीता ज्ञान लाभ करना उचित है, इससे वह गीतामृत पानकर भक्ति लाभ करके जगत्में सुखी होंगे ॥ ७१ ॥

जनकादि बहु राजा लोग गीताका आश्रय करके जगत् में निष्पाप हुए थे; वे लोग परमपदको प्राप्त हुए हैं ॥ ७२ ॥

---

* गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ।
निर्धुतकल्मषा लोके गीता याताः परं पदम् ॥ २० ॥

गीतासु न विशेषोऽस्ति जनेषूच्चारकेषु च ।
ज्ञानेष्वेव समग्रेषु समा ब्रह्मस्वरूपिणी ॥ ७२ ॥
योऽभिमानेन गर्वेण गीतानिन्दां करोति च ।
समेति नरकं घोरं यावदाहूतसंप्लवम् ॥ ७४ ॥
अहंकारेण मूढ़ात्मा गीतार्थं नैव मन्यते ।
कुम्भीपाकेषु पच्येत यावत् कल्पक्षयो भवेत् ॥७५॥
गीतार्थं वाच्यमानं यो न शृणोति समीपतः ।
स शूकरभवां योनिमनेकामधिगच्छति ॥ ७६ ॥

गीता उच्चारण करनेमें मनुष्यके भीतर कोई भेदाभेद नहीं है; कारण कि समग्र ज्ञानमें गीताही समा है, गीता ब्रह्मस्वरूपिणी है ॥ ७३ ॥

जो लोग अभिमानसे वा गर्वके वश गीताकी निन्दा करते हैं वे प्रलय काल तक घोर नरकमें जाते हैं ॥ ७४॥

जो मूढ़ात्मा अहंकारके वश गीतार्थका मान्य नहीं करता है, वह कल्पक्षय पर्यन्त कुम्भीपाकमें पचता है ॥७५॥

गीतार्थ कथित होनेके समय निकटमें रह करके भी जो श्रवण नहीं करता है वह अनेक वार शूकरयोनिको प्राप्त होता है ॥ ७६ ॥

चौर्य्यं कृत्वा च गीतायाः पुस्तकं यः समानयेत् ।
न तस्य सफलं किंचित् पठनं च वृथा भवेत् ॥७७॥
यः श्रुत्वा नैव गीतार्थं मोदते परमार्थतः ।
नैव तस्य फलं लोके प्रमत्तस्य यथा श्रमः ॥७८॥
गीतां श्रुत्वा हिरण्यं च भोज्यं पट्टाम्बरं तथा ।
निवेदयेत् प्रदानार्थं प्रीतये परमात्मनः ॥ ७९ ॥
वाचकं पूजयेद्भक्त्या द्रव्यवस्त्राद्युपस्करैः ।
अनेकैर्बहुधा प्रीत्या तुष्यतां भगवान् हरिः ॥८०॥

जो गीताकी पुस्तक चोरी करता है उसको कुछ सफल नहीं होता और उसका पाठ भी वृथा होता है ॥७७॥

जो गीतार्थ श्रवण करके परमार्थतः आनन्दित नहीं होता, जगत्में प्रमत्तके परिश्रमके सदृश उसको कुछ फल नहीं मिलता ॥ ७८ ॥

गीतार्थ श्रवण करके परमात्माकी प्रीतिके निमित्त सुवर्ण, भोज्य द्रव्य और पट्ट वस्त्र प्रदानके लिये निवेदन करना चाहिये ॥ ७९ ॥

वाचककी अनेक द्रव्य, वस्त्र प्रभृतिसे भक्तिपूर्वक अनेक प्रकारसे पूजा करनी चाहिये; इससे भगवान हरि प्रीतिसे सन्तुष्ट होते हैं ॥ ८० ॥

सूत उवाच ।

माहात्म्यमेतद्गीतायाः कृष्णप्रोक्तं पुरातनम् ।
गीतान्ते पठते यस्तु यथोक्तफलभाग्भवेत्॥८१॥*
गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ।
वृथा पाठफलं तस्य श्रम एव उदाहृतः ॥ ८२ ॥ †
एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीतापाठं करोति यः ।
श्रद्धया यः शृणोत्येव परमां गतिमाप्नुयात् ॥८३॥ ‡

सूत कहते हैं । गीताका इस श्रीकृष्ण द्वारा कथित पुरातन माहात्म्य को जो गीतान्तमें पाठ करते हैं वे यथोक्त फलभागी होते हैं ॥ ८१ ॥

* सूत उवाच
माहात्म्यमेतद्गीताया मया प्रोक्तं सनातनम् ।
गीतान्ते च पठेत् यस्तु यदुक्तं तत्फलं लभेत् ॥ २३ ॥

† गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ।
वृथा पाठो भवेत्तस्य श्रम एव ह्युदाहृतः ॥ २१ ॥

‡ एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीताभ्यासं करोति यः ।
स तत्फलमवाप्नोति दुर्लभां गतिमाप्नुयात् ॥ २२ ॥

इति श्रीवराहपुराणे श्रीगीतामाहात्म्यं सम्पूर्णम् ॥

श्रुत्वा गीतामर्थयुक्तां माहात्म्यं यः शृणोति च ।
तस्य पुण्यफलं लोके भवेत् सर्वसुखावहम् ॥ ८४ ॥

इति श्रीवैष्णवीयतन्त्रसारे श्रीमद्भगवद्गीता-
माहात्म्यं समाप्तम् ।

गीतापाठ करके जो माहात्म्यका पाठ नहीं करते उनका पाठफल वृथा श्रममात्र है ॥ ८२ ॥

जो इस माहात्म्य संयुक्त गीताका पाठ करते हैं और जो श्रद्धापूर्वक श्रवण करते हैं वह परमा गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ८२ ॥

जो अर्थयुक्त गीता श्रवण करके माहात्म्य भी श्रवण करते हैं जगत्में उन्हें सर्व सुखावह पुण्यफल लाभ होता है ॥ ८४ ॥

वैष्णवीय तन्त्रसारोक्त गीतामाहात्म्य समाप्त ।

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान्।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः॥
गीताध्ययन शीलस्य प्राणायामपरस्य च।
नैव सन्ति हि पापानि पुनर्जन्मकृतानि च॥
मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम्॥
गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।
भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम्।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥
एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतं एको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

इति श्रीमद्भगवतद्गीतामाहात्म्यं समाप्तम्।

ॐ तत् सत्।

श्री कृष्णायार्पणमस्तु।

समाप्तेयं गीता माहात्म्यसहिता
काशीस्थ प्रणवाश्रम-
व्याख्यायुता।

Printed by B. Ganga Prasad Gupta, at his Art Printing Works, Benares City.

H. B. P. आमाको चस्मा ~~पडने~~.

पडने - + १.५० (१) = १.७५ (२) = २... (३) धन.

टाडा हेरने. —

रीन.

मू० २००/-